

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182671

UNIVERSAL
LIBRARY

देश-विदेश में मनोरंजन

मन्मथ राय

राजिब मदन (प्राइवेट) लिमिटेड
इलाहाबाद

OUP—68—11-1-68—2,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. **H 700**
R 88D

Accession No. **H 3470**

Author **राय , मन्मथ .**

Title **देश विदेश में मनोरंजन .. 1956 .**

This book should be returned on or before the date
last marked below.

प्रथम संस्करण : १९५६ ईसवी

चार रुपया

मुद्रक : रामआसरे कक्कड़, हिन्दी साहित्य प्रेस, इलाहाबाद

समर्पण

‘स्वतंत्र भारत’ लखनऊ के भूतपूर्व साहित्य-सम्पादक
और मेरे प्रिय विद्यार्थी स्व० बलदेव मिश्र
की पुण्य स्मृति में

भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक को “प्राचीन भारतीय मनोरंजन” का परिपूरक समझिये। अतः लंबी भूमिका लिख कर पाठकों के धैर्य की परीक्षा लेने की इच्छा बिल्कुल नहीं थी। फिर भी प्रारम्भ में इसकी विशिष्टताओं को उनके आगे रखना अनुचित न होगा—इसी विचार से भूमिका लिखी जा रही है।

प्राचीन काल में जीवन-यात्रा-पद्धति में आज जैसी जटिलता नहीं आ गयी थी। न तो आबादी घनी थी, न उनकी कृत्रिम माँगे ही बहुत थीं और न औद्योगीकरण का ही नारा लगाया जाता था। अतः उन दिनों सभी देशों के निवासियों के पास अवकाश की प्रचुरता थी। वे इस समय को मनमाने ढंग से व्यतीत करते थे। प्रकृति के संवेगी होने के कारण काम-धन्ये से छुट्टी मिलते ही वे आनन्द मनाने में इतने मस्त हो जाते थे कि यदि उस समय उनके पैरों के नीचे से धरती धँस जाती, तो भी वे उसकी परवाह न करते! प्राचीन काल के अंतिम पाद में दक्षिणी यूरोप के आर-पार जोर शोर के साथ संन्यासी आन्दोलन की लहर दौड़ पड़ी। इसके कारण मध्य-काल के प्रारंभ में जनता की रुचि क्रमशः भोग-विलास से हट कर दिखावटी तौर से धार्मिकता की ओर ढली। इन दिनों यद्यपि पाखंड, ढोंग और दुराचार की कमी न थी, फिर भी प्रकाश्य रूप से लोग आनन्द मनाने से झिझकते थे। यहाँ तक कि बच्चों के खेल कूद पर भी रोक-थाम की जाती थी। उन दिनों लोगों की ऐसी धारणा हो गयी थी कि ‘बचपन के खिलाड़ी बूढ़े हो जाने पर भी खेलते ही रहेंगे’। आधुनिक काल में जीवन-यात्रा-पद्धति में जटिलता आ जाने के कारण बचकाने खेल-कूद को शिक्षा की आधार-शिला बनाने की चेष्टा हो रही है, तथा कारखानों में काम करने वाले श्रमिकों के कार्य में जो एकरूपता है, उसे तोड़-फोड़ कर कुछ सरस बनाने

का प्रबंध किया जा रहा है। उद्देश्य स्पष्ट है। खेल-कूद की महाँक मिलने पर बच्चे मन लगा कर पढ़ें-लिखेंगे और एकरूपता का भूत हट जाने से श्रमिक मन लगा कर काम-धन्धा करते रहेंगे जिससे उत्पादन की वृद्धि होगी।

प्रसंगतः असीरिया-बेबीलोनिया; मिस्र, ईरान, चीन, यूनान, रोम आदि की प्राचीन पृथिवी की जितनी भी सम्य जातियाँ हो चुकीं उनके मनोरंजन के साधनों का दिग्दर्शन कराया गया है। किन्तु उसके पहले उन-उन जातियों के राजनीतिक और सामाजिक इतिहास का संक्षिप्त विवरण इस विचार से दिया गया है, क्योंकि वे अन्योन्याश्रय है। वे एक दूसरे पर बिलकुल निर्भर हैं। प्रायः देखा जाता है कि राजनीति के क्षेत्र में जब भी किसी जाति ने प्रगति की, उसका प्रभाव तत्काल उस जाति के सदस्यों की रहन-सहन, खान-पान, उत्सव-मेले और आमोद-प्रमोद के क्रम पर पड़ता है। उसी प्रकार अवनति के दिनों उसकी छाप जाति की दूषित रंगरलियों में दिखायी देती है। किन्तु क्षोभ का विषय है कि सामग्री की कमी के कारण प्रस्तुत व्यौरे से स्यात् ही पाठकों का मन भरे ! किन्तु इसके लिए लाचारी है !

लिंग-पूजन के इतिहास के संपर्क में ऐसा लगता है कि पाश्चात्य देशों में प्रचलित कोई कोई रीति, हमारे देश के तांत्रिक साहित्य में दिये हुए विधि-विधानों से थोड़ी-बहुत मिलती जुलती है। किन्तु सामग्री की कमी के कारण निश्चय पूर्वक कहना बड़ा कठिन है कि किसने किससे उन्हें अपनाया था।

यथावसर भारतीय आदर्श के साथ प्राचीन पृथ्वी की तथाकथित सम्य जातियों की रीति-नीति, धारणा और विश्वासों का तुलनात्मक अध्ययन भी किया गया है।

अन्त में प्रश्न यह उठता है कि मनोरंजन के कौन से साधन भले हैं—प्राचीन अथवा अर्वाचीन ? एक शब्द में इस प्रश्न का उत्तर देना संभव नहीं। न इसकी चेष्टा ही की गयी है। फिर भी जब हम प्राचीन जातियों को मारे उल्लास के विभोर होकर खुशियाँ मनाते देखते हैं, तब

“तन-छीन, मन-मलिन” हमारे थके-हारे मन में स्वभावतः जलन उत्पन्न होती है। मन ही मन हम उनकी तरह अपने को भूल कर आनन्द की हिलोरी में लहराने के लिए तरसने लगते हैं। किन्तु जब हम इस प्रकार के अनियंत्रित और निर्बाध आनन्द के परिणामों पर विचार करते हैं, तब स्वभावतः मारे डर के हम सहमने लगते हैं। उधर आधुनिक काल के मनोविनोद के साधनों के साथ जो पुछल्ला जोड़ा गया है, आपात दृष्टि से वह अखरने लगता है। मनोरंजन के साधन के साथ यदि उद्देश्य जोड़ा जाय, तब तो सब कुछ चौपट हुआ ! अतः उद्देश्य चाहे कितना ही महान क्यों न हो उसे दबा रखना चाहिए और उसे कदापि उभर कर सामने न आने देना चाहिए।

चाहे कुछ हो- इतनी बात तो ठीक है कि सृष्टि के आदि-काल से मानव जाति ने जीवन को परिपूर्ण और सार्थक बनने की भरपूर चेष्टा की है। समय समय पर भिन्न-भिन्न देशों में इसकी अलग-अलग व्याख्या की गयी है और भिन्न-भिन्न मान ठहराया गया है। फिर भी उद्देश्य में हेर-फेर नहीं हुआ। तो इस लोकतंत्र के युग में जीवन का उपभोग करने के लिए हमें कूप-मंढूकों की तरह बरतना नहीं चाहिए। हमें मिलनसार बनना है और सर्वोपरि आधुनिक काल के वैज्ञानिक आविष्कारों की कृपा से जब स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध सभी को अधिक से अधिक अवकाश मिलने लगा है, तब हमें उस फलतू समय का सदुपयोग करना चाहिए। इसके लिए रुचि को बहुमुखी बनाने की आवश्यकता है जिससे मनोविनोद का जो भी साधन हमारे आगे प्रस्तुत क्यों न किया जाय, हम उसका रस ले सकें। जब तक हममें यह सामर्थ्य न होगा, तब तक हम जीवन को सार्थक कैसे बना सकते हैं ? उसका उपयोग कैसे कर सकते हैं ?

नवंबर २०, १९५५ }
 ६१६७, हरिश्चन्द्र रोड,
 बनारस।

ग्रंथकार

विषय-सूची

१. काम-धंधा और मनोरंजन के साधनों का समीकरण : काम-धंधे और आमोद-प्रमोद का पारस्परिक सम्बन्ध ; प्राचीन यूनान की शिक्षा-पद्धति ; प्राचीन भारत की शिक्षा पद्धति मध्यकाल की शिक्षा-पद्धति ; मरुभूमि की पुकार : ईसा तपस्वी ; संन्यासी आंदोलन का पश्चात्य समाज पर प्रभाव ; आधुनिक काल का सिद्धान्त ; लोक-शिक्षा ; लगन ; आधुनिक काल की प्रारंभिक शिक्षा-पद्धति ; किंडर गार्टन पद्धति ; मॉन्टेसोरी पद्धति ; डाल्टन प्रणाली ; उद्योग-धंधा संबन्धी मनोविज्ञान ; श्रमिकों को उद्यमी बनाने के उपाय ; प्रेरणा का महत्व ; सेवकों में प्रेरणा भरने की कला ; अवकाश के समय का उपयोग ; सारांश—१-६७

२. प्राचीन पृथ्वी सभ्य जातियों के मनोविनोद के साधन : अवकाश के समय का दुरुपयोग ; बेबीलोनिया और असीरिया ; सुमेर ; बेबीलोनिया ; असीरिया ; सम्मु-रम्मत ; हामुरवि का विधि-शास्त्र ; गिलगामेश महाकाव्य ; विवाह की हाट ; ज्योतिष ; लटकती हुई वाटिका ; शिकार ; पशुओं के साथ युद्ध ; पुस्तकालय ; अग्नि महोत्सव ; धर्म ; लिंग पूजन की प्रथा ; उसका व्यापकता ; शक्ति उपासना की व्यापकता ; बेबीलोन और असीरिया की कुछ देव-देवियाँ ; ई-सेगिला ; प्रयोगात्मक अनुष्ठान ; नव वर्ष का महोत्सव ; अकितु उत्सव ; आरमीनिया ; फिनीशिया ; साइप्रस् ; कारथेज स्याम ; फिलीस्तीन ; मोलक ; बाल पियोर ; एमेजोनिया-लीडियाँ ; ईरान ; मोड्स ; उत्सवादि ; मनोरंजन के साधन ; सुरापान ; जुआ ; आखेट ; गीत-वाद्य ; खेल-कूद ;

किस्से-कहानी ; जशन और जलसे ; मित्र ; साम्राज्यवाद काल की सामाजिक दशा ; पूजनादि ; जन-यात्रा ; उत्सव ; मनो-विनोद के साधन ; जादू-टोना ; चित्रकारी ; राजसी मनोरंजन ; नौका-विहार ; साँझों की लड़ाई ; नृत्य ; कुश्ती ; जुआ ; पान सभा ; आखेट ; चीन ; चऊ वंश (ईसा पूर्व ११२२-२५५) ; कॉनफूशियस् ; ताओ वाद ; चीन वंश (ईसा पूर्व २५५-२०६) ; हानराज वंश (ईसा पूर्व २०७-२२० ई०) ; नैतिक दशा ; पूर्वी हान वंश (२५-२२० ई०) ; उत्सवादि ; आखेट ; नृत्य ; गेंद ; फूल तोड़ना ; तुकबंदी की प्रतियोगिता ; लक्ष्य-वेध की प्रतियोगिता ; डींग हाँकने की प्रतियोगिता ; फूलों का युद्ध ; रथों की दौड़ ; बाजीगर ; शतरंज ; नाट्यशाला ; चित्रकारी ; सुरापान ; यूनान ; पंथ ; रहस्य-पूजन इत्यादि ; मनोरंजन के साधन ; प्राचीन रोम ; उत्सव और मेले ; अस्वाभाविक-रति ;
 मंतव्य—६८-२४४ ।

३. अवकाश के समय का सदुपयोग—२४५-२५४



काम-धंधा और मनोरंजन के साधनों का समीकरण

काम-धंधे और आमोद-प्रमोद का पारस्परिक सम्बन्ध—

जीवित रहने की कला एकात्मक है। वह खंडों में बाँटी नहीं जा सकती। प्राण धारण करने के लिए कस कर काम करने के साथ-साथ दम लेने की भी आवश्यकता होती है। थकावट दूर न कर जो मनुष्य निरंतर काम काज करने में लगा रहता है, वह शीघ्र ही बीमार पड़ता है। इसी प्रकार जो मनुष्य काम-धंधा न कर सदैव चैन की बांसुरी बजाता फिरता है, वह कुछ ही दिनों में अघा जाता है। “वास्तव जीवन में छुट्टी मनाने की कला; और काम-धंधा करने की कला; थकावट मिटाने की कला और परिश्रम करने की कला; शरीर संबंधित कला और चित्त-वृत्ति विषयक कला; अथवा विश्राम की कला और शिक्षा प्राप्त करने की कला में कोई अंतर नहीं। अनवद्यता और परिपूर्णता को अपनाने की उत्कट अभिलाषा से प्रेरित हो, जब आमोद-प्रमोद अनजाने काम-धंधे के साथ बुन जाता है; विराम जब परिश्रम के साथ मिल-मिलाकर एक हो जाता है; शरीर जब मन का सहधर्मी बन जाता है तथा मनोरंजन जब परोक्ष रीति से शिक्षा का साधन बन जाता है, तभी जीवन धारण कला में परिणत होता है।”

प्राण धारण करने की कला में कुशल व्यक्ति काम-काज और आमोद-प्रमोद, परिश्रम और विराम, शरीर और मन, शिक्षा और विश्राम में कोई अंतर नहीं मानता। खेलते-कूदते अनायास वह अपने काम-धंधे को आगे बढ़ाता है, परिश्रम करते हुए वह विश्राम करने का मजा चखता है, शरीर को पुष्ट करते हुए वह मानसिक शक्ति की अभिवृद्धि करता है, तथा शिक्षा

प्राप्त करते समय परोक्ष प्रकार से वह आनंद का भंडार लूटता रहता है। इस प्रकार दोनों काम वह साथ ही साथ निबटता जाता है। ऐसी शिक्षा-पद्धति, जो विराम के आनंद से बिछुड़ी हो, अथवा मनोविनोद का ऐसा साधन, जो शिक्षा-प्रद न हो—किस काम का ? इससे शेखचिल्ली के महल का निर्माण हो सकता है, परन्तु परिपूर्ण मानव कदाचित् ही निर्मित होता है !

प्राचीन यूनान की शिक्षा-पद्धति—

मानव जीवन को परिपूर्ण बनाने के लिए मनोविनोद के साधनों को परोक्ष प्रकार से शिक्षा-पद्धति का माध्यम बनाने की आवश्यकता है। बचपन ही से बच्चे के शरीर और मन दोनों की पुष्टि के लिए यथोचित शिक्षा देनी चाहिए। प्राचीन काल में यूनानियों ने इसकी आवश्यकता को हृदयंगम किया था। उसका परिणाम भी संतोषप्रद हुआ था। उन दिनों के प्रख्यात विधायक, स्पार्टा के लाइकरगस् ने अपनी मातृभूमि की सारी उलझनों को दूर करने के लिए शासन-संविधान की रचना करने के साथ-साथ उसके अधःखिले नागरिकों की शिक्षा प्रणाली की भी योजना बनायी थी।

नागरिकों के घर में नवीन अतिथि का आगमन होते ही, बच्चे को सरकार की ओर से नियत किये हुए बड़े बूढ़ों के आगे प्रस्तुत करना पड़ता था। यदि बच्चा कमजोर वा विकलांग होता तो वह तेजिटस् पहाड़ पर निर्वासित कर दिया जाता था, क्योंकि ऐसे बच्चों के जीवित रहने से राष्ट्र को कोई लाभ नहीं पहुँचता था। परन्तु शिशु यदि तगड़ा निकलता तो पालन-पोषण करने के लिए वह माँ को लौटा दिया जाता।

सात वर्ष का हो जाने पर बालक माता का स्नेह-सिंचित अंचल छोड़ कर शिक्षणालय में भरती हो जाता था। वहाँ स्पार्टनोपयोगी जीवन निबाहने के योग्य बनने के लिए उसे कष्ट-सहिष्णु बनाया जाता था। इस प्रसंग में कहा जाता है कि पग-पग उस पर दुःख-दरिद्रता का ऐसा भारी बोझ लाद दिया जाता था कि उसके लिए प्राण-धारण करना कठिन हो जाता था। कहा जाता है कि ऐसी जीवन्मृत दशा से उद्धार पाने की आशा से स्पार्टन

नवयुवक रण-भूमि में हँसते हुए मृत्यु का वरण करता था। उसे सदैव नंगे पैर रहना पड़ता था; क्या शीत और क्या गरमी के दिन, उसे एक ही पहनावा मिलता था—कभी कभी वह भी नदारद; पुआल आदि स्वयं एकत्र कर उसी पर लेटना पड़ता था। चाँईपन से कमी पूरी करने की शिक्षा दिलाने के अभिप्राय से जान-बूझकर भर पेट भोजन तक नहीं दिया जाता था। किन्तु असावधानता के कारण उच्चकापन करते समय यदि वह पकड़ लिया जाता तो उसे कठिन दंड दिया जाता था। पराया माल हड़पने के लिए सजा नहीं दी जाती थी, प्रत्युत पकड़े जाने की अपटुता के लिए। इस प्रसंग में एक दंत-कथा सुनाई देती है। किसी लड़के ने एक लोमड़ी चुरा कर कर अपनी कमीज के नीचे उसे छिपा रखा था। इतने में कुछ मित्रों के आ जाने से वह बातचीत में फँस गया। इस बीच लोमड़ी उसके पेट का बहुत सा भाग चट कर गयी। फिर भी बालक अपना भद्दापन प्रकट होने के भय से हिला तक नहीं। चरित्र का वह ऐसा कठोर बन जाता कि कोड़े, भूख-प्यास तथा दुःख-दरिद्रता का कोई असर नहीं पड़ता था। शिक्षार्थियों की कठोरता की जाँच के लिए निश्चित वय प्राप्त कर लेने पर, देवी अर्पटीमिज की वेदी पर उनकी पीठ पर कोड़ों की वर्षा की जाती थी। मार खाते-खाते प्रायः लड़कों का दम निकल जाता था, फिर भी वे बोलते नहीं थे। प्रारम्भ में कसरत, युद्ध विद्या तथा नृत्य-गीत मुख्य विषयों में से थे। साथ ही बालकों की चित्त-वृत्तियों के विकास के लिए थोड़ा बहुत लिखना-पढ़ना और फौजी गीत सिखाये जाते थे। बीस वर्ष का हो जाने पर स्पार्टा का नवयुवक सेना निवास में प्रविष्ट होता था तथा दस वर्ष बाद वह विवाह करके भरपूर नागरिक बनता था। साठ वर्ष का हो जाने पर उसे सेना-विभाग से छुट्टी मिलती थी।

ऊपर कहा जा चुका है कि बाल्यावस्था में स्पार्टा के विद्यार्थियों की शारीरिक पुष्टि के लिए व्यायाम वा जिम्नास्टिक्स सिखायी जाती थी तथा उनके आत्मिक विकास के लिए संगीत जैसी ललित कलाएँ सिखायी जाती थीं। व्यायाम द्वारा एकाग्रता और संयम की शिक्षा देने के अतिरिक्त,

विद्यार्थियों के मन, वचन और कर्म में एकरूपता और साथ ही आंतरिक तथा बहिर्जावन में ताल-मेल रखने का प्रयत्न किया जाता था। कालान्तर में प्राचीन यूनान में म्यूजिक (गांधर्व) शब्द का अर्थ बड़ा व्यापक हो गया। विद्या और कला की कुल शाखाएँ—जैसे नाटक, कविता, भाषण, इतिहास आदि प्रमुख विद्याएँ और नृत्य-गीत जैसी कला—सभी कुछ शिक्षा-क्रम में समेट ली गयीं। प्रारंभिक दशा में, नृत्य-गीत कहने से सामान्यतः हम लोग जो अर्थ लगाते हैं, वही कला सिखायी जाती थी। अतः इस कला को अपनाने के लिए, अखाड़े से छुट्टी मिलते ही सभी विद्यार्थी संगीतालयों में जुटते थे। ऐतिहासिक काल में बीन बजाते हुए विद्यार्थियों को कंठस्थ काव्यों को यथांचित हाव-भाव बताते हुए दोहराना पड़ता था। इसके द्वारा उनकी बुद्धि-वृत्ति, पटुता, रचनात्मक शक्ति प्रमुख सद्गुणों का विकास होता था। इस प्रकार उनके व्यक्तित्व के विकास का रास्ता खुल जाता था। व्यायामशाला में कसरत के द्वारा पुष्ट शरीर के साथ संगति रखने के लिए विद्यार्थियों के मन को सम-रस करने की चेष्टा की जाती थी।

उसी विचार से ताल-लय के साथ मेल रख कर गति द्वारा अंतःकरण की भावनाओं को स्पष्ट करने के अभिप्राय से नृत्य-कला की शिक्षा दी जाती थी। सुर और लय के साथ ताल-मेल रख कर अंग संचालन, वा गति की भंगिमा द्वारा मानसिक विकारों को प्रकट करने की कला का नाम नृत्य है। नाचते समय शरीर के कुल अवयवों की छंदबद्ध गति होती है। इससे नाचनेवाले मनुष्य का अंग-प्रत्यंग एकरूपा पुष्ट होता है। नाच सामान्यतः धर्म-विश्वास, नगर-राष्ट्र तथा सैनिक तत्परता से संबद्ध था। अतः इसका उद्देश्य दर्शकों को आनंद देना ही नहीं होता था, प्रत्युत वह नैतिक तथा ललित-कला संबंधी शिक्षा का साधन भी माना जाता था। सामान्यतः धार्मिक उत्सव, सैनिक प्रदर्शन और राष्ट्रीय जुलूस आदि अवसरों पर दलबद्ध होकर नागरिक लोग नृत्य-कला का प्रदर्शन करते थे। अतः इससे सह-योगिता, समवेदना, सद्भावना सरीखे सद्गुणों का विकास होता था। इस प्रकार ऋच-रथ और संगीत के सहारे शरीर के अंग-प्रत्यंग का छन्दबद्ध

संचालन करते हुए मानसिक विकार वा भावनाओं को व्यक्त करने के ढंग के साथ नियमित व्यायाम द्वारा पुष्ट शरीर का मेल बैठाने के अभिप्राय से प्राचीन यूनान में नृत्य-कला की शिक्षा दी जाती थी।

ई० पू० पाँचवीं शती में यूनान की प्राचीन शिक्षा-पद्धति का सुफल दिखाई दिया। इसी युग में विद्या और कला के क्षेत्र में महान् चिन्तनशील व्यक्तियों का आविर्भाव हुआ, तथा सारी जाति उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँच गयी। इस काल का चरम बिंदु पेरिकलीज़ का गौरवमय युग माना जाता है। उपर्युक्त तिथि के बहुत पहले और बाद यूनानी संस्कृति के निर्माता कई महापुरुषों का उदय हुआ था जिनकी देन इतिहास में अमर रहेगी। राजनीति के क्षेत्र में थेनिस्टोक्लीज़ और पेरिकलीज़ शिल्पकला में फीडियास् माईरोन पोलिक्लीस् प्रभृति हुए। प्राचीन यूनान की रुचि और संस्कृति के महान् निदर्शन पारथिनोन की रचना इन्हीं दिनों हुई थी। हीरोडोटस् और युसिडाईडीज़ ने इतिहास रचने की विद्या की आधार शिला रखी; दुःखांत नाटकों के रचने वाले इस्काइलज़, सफोकलीज़ और यूरि-पाइडीज़ तथा मज़ेदार प्रहसनों के लेखक ऑरिस्टोफिनीज़ भी इन्हीं दिनों हुए। इस प्रकार जातीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में एक से एक बढ़ कर जन-नायकों का आविर्भाव हुआ जिनकी सृष्टि संसार में अनुपम मानी जाती है। पुनः रणक्षेत्र में अनुशासित और सुसंघटित स्पार्टन सेना दल से लोहा कोई भी ले नहीं सकता था। इस क्षेत्र की चरम कृति ईरान के साथ लड़ाइयाँ थीं, जिनमें एथेन्स के साथ कंधा मिला कर स्पार्टा ने ईरान के महामहिम सम्राट दारा और ज़र्क सीज़ के छक्के छुड़ा दिये।

इन युद्धों के परिणाम स्वरूप सारे यूनान पर एथेन्स की प्रभु सत्ता स्थापित हो गयी। उपनिवेशों की स्थापना हुई, व्यापार और वाणिज्य का प्रसार हुआ, उद्योग-धंधों का विकास हुआ, जनता की रहन-सहन का स्तर ऊँचा हुआ, साथ ही सामाजिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। इसका प्रभाव उन दिनों की प्रचलित शिक्षा-पद्धति पर भी पड़ा। प्रारंभिक दशा में नगर-राज्य के एकनिष्ठ सेवक बनाने के

अभिप्राय से नव युवकों को शिक्षा दी जाती थी। अब कार्य-क्षेत्र के विस्तार के साथ-साथ ऐसे जन-नायकों की सृष्टि करने की चेष्टा होने लगी जो राष्ट्र की भिन्न-भिन्न तत्परताओं में सफलता के साथ भाग ले सकें। दूसरे शब्दों में अब शिक्षा व्यक्तिगत रूप से दी जाने लगी जिससे नई पीढ़ी के होनहार आगे चल कर सफल व्यापारी, कुशल शासक, निपुण योद्धा, चतुर जन-नायक एवं अनुभवी कलाकार बनें।

समय की यह माँग सोफिस्ट अध्यापकों ने पूरी की। वे विद्यार्थियों के व्यक्तित्व के विकास पर अधिक ध्यान देते थे, जिससे आगे चल कर वे लोक-तंत्र राष्ट्र में कुशल व्याख्यान-दाता, सफल जन-नायक इत्यादि बन सकें। किन्तु सोफिस्ट अध्यापकों की शिक्षा-प्रणाली पहले जैसी क्रियात्मक न रह कर अधिकतर दिमागी बनती गयी जिससे विद्यार्थी अपने मन के बादशाह बनने लगे। इसीलिए प्लेटो जैसे प्रमुख प्रख्यात चिन्तनशील दार्शनिकों ने इस पद्धति की बड़ी निन्दा की है। इसके अतिरिक्त सोफिस्ट लोग अपने को सर्वज्ञ मानते थे तथा वेतन लेते थे। इसलिए भी रुढ़िवादियों से उनकी पटती नहीं थी।

एथेन्स के प्राचीन शिक्षणालयों का नाम जिमनेसियम था। वहाँ प्रातःकाल दिमागी शिक्षा, जैसे पढ़ना-लिखना साहित्य और संगीत विद्या सिखायी जाती थी। तीसरे पहर कसरत और खेल-कूद प्रभृति की शिक्षा दी जाती थी। वहाँ अनुभवी शिक्षकों को देख रेख में मुष्टि-युद्ध, कुश्ती, दौड़ने, कूदने, तथा भाला प्रभृति फेंकने की शिक्षा दी जाती थी। कुश्ती सीखने वाले वस्त्र उतार कर सारे शरीर पर तेल मल लेते थे। प्रतियोगिता समाप्त हो जाने पर शरीर पोंछ कर नहाने की प्रथा थी।

प्राचीन भारत की शिक्षा-पद्धति—

पाश्चात्य देशों के शिक्षा-शास्त्री प्राचीन यूनान की शिक्षा-पद्धति की भले ही मुक्त कंठ से सराहना करते रहें। उसमें एक बात की कमी थी।

यूनानी शिक्षा-पद्धति ने आत्मा को भूखी छोड़ शरीर और मन के विकास पर अधिक ध्यान दिया। इसके विपरीत हमारे देश में प्राचीनकाल में गुरुकुल में रहने वाले ब्रह्मचारियों की प्रतिभा सर्वतोमुखी बनाने का प्रयास किया जाता था। वेदान्त दर्शन के अनुसार मानवमात्र में अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनंदमय नाम के पाँच कोश वा सप्पुट हैं। ब्रह्मचर्याश्रम के विधि-विधान इस ढंग से बनाये गये थे जिससे पाँचों कोश एक एक साथ विकसित हों।

यौगिक आसननादिका अभ्यास कर तथा गुरु-सेवा के प्रसंग में गो-चारण कर, फूल तोड़ वा लकड़ी संग्रह करते हुए खुले मैदान और झाड़-जंगलों में बहुत सा समय बिता कर अपने शरीर को दृष्ट-पुष्ट बनाते हुए ब्रह्मचारी अन्नमय कोश को विकसित करता था। प्राणायाम, नाड़ी-शुद्धि और सुरिली ध्वनि से वेदपाठ कर वह प्राणमय कोश को चमकाता था। ध्यान का अभ्यास कर और मौन साधते हुए वह अपने मन को शान्त बनाते हुए मनोमय कोश को भरा पूरा बनाता था। गुरु के साथ तत्त्व विचार कर अपनी बुद्धि को प्रखर बनाते हुए वह विज्ञानमय कोश को हरा-भरा बनाता था। अंत में गुरु के प्रति अचल भक्ति और श्रद्धा रखते हुए तथा प्रेम का बर्ताव करते हुए वह हृदय की भावुकता को सजग रखता था। इससे उसके आनंदमय कोश की पुष्टि होती थी। सर्वोपरि ब्रह्मचारी के मन को संयत रखने के लिए उसके खान-पान और जीवन-यात्रा पद्धति के विषयों पर रोक-थाम की जाती थी।

इस प्रकार हमारे देश की प्राचीन शिक्षा-पद्धति का ध्येय विद्यार्थी की सर्वांगीण उन्नति करने का होता था। शिक्षा तभी अधूरी मानी जाती है, जब वह एकांगी होती है। इस दृष्टिकोण से विचार करने से हमें यह कहने के लिए बाध्य होना पड़ता है कि प्राचीन यूनानी शिक्षा प्रणाली में यह कमी थी कि वह अपना सारा ध्यान विद्यार्थी के शरीर और मन को तगड़ा बनाने पर देती थी तथा आध्यात्मिक शिक्षा नाम के लिए देती थी। उधर प्राचीन भारतीय शिक्षा-पद्धति का ध्येय विद्यार्थी की कायिक, मानसिक तथा

आत्मिक—थोड़े में, इहलौकिक और पारलौकिक—सर्वांगीण उन्नति करने का होता था ।

मध्य काल की शिक्षा-पद्धति—

उपर्युक्त विवरण से प्रतीत होगा कि प्राचीन यूनान में विद्यार्थी के केवल शरीर और मन को सशक्त बनाने के उद्देश्य से ही शिक्षा दी जाती थी । परन्तु मध्य काल में पाश्चात्य देशों में शिक्षा, बहुधा ईसाई पुरोहितों की देख रेख में दी जाने लगी । उनकी धारणा थी कि मानव के स्थूल शरीर में मलिनता तथा अकाज-कुकाज करने की प्रवृत्ति का होना स्वाभाविक है । इसलिए कृच्छ्रादि का साधन कर उसे सुखा डालना चाहिए, तभी आत्मिक शक्ति का विकास हो सकता है । क्रमशः लोगों का ऐसा संस्कार हो गया कि शिक्षा मन को समृद्ध बनाती है; अतः उसका स्थान ऊँचा है और मनोविनाद के साधनों का सम्बन्ध मुख्यतः शरीर से है, अतः उसका स्थान हेठा है । तभी से शरीर को भूखा छोड़ सारा ध्यान बौद्धिक और आत्मिक विकास पर दिया जाने लगा ।

इस प्रकार की धारणा के छोट के लिए ईसाई मत के प्रचार के प्रारंभिक इतिहास की आलोचना करने की आवश्यकता है ।^१ हमारे देश में प्राचीन काल में मुनि, तपस्वी, संन्यासी, यति, परिव्राजक पशुति नाना प्रकार के व्रतधारी होते थे । वे मानव-समाज और संसार के प्रपञ्च में बहुधा अलग रह कर एकांत में भगवदचिन्तन में लीन हो अपना जीवन निभाते थे । घने जंगल और पहाड़ की कंदराओं में वे रहते थे, जो कुछ भी मिल जाता था उसी से पेट पालते थे, फरने के पानी से प्यास बुझाते थे तथा चंचल मन को तल्लीन करने के अभिप्राय से वे नाना प्रकार के कृच्छ्रों का साधन करते थे । साधारणतः वे ब्रह्मचर्य का पालन करते थे तथा स्त्री-जाति के संसर्ग और संपर्क से भरसक दूर रहा करते थे ।

^१लेकी—हिस्ट्री ऑफ मोरल्स, जिल्द १—२ द'ला क्रॉय: इस्त्वार द'ला प्रास्ति-त्यूसियो पर आधारित ।

सभी जानते हैं कि सर्वप्रथम फिलिस्तीन में ईसाई मत का प्रचार हुआ था। फिलिस्तीन उन दिनों रोम साम्राज्य का एक सूबा था। कालान्तर में रोम को केन्द्र मान कर साम्राज्य के अन्यान्य सूबों में ईसाई मत का प्रचार हुआ। प्रारंभिक दशा में खास रोम में ईसाई मत के अनुयायी बहुत कम थे। राष्ट्रिय धर्म-मत के प्रतिकूल तथा संघटित सरकार के विरोधी होने के कारण ईसाई लोग गुप्त रीति से जमीन के नीचे बने हुए तहखानों में अपने मत के धार्मिक कृत्यादि करते और मुद्दों को गाड़ते थे। रोम के सम्राट् लोग सामान्यतः ईसाइयों से बहुत जलते थे और अवसर मिलने पर उन्हें कठिन दंड देते। परन्तु रुक-रुक कर धार्मिक अत्याचारों के होने के बावजूद ईसाई मत का बहुल प्रचार होता गया। इसका मुख्य कारण यह था कि इसके सिद्धान्त और शिक्षा बहुधा मानव चरित्र के आत्मिक स्वभाव पर आधारित थी; वह प्रेम, श्रद्धा, भक्ति और आशावाद की वाणी का प्रचार करता था; तथा मानव मात्र के साथ भाई चारे का बरताव करने का उपदेश देता था। सर्वोपरि, ईसाई मत के प्रारंभिक अनुयायियों की जीवन-यात्रा-पद्धति पवित्र और आदर्श थी और उसके प्राचीन शहीदों का उत्साह अदम्य था। अंत में यह भी कहना अप्रासंगिक न होगा कि प्राचीन ईसाइयों में धार्मिक सहनशीलता की कमी थी। वे अपने मत को सार्वभौम बनाना चाहते थे।

रोम में नीरो के शासन काल में पहले पहल राष्ट्र की ओर से संघटित रूप से धार्मिक अत्याचार होना शुरू हुआ था (६४ ई०)। उक्त शासक ने नगर में आग लगाने का आरोप लगा कर बहुत से निरीह मसीहियों को कुत्तों से खिला दिया, अपने बगीचे में जला मारा और शेष को क्रूस पर चढ़ा दिया। इससे रोम के ईसाई नागरिकों में बड़ी सनसनी फैल गयी और तभी से नीरो ईसा मसीह का विरोधी माने जाने लगा। इसके पहले धर्म के कारण ईसाई कभी सताये नहीं गये थे। नीरो के मरने के बाद २७ वर्ष तक ईसाइयों से किसी शासक ने छेड़-छाड़ न की। सम्राट् डोमिटियन् के बारे में कहा जाता है कि हत्यारे के हाथ मारे जाने से पहले

उसने जोर शोर के साथ ईसाइयों को सताना शुरू किया था (१६ ई०)। इसी प्रसंग में कहा जाता है कि संत जॉन का देश निकाला हुआ था। द्राजन के शासन काल में जरुसलम के बूढ़े पादरी सीमियोन को नाना प्रकार के शारीरिक कष्ट पहुँचाने के बाद अंततः उसे क्रूस पर चढ़ा दिया गया। उसी प्रकार आन्टिओक के पूज्य पादरी इगनेशियस को जंगली जानवरों से खिला दिया गया। बीच-बीच में ऐसी घटनाओं के होने पर भी धार्मिक अत्याचार उन दिनों व्यापक पैमाने पर नहीं हुआ था। परन्तु द्राजन, हाड्रियन् प्रमुख सम्राटों के तटस्थ रहने पर भी रोम की जनता ईसाई मत की विरोध हो गयी। ईसाइयों पर आरोप लगाया गया कि वे गुप्त बैठकों में सम्मिलित होकर विचित्र-विचित्र पापाचरण करते हैं। सार्वजनिक क्रीड़ा कौतुक में भाग नहीं लेते तथा उनके सरकारी धार्मिक कृत्यादि में भाग न लेने के कारण नगर को नाना प्रकार की दैवी आपत्तियों का सामना करना पड़ रहा है। सम्राट् एन्टोनिनस् भरसक जनता के विद्वेष से मसीहियों को बचाता गया। पर, जनता की काना-कुसी और उड़ती खबरों से घबरा कर सम्राट् मारकस् ओरलियस् ने ईसाई मत के अनुयायियों के विरुद्ध कई आज्ञापत्र जारी किये। राजधानी में ईसाई दार्शनिक जस्टिन् मारटर का वध किया गया। स्मारना में सार्वजनिक क्रीड़ा-कौतुक के अवसर पर यहूदियों के उभाड़ने से जनता अचानक नगर के निरीह ईसाइयों पर दूट पड़ी और बहुतों को तलवार के घाट उतारा। लायन्स (गॉल में) में ईसाइयों के कुछ नौकर-चाकरों ने अपने-अपने मालिकों के विरुद्ध अगम्यागमन, बालहत्या, भ्रूण-हत्या, गर्भपात, नर मांस भोजन सरीखे विचित्र-विचित्र आरोप लगाये। इस पर जनता बिगड़ खड़ी हुई तथा लगातार कई दिनों तक ईसाई मत के अनुयायियों पर अपना क्रोध उतारती गयी। दुर्बल बूढ़ों तथा कोमलांगी स्त्रियों पर बड़े-बड़े अत्याचार किये गये। इसके विरुद्ध किसी ने आवाज तक नहीं उठायी, यहाँ तक कि स्वयं प्रान्तपाल तक चुप्पी साध कर बैठ रहा ! कहा जाता है कि कुल ३-४ प्रान्तों में इस प्रकार की गड़बड़ी हुई थी (१८० ई०)।

२०३ ई० में सम्राट् सेप्टिमस् सेवेरस ने साम्राज्य के किसी भी नागरिक को ईसाई अथवा यहूदी मत को अपनाने से मना किया। इस प्रकार का हंगित मिलते ही अफ्रीका, स्याम प्रमुख प्रान्तों के शासकों ने वहाँ के ईसाइयों पर बड़े-बड़े अत्याचार किये। निदान सम्राट् दीसियस् के शासन काल में (२४६—५१ ई०) राष्ट्र की ओर से संघटित रूप से ईसाई मत को जड़ से उखाड़ने की चेष्टा की गयी। शासकों के उकसाने से जनता बिगड़ खड़ी हुई। ईसाइयों पर नाना प्रकार के अत्याचार होने लगे। उनके घरबार जला दिये गये, संपत्ति लूट ली गई और परिवार के कुल सदस्य कत्ल कर दिये गये। ईसाई कुमारियाँ वारांगनाओं के हाथ बेच दी गयीं। जिलाधीशों ने यंत्रणादायक मृत्यु दंड का भय दिखा कर बहुत से मुर्दादिल मसीहियों को फोड़ लिया। बहुत से गिरजे और तहखानों में स्थित-समाधि-मन्दिर ढहा दिये गये। थोड़े में इन दिनों ईसाई मत को जड़ से उखाड़ने के लिए बड़े-बड़े उपाय किये गये।

दीसियस् के पुत्र गालस् ने अपने पिता की नीति अपनायी और ईसाइयों को सताता गया। सम्राट् भालेरियन् प्रारम्भिक दशा में ईसाइयों से भलमनसाहत का बरताव करता रहा, किन्तु एक मिस्री जादूगर के बहकाने से वह ईसाई मत का कट्टर विरोधी बन गया। उसने बहुत से पादरी और राष्ट्र सभा के सदस्यों को मरवा डाला, कुछ का देश निकाला करवा दिया। उनकी सारी सम्पत्ति जब्त कर ली गयी और मसीहियों को तहखानों में स्थित समाधि मन्दिरों में जाने से रोका गया। इस प्रसंग में रोम के पादरी सिक्सटस् और कारथेज के पादरी साइप्रियन् दोनों का वध करवा दिया गया। भालेरियन् को ईरानियों ने बन्दी कर लिया। निदान उसके उत्तराधिकारी गालियेनस् ने ईसाई मत को मान्यता दे दी (२६० ई०)।

मरुभूमि की पुकार : ईसाई तपस्वी—

दीसियस् के आज्ञानुसार रोम में जिस समय जोर शोर के साथ मसीहियों पर धार्मिक अत्याचार हो रहा था (२४६ ई०) उसी समय पाल नामक एक ईसाई मुनि पहले पहल भाग कर अफ्रीका की मरुभूमि में जा

बसा था। उसके पीछे-पीछे एन्ग्रेनी भी वहाँ पहुँच गया। उसी ने संन्यासी आन्दोलन को व्यापक बनाया और थोड़े ही दिनों में उस भू-भाग में गृह-त्यागी संन्यासी और तपस्वियों का बड़ा भारी जमघट हो गया।

जिस भावना से प्रेरित होकर प्राचीन काल के बहुत से मसीहियों ने संन्यास धर्म अपनाया था, लगभग उसी प्रकार के आवेश में आकर हमारे देश के तपस्वी भी उन दिनों पहाड़ और जंगलों में पधारते थे। देश वातावरण और रहन-सहन की पृथक्ता होते हुए भी दोनों का आधारभूत सिद्धान्त प्रायः एक सा था।

हमारे दर्शन शास्त्रों का कहना है कि मानव शरीर के तीन भेद हैं। उनके नाम क्रम से स्थूल, सूक्ष्म और कारण हैं। ईसाई मत के अनुयायी भी तीन प्रकार के शरीरों के अस्तित्व में विश्वास करते हैं। स्थूल शरीर में ओछी वासना और प्रवृत्तियाँ की भरमार होने के कारण वह निम्न कोटि का माना जाता है। सूक्ष्म अथवा लिंग शरीर स्वच्छ आईने की भाँति है। जब उसकी वृत्ति बहिर्मुखी होती है, तब उसमें बाहरी दुनिया की मलिनता की छाया पड़ती है और जब उसकी वृत्ति अन्तर्मुखी होती है तब उसमें पवित्रता की परछाईं दीख पड़ती है। सबसे उत्तम कारण शरीर माना गया है। इसमें विशुद्धता और पवित्रता ही होती है, मलिनता नाम की भी नहीं होती।

हमारे पूर्वजों का विश्वास था कि मानव-शिशु के जन्म लेते ही उस पर तीन ऋण लद जाते थे। आगे चल कर उसे ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए ज्ञान प्राप्त कर, विवाह के बाद गृही का धर्म पालन करते हुए संतान उत्पादन कर तथा अंत में यज्ञ-हवन और अतिथि-सेवा द्वारा उन ऋणों को चुकाना पड़ता था। उसी प्रकार मसीहियों का ऐसा विश्वास है कि जन्म लेने के साथ-साथ मानव मात्र पर मलिनता की छाया लग जाती है। आदिम मानव ने परमेश्वर की आज्ञा की अवहेलना कर जो महान् पाप किया था, जन्म लेते ही मानव-शिशु के सम्राट पर उस कलंक

का टीका लग जाता है। ईसाइयों के धर्म ग्रंथों में इस मलिनता का नाम मौलिक पाप या 'ओरिजिनल सिन' है।

इसी पाप को मिटाने के लिए ईसाई समाज में 'बप्तिस्मा' या दीक्षा देने की प्रथा है। हमारे समाज में गुरु बहुधा यही काम करते हैं। दीक्षा संस्कार का प्रकृत अर्थ यह है कि शिष्य के द्वारा की हुई पुरानी भूल-चूक का बोझ गुरु अपने कंधे पर लाद लेते हैं। आगे चल कर संसार के माया-जाल में फँस कर जिससे जीव को नया पाप न करना पड़े, इसी प्रलोभन से बचने के लिए प्राचीन काल में धर्म-निष्ठ मसीही साग्रह संन्यासी बन कर मरुभूमि में बैठने लगे।

प्रारंभिक दशा में यम-नियम-मिताहार-अनाहार इत्यादि व्रतों के द्वारा वे पार्थिव शरीर को बिलकुल सुखा कर काँटे जैसा रम-हीन कर डालते थे, जिससे पाप का बीज सूखी जमीन में जड़ न जमाने पावे। कालान्तर में संन्यासियों की निरंतर पाक साफ रहने की उत्कट आकांक्षा और प्रलोभन से सदैव दूर रहने का व्याकुल आग्रह साकार बन कर, उनके संयम का चुनौती देने लगा। इससे घबरा कर वे व्रत और कृच्छ्रों की कठोरता क्रमशः बढ़ाते गये और स्वल्पकाल में वह चरम बिन्दु तक पहुँच गयी। इस प्रकार धीरे-धीरे पाश्चात्य संसार की तपश्चर्या में बड़ी जटिलता आ गयी और परिमिताचार की मात्रा लांघ गयी। यह आन्दोलन पाँचवीं शती तक जारी था। फिर प्रत्येक देश में मठ और आश्रमों की स्थापना होने पर वह ठप हो गया।

इस प्रसंग में स्मरणीय है कि हमारे देश में भी उपनिषद् काल और बौद्ध युग में तपश्चर्या की उग्रता बहुत बढ़ गयी थी। मज्झिम निकाय (१) १/७७ : २३८ भगवती सूत्र (२) ११/६ औपपातिक सूत्र (३) ३८ : पुष्पिम सूत्र (४) ३/६ : प्रमुख पालि और प्राकृत ग्रंथों में इसका विशद वर्णन हुआ है। तपस्वियों के व्रत और कृच्छ्रों का रंग-रङ्ग देख कर गौतम बुद्ध का जी घबरा गया। इस पर उन्होंने तपस्या कर शरीर को बूथां कष्ट देने की पद्धति की निन्दा करते हुए मध्यम मार्ग का प्रवर्तन किया।

ऊपरी तौर से देखने से संन्यास में स्वार्थपरता की झलक दीख पड़ती है। लोगों की ऐसी धारणा है कि यम-नियमव्रत-उपवास तथा कृच्छ्रादि का पालन कर संन्यासी अपनी आध्यात्मिक उन्नति का पथ प्रशस्त करता है। इससे संसार की भलाई नहीं होती। इसके विपरीत संन्यासियों का दृढ़ विश्वास है कि वे आत्मोन्नति के साथ-साथ सारी सृष्टि की भलाई करते हैं। सभी जीवात्मा परमात्मा के स्वरूप हैं। इसलिए यदि एक की जीवात्मा आध्यात्मिक उन्नति करे तो वह अपने साथ-साथ औरों के जीवात्मा को ऊपर उठायेगा।

यद्यपि प्राचीन यूरोप में हमारे देश जैसा संवर्धित रूप से संन्यासी सम्प्रदाय नहीं था, तथापि साहित्यिक उल्लेखों से पता चलता है कि ऐसे भाव-विचार वाली संस्थाएँ बिल्कुल अज्ञात न थी। इस प्रसंग में स्मरणीय है कि सिकन्दर के साथ जो यूनानी दार्शनिक भारत में आये थे, उन्होंने भारतीय योगी, मुनि और संन्यासियों का नाम 'जिमनोसोफिस्ट' अथवा 'नग्न तत्त्वज्ञानी' रखा था। सम्भव है प्राचीन यूनान में डायोजेनीस सरीखे इस प्रकार के कुछ दार्शनिक हो गये हों जो थोड़े में संतुष्ट रहते थे और अधिकतम समय ज्ञान प्राप्त करने में बिताते थे। प्राचीन काल में यहूदी समाज में 'एसेनी' नाम का एक सम्प्रदाय था। इसके सदस्य आमरण ब्रह्मचर्य का पालन करते थे तथा संसार के बखेड़ों से अलग रहते थे। उत्तर काल के रोम साम्राज्य में 'सिनिक' नाम का एक सम्प्रदाय था इसके सदस्य घर-गृहस्थी छोड़ कर एकान्त में रहते और ज्ञान के विकास में सदैव लगे रहते थे। मिस्री दर्शनशास्त्र ने, जिसका प्राचीन यूरोप में व्यापक प्रचार हुआ था, संन्यास का आदर्श अपनाया। ईसाई मत के समीपस्थ नॉस्टिक और मनीचियन सम्प्रदाय वाले जड़ पदार्थ को तुच्छ और असार मानते थे। दूसरी शती में टर्टुलियन उन दिनों के मसीहियों के साथ भारतीय तपस्वियों का तुलना करते हुए लिखता है कि मसीही दुनिया की झगड़ों से भागते नहीं थे, अपितु वे ईसाई मत के न मानने वाले व्यक्तियों से भी बाजार, चौक, स्नानागार आदि प्रमुख सार्वजनिक स्थानों में अबाध मिलते-जुलते थे।

वास्तव में ईसाई तपस्वी संसार से बिलकुल अलग रह कर नाना प्रकार के कृच्छ्रों का साधन करते हुए शरीर, मन और वचन के द्वारा अपने शरीर की पवित्रता को बनाये रखते थे। ऊपर कहा जा चुका है कि एन्टोनी के प्रचार से यूरोप में तपस्वी बनने के आन्दोलन ने जोर पकड़ा था। पहले पहल तो लोग धार्मिक अत्याचार से घबरा कर मरुभूमि में रहते हुए तपस्या करने लगे थे। फिर ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये, त्यों-त्यों लोगों के मन में ऐसा विश्वास जमने लगा कि स्वर्ग तक पहुँचने का एकमात्र साधन तपस्या है। इस प्रकार की भावना द्वारा प्रेरित होकर भी बहुत से लोग तपस्वी बन गये। संत जीरोम जैसे भावुक लेखकों ने कल्पना की सहायता से संन्यास आश्रम का अतीव मनोरम चित्र खींचा। ईसाई घर वाली संन्यासियों के साथ साठ-गाँठ कर गृह-स्वामी की इच्छा के विरुद्ध अपने पुत्रों को तपश्चरण करने के लिए मरुभूमि को खाना कर देती थीं। संन्यासी लोग वेष बदल कर, अध्यापक के रूप में सम्पन्न व्यक्तियों के घर में घुस पड़ते थे और सुकुमार-मति किशोरों को बहका कर संन्यासी बना देते थे। पुनः उन दिनों के प्रख्यात संत एम्ब्रोज ऑर्गस्टाइन, क्रिसोस्टोम जैसे नामी अध्यापक लोग विद्या पढ़ाने के बहाने संन्यास धर्म की श्रेष्ठता का प्रचार करते थे। इनके अतिरिक्त काम चोर किसान, कानून के चंगुलों से उद्धार पाने की अलिभाषा से बहुत से दास और अपराधी, कर का बोझ टालने के लिए बहुत से छली नागरिक और सर्वोपरि बर्बर जातियों के निरन्तर आक्रमणों से बचने की इच्छा से अनगिनत आलसी लोगों ने वीरान मरुभूमि को जनाकीर्ण लोकालय बना दिया।

गिनती में वे कितने थे यह ठीक-ठीक कहना बहुत कठिन है, तथापि विशेष-विशेष अवसर पर जो जमावड़ा होता था, उससे थोड़ा-बहुत इसका अनुमान किया जा सकता है। चौथी शती के प्रारंभ में संत पचोमियस् ने सीनोवाइट नाम के संन्यासी संप्रदाय का संघटन किया। उसमें सात हजार संन्यासी थे। संत जीरोम के समय ईस्टर संबंधित उत्सव में ५० हजार संन्यासी समवेत होते थे। नीट्रिया की मरुभूमि में चौथी

शती में किसी महन्त की देख रेख में पाँच हजार संन्यासी रहते थे। संत सेरापियन के दस हजार संन्यासी चले थे। मिस्र में अॉक्सिंक्स नाम का छोटा सा एक नगर था। वहाँ २० हजार संन्यासिनियाँ और दस हजार संन्यासी थे। इस नगर में गृहस्थाश्रमी कम रहते थे। सुनने में आता है कि चौथी शती के अंतिम पाद में मिस्र की जनसंख्या का आधा भाग संन्यासी था।

शीघ्र ही मिस्र को केन्द्र मान कर यह आन्दोलन अन्यान्य देशों में फैल गया। संत अथानीसिउस् और ज़ीनो ने इटली में इसका प्रचार किया, फिलिस्तनी में संत हिलारियोन ने हजारों को दीक्षित किया। वहाँ से यह आन्दोलन साइप्रस् द्वीप में फैल गया। दुर्स के संत मार्टिन् ने गॉल (फ्रांस) में इसका प्रचार किया। उसका देहान्त हो जाने पर दो हजार संन्यासी एकत्र हुए थे। इस प्रकार पाँचवीं शती तक यह आन्दोलन पाश्चात्य पृथिवी के भिन्न-भिन्न भागों में फैल गया। थाड़े ही दिनों में मिस्र और श्याम की मरुभूमि तीर्थ-यात्रियों के लिए परम पवित्र धाम बन गयीं। वहाँ वे तापसों का दर्शन करते फिरते और उनके किये हुए अमानुषिक चमत्कारों का विवरण संग्रह करते थे। फिर घर लौटने के बाद जब वे इनका बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन करने लगते तब सुनने वालों के रोंएँ खड़े हो जाते थे।

ऊपर कहा जा चुका है कि मरुस्थल के निवासी ये ईसाई तपस्वी प्रलोभन से बचने के अभिप्राय से शरीर को कष्ट पहुँचाना अपना कर्त्तव्य मानते थे। इस प्रसंग में कहा जाता है कि वे या तो लम्बे समय के लिए ब्रती रहते थे अथवा मिताहारी बनते थे। शरीर को किसी प्रकार का आराम या चैन नहीं देते, यहाँ तक कि तेज के क्षय होने की आशंका से उसकी सफाई तक नहीं करते थे।

संत जीरोम का कहना है कि उसने एक तपस्वी का दर्शन किया था जिसने ३० वर्ष थोड़ा सा जौ चबा कर और गेंदला पानी पी कर बिताया था। दूसरा एक बिल में रहता और प्रतिदिन कुल पाँच अंजीर खाया करता था। तीसरा साल में एक बार (ईस्टर रविवार को) बाल बनवाता था, कदापि

वस्त्र न धोता था और जब तक वे गल कर गिर न जाते तब तक उन्हें बदलता नहीं था। निरंतर उपवास करने के कारण उसकी दृष्टि-शक्ति जाती रही और उसकी खाल झाँवाँ जैसा जान पड़ता था। अलेक्जेंडरिया के संत मकेरियस् के बारे में कहा गया है कि वह लगभग एक मन का लोह-पिंड गले में लटका रखता था। वह तीन साल एक सूखे कूँ के भीतर रहा। संत बेसारिअों ने ४० दिन और रात कैंटली झाँकी के भीतर बिता दिया तथा ४० वर्ष तक वह सोते समय भी धरती पर लेटा नहीं। तपस्वी लोग भोजन-पानी के बारे में बहुत परहेज करते थे। संत मर्शियन् जैसे कुछ तपस्वी प्रतिदिन एक बार थोड़ा सा भोजन करते थे; कुछ तीसरे दिन भोजन करते थे। फिर कुछ दफ्तों भोजन नहीं करते थे। अलेक्जेंडरिया के संत माकेरियस् के बारे में कहा जाता है कि वह लगातार दफते भर लेटा नहीं और भोजन के नाम पर केवल रविवार को कुछ कच्चा शाक खाया करता था। संत जॉन नाम के एक तपस्वी के विषय में कहा गया है कि वह निरंतर तीन साल तक खड़ा-खड़ा प्रार्थना करता रहा; बहुत थक जाने पर वह कभी-कभी चट्टान की भीत टेक लेता था। इस बीच न वह कभी बैठा न लेटा ही। भोजन के लिए प्रति रविवार वह प्रसादी (सैक्रामेंट) खाता था। कुछ तपस्वी जंगली जानवरों की त्यागी हुई माँदों में रहते थे, कुछ सूखे कुओं में और शेष समाधि क्षेत्रों में पड़े रहते थे। अधिकतर तपस्वी कपड़े-लत्ते का उपयोग नहीं करते थे और जंगली जानवरों के समान हाथ-पैर के बल चलते फिरते थे। मेसपोटेमिया और स्याम में 'घास-खोर' नाम के एक सम्प्रदाय का आविर्भाव हुआ था। इसके सदस्य घरों में नहीं रहते और न रोटी, न मांस ही खाते थे। वे सदा पहाड़ों की तराई में रहा करते और चौपाये की तरह चरते फिरते थे।

प्राचीन काल में हमारे देश के ब्रह्मचारी ब्रह्मवर्चस् के नाश होने की आशंका से नहाते नहीं थे। अभी तक बहुत से पहुँचे हुए महात्मा देख पड़ते हैं जो बहुत कम नहाते हैं, तथापि उनके शरीर की चिकनाई में कोई अन्तर नहीं होता। वे सहस्रार की धार में स्नान कर शरीर को स्निग्ध रखते हैं। ईसाई तपस्वी भी संभवतः उसी विचार से पानी का बहुत कम उपयोग करते थे।

वे न स्नानादि ही करते और न शरीर को कभी निखारते ही थे, अपितु जिस तपस्वी के शरीर पर जमी हुई मैल की ढेरी जितनी अधिक होती, वह उतना ही आदरणीय और पूजनीय माना जाता था। संत एन्टोनी के विषय में कहा गया है कि उसने जीवन भर कभी पैर नहीं धोया था। संत अब्रहाम तपस्वी बनने के बाद ५० वर्ष तक जीवित रहा। परन्तु उसने न कभी पैर धोया था और न मुँह। ६० वर्ष की चिरकुमारी सिलविया ने उँगलियों को छोड़ आजीवन शरीर के और किसी भाग पर पानी नहीं छोड़ा। ऐसी गंदी आदत के कारण वह बीमार हो गयी, तथापि वह अपने संकल्प से डिगी नहीं। संत इउफ्रेक्षिया एक मठ में रहती थी, जहाँ कुल जमा १३० संन्यासिनियाँ रहती थीं। वे कदापि पैर नहीं धोती थीं तथा स्नान का नाम सुनने से वे हक-बका जाती थीं। एक दिन एक तरुण तापस ने मरु-भूमि के भीतर से होते हुए एक नंगे जीव को गुजरते देखा था। उसके शरीर का रङ्ग स्याही जैसा काला था तथा उसके उलझे हुए सफेद केश-पाश हवा के झोंके से झुँडी जैसे लहराते थे। ऐसी विकट आकृति आँखों के सामने आते ही उस तापस ने सोचा कि वह कोई डाइन होगी। किन्तु वास्तव में वह अपने समय की असामान्य सुन्दरी, मित्र की संत मेरी की छाया मूर्ति थी। वह निरंतर ४७ वर्ष तक तप करती रही।

मरुस्थल के बीच बने हुए एक मठ के रहने वाले कुछ तापसों को अनायास पीने का पानी न मिलने के कारण बहुत कष्ट होता था। निदान महन्त थियोडोशियस् की प्रार्थना से प्रसन्न होकर परमात्मा ने स्वच्छ पानी से लबालब भरा हुआ एक सोता वहाँ से प्रवाहित कर दिया। पीने के पानी की कमी का प्रश्न हल हो जाते ही तरुण तापसों के बहुत विनती करने पर महन्त ने वहाँ स्नान करने के लिए एक मनोरम तालाब बनवा दिया। तापसों के एक ही बार स्नान करने के अनन्तर वह सोता सूख गया। प्रार्थना, रोना-गाना, व्रत और उपवास सब कुछ बेकार गये। इस प्रकार एक वर्ष बीत गया। अन्ततः महन्त ने उस तालाब को तुड़वा दिया, तब पानी की धार फिर से बहने लगी।

कुच्छ साधन के विषय में संत सीमियोन स्टाइलाईट ने औरों को बिलकुल मात कर दिया था। उसने अपने शरीर को कस कर एक डोरे से बाँधा था। डोरा इतना कस कर बाँधा गया था कि वह धीरे-धीरे उसके चाम को काट कर माँस के भीतर घँस गया था। थोड़े ही दिनों में घाव सड़ कर बदबू निकलने लगी और जब वह हिलता-डोलता था, तब उसमें से कीड़े टपकने लगते थे। कभी-कभी वह मठ छोड़ कर सूखे कुओं में, जिनमें भूत-प्रेत रहते थे, पड़ा रहता था। बारी-बारी से उसने तीन खंभे बनवाये, इनमें से अंतिम खंभा ऊँचाई में ६० फुट था और उसका व्यास केवल दो हाथ था। इसकी चांटी पर, जाड़ा और गमी, दोनों की परवाह न कर उसने सीधे तीस साल बिता दिये। प्रार्थना करते समय किसी-किसी मत के अनुयायियों को धरती तक सिर नवाते सभी ने देखा होगा। सीमियोन प्रार्थना करते समय अनवरत लगभग अपने पैरों तक सिर झुकाता था। एक कुतूहली दर्शक ने इस शरीर संचालन को गिनने की चेष्टा की थी। १२ ४४ तक गिनने के अनन्तर वह थक गया, परन्तु सीमियोन ने अपना अंग संचालन बराबर जारी रखा। साल भर तक वह एक ही पैर के बल खड़ा रहा। दूसरे पैर में घाव होने के कारण वह बेकाम था। बगल ही में उसके जीवन-चरित्र का लेखक, प्रिय शिष्य एन्टोनी उपस्थित रहता था। जब कभी कोई कीड़ा घाव से गिर जाता था, वह सादर उसे तत्क्षण अपने स्थान पर रख देता था। कीड़ों के विषय में संत जी कहा करते थे कि “ईश्वर ने जो भी कुछ दिया है, उसका तुम पूरा-पूरा भोग करते जाओ।” दूर-दूर के देशों से तीर्थ-यात्रा के प्रसंग में वहाँ दर्शनार्थी एकत्र होते थे और जब उसने शरीर छोड़ा तब बीसों महा-पुरोहितों ने उसकी अरथो समाधि-क्षेत्र तक पहुँचायी थी। सीमियोन सदा के लिए आदर्श मसीही संत बना रहा।

उपर्युक्त उपायों द्वारा शरीर को नाना प्रकार का कष्ट देने के अतिरिक्त ईसाई तपस्वी काय, मन और वचन से ब्रह्मचर्य का पालन करते थे। इस प्रसंग में कहने की आवश्यकता नहीं कि वे स्त्री-जाति के संसर्ग और संपर्क से दूर रहते थे। पूर्वाश्रम की विवाहिता पत्नी तथा परायी स्त्री की

बात ही क्या, इस विषय में कोई कोई तपस्वी तो इतना हृदयहीन दुराग्रही हो जाता था कि वह अपनी माता और बहन से भी नहीं मिलता था। इसका प्रधान कारण यह लगता है कि चौथी और पाँचवीं शती में पाश्चात्य संसार में प्रेम, प्रीति, स्नेह, सहानुभूति जैसी मूल प्रवृत्तियों पर धार्मिकता आधारित नहीं थी, अपितु उसका लक्ष्य था येन केन प्रकारेण शारीरिक और मानसिक पवित्रता की रक्षा करना। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए लोग इन्द्रिय-निग्रह पर अत्यधिक बल देते थे।

मन की स्वाभाविक प्रवृत्तियों को बलात् अवरोध करने के लिए तपस्वियों के हृदय में बड़े जोर से जो आँधी-तूफान निरंतर चलता रहता था, उसका परिणाम बहुधा यह होता था कि बहुत से नवीन संन्यासी या तो पागल हो जाते थे अथवा आत्मघात कर बैठते थे। कुछ इने गिने उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं।

कहा गया है कि एक दिन संध्याकाल मरुस्थल के अपार मैदान में खड़े-खड़े संत पचोमियस् और संत पलीमन किसी गूढ़ विषय की चर्चा कर रहे थे। उसी समय पागल जैसी शकल-सूरत वाला एक नवयुवक तपस्वी, एकाएक उन दोनों के बीच दूट पड़ा तथा रोते और सिसकते हुए, लड़-खड़ाती हुई भाषा में अपने अनुभवों का वर्णन किया। उसने निवेदन किया कि एक रमणी अचानक मेरी कुटिया में घुस पड़ी और अपने हाव-भाव द्वारा मुझे मोहित कर मुझे धर्म च्युत किया। इसके बाद हवा में वह विलीन हो गयी। इतना कह कर बड़े जोर से चिल्लाता हुआ वह वहाँ से भाग गया। दौड़ता हुआ वह बगल के एक गाँव में पहुँचा और सार्वजनिक स्नानागार के खुले भण्डे में कूद कर जल मरा।

एक और संन्यासी के बारे कहा जाता है कि यम और नियम का कट्टर पाबंद होने के कारण वह बहुत दिनों तक आदर्श तपस्वी माना जाता था। क्रमशः उसमें आत्म-संतोष की भावना समायी जिसके कारण उसका पतन भी हुआ। एक दिन गहरी रात को उसकी कुटिया के द्वार पर क्षीण चंद्र-लेखा के समान, प्रायः अचेत एक सुन्दरी आ पहुँची। बहुत गिड़गिड़ाते

हुए उसने रात भर उस कुटीर में ठहरने की आज्ञा माँगी जिससे उसे जंगली जानवरों का आखेट न बनना पड़े। बड़े कुसमय में उस तपस्वी ने उसकी प्रार्थना स्वीकार ली। कुटिया के भीतर घुस कर श्रद्धा, भक्ति और नम्रता की पराकाष्ठ दिखा कर क्रमशः उसने उस तपस्वी के हृदय में सांते हुए बेसुध अरमान को जागरित किया। इसके बाद और एक कदम आगे बढ़ कर उसने तापस की देह पर अपने कोमल हाथ रखे। उसकी कोमल त्वचा के स्पर्श से उसका रोम-रोम सजग हो गया; तेजी से महात्मा की नस-नस में तप्त रक्त खोलत प्रवाहित होने लगा। विह्वल होकर जब उसने उस रमणी को छाती से लगाने के लिए बाँह पसारी, तब वह हवा हो गयी। उसी समय सैकड़ चुड़ैलें एक महात्मा का नैतिक अधःपतन देख कर ठठा कर हँस उठीं। इस कहानी का उपसंहार बड़ा रोचक है। इसलिए उसका वर्णन कर रहे हैं। पतित तपस्वी ने प्रायश्चित्तादि कर अपनी खोयी हुई पवित्रता को फिर से प्राप्त करने की बिलकुल चेष्टा नहीं की, प्रत्युत उसने संन्यास आश्रम को तत्क्षण त्याग दिया और शेष जीवन संसार के आश्रय में रह कर उसी कुहकिनी के ध्यान में बिताया और अन्ततोगत्वा संभवतः नरक में गया।

अपने-अपने व्रत पालन के प्रसंग में यद्यपि मरुभूमि निवासी तपस्वी स्त्री-जाति से यथा संभव दूर रहने की चेष्टा करते थे, परन्तु स्त्रियाँ उतना ही आकुल आग्रह और व्याकुल वेदना का बोझ लेकर येन केन उपायेन दर्शन करने के बहाने और तीर्थ-यात्रा के प्रसंग में उनके संसर्ग और सम्पर्क में आने का भरसक प्रयत्न करती थीं।

चौथी शती के अन्तिम पाद में संत मेज़ानिया ने ऐतिहासिक रुफिनस् के साथ मिल और स्याम में स्थित कुल मठ और आश्रमों की यात्रा की थी। अधिकतर संन्यासी और तपस्वी, स्त्रियों की ओर आँख उठा कर देखते भी नहीं थे तथा जो जितने दिनों तक स्त्रियों को न देख कर बिता देता था, वह उतना बड़ा महात्मा माना जाता था। लाइकोपोलिस के संत जॉन के बारे में कहा जाता है कि उसने ४८ वर्ष तक किसी भी

रमणी की शकल-सूरत देखी नहीं थी। संत बेसिल के विषय में कहा जाता है कि विशेष प्रयोजन न होने तक वह स्त्रियों से बोलते तक नहीं थे। एक नव युवती रोमन महिला ने संत अरसीनियस् का दर्शन और उनका शुभाशीष प्राप्त करने के अभिप्राय से इटली से अलेक्ज़ांड्रिया की यात्रा की। येन केन प्रकारेण उसे महात्मा के दर्शन भी मिले। उसे देखते ही महापुरुष झुल्ला उठे और लगे बुरी भली बातें सुनाने ! उनकी डाँट-फटकार के आगे थराती हुई वह बेचारी उनके चरणों पर गिर पड़ी और रोते हुए विनती की कि मुझे भूलिए नहीं और मेरे कल्याण के लिए प्रार्थना कीजिए इस पर खिजला कर महात्मा ने उत्तर दिया कि “तुझे याद करूँ ! जीवन भर मैं तो यही मनाता रहूँगा कि मैं शीघ्रातिशीघ्र तुझे भूल जाऊँ !”

कभी-कभी स्त्रियाँ पुरुषों का वेष बना कर आमरण, अज्ञात रूप से तपस्वियों के साथ रह जाती थीं। एन्टिओक की नामी, रूपसी अभिनेत्री संत पेलाजिया को बप्तिस्मा मिलने के उपरान्त पादरियों ने उसे एक अषेढ़ वय की चिर कुमारी और सदाचारिणी महिला के साथ रह कर तप और ध्यान अभ्यास करने का आदेश दिया था। परन्तु अपने पूर्व जीवन में किये हुए पापों का स्मरण कर वह इतनी बेचैन हो जाती थी कि कठोर से कठोर प्रायश्चित कर वह तुरत उनसे छुटकारा पाना चाहती थी। अतः वह अपनी सहेली से अलग हो गई और माउन्ट अर्व् ऑलिवस् पर रहने वाले तपस्वियों के साथ हो ली। वहाँ वह अपने प्राचीन कला-कौशल की सहायता से आमरण पुरुषों का वेष पहन कर रहती तथा पुरुष जैसा बरताव करती थी। उसके मरने पर लोगों को पता चला कि कौन उनके साथ रहती थी !

गृह-त्यागी साधु-संन्यासी सांसारिक माया-ममता, प्रेम-प्रीति और स्नेह-सहानुभूति से परे हो कर पारिवारिक बन्धन की जड़ खोद डालते थे। यही उनका आदर्श होता था। इस प्रसंग में माता के हृदय का लबालब भरा हुआ स्नेह, पिता का संयत आवेग, भाई के प्रति भाई का अगाध प्रेम, धर्म पत्नी के प्रति पति का स्वाभाविक आकर्षण, थोड़े में मानव हृदय

की कुल कोमल प्रवृत्तियों की जड़ उखाड़ कर तपस्वी संसार के कुल बन्धनों से मुक्त हो, तुरीय आनन्द को प्राप्त करने का प्रयास करता था।

ऐसी मनोवृत्ति खड़ा करने का मुख्य अभिप्राय यह लगता है कि संन्यासी पूर्वाश्रम में जिनके साथ हिल-मिल कर रहता था, उसका दर्शन अथवा स्मरण कर वह अपने हृदय की अखंड शान्ति को नष्ट करना नहीं चाहता था। वह पूर्वाश्रम के एकलौते पुत्र से भी प्रेम नहीं कर सकता था। उसकी आन्तरिकता की परख करने के लिए महन्त लोग बच्चों को निरर्थक सताते थे तथा उन्हें आग में झोंकने और पानी में डुबा देने का पाखंड करते थे।

म्युटियस् नाम के एक संपन्न व्यक्ति ने पत्नी की मृत्यु के बाद संन्यास आश्रम अपनाया। उसके साथ आठ वर्ष का एक पुत्र था। आश्रम के निवासियों ने बलात् बालक को पिता से अलग कर दिया, पहनने के लिए चिथड़े-गुदड़े दिये, उठते-बैठते वे डाँट-फटकार और मार-धाड़ करते और भर पेट भोजन तक न देते थे। ऐसी दशा में दिन प्रति दिन बालक सूख कर काँटा हो गया, उसके चेहरे पर उदासी छा गयी और आँखों की चमक जाती रही। फिर भी उसका स्नेहमय पिता, कलेजे पर पत्थर रख कर सभी कुछ देखता जाता-कुछ बोलता नहीं था निदान महंत ने एक दिन बच्चे को नदी में फेंक देने की आज्ञा दी। निर्मोही पिता वही करने को तैयार हुआ। परन्तु उसके संन्यासी भाइयों ने बच्चे की जान बचा ली।

एक और पिता तीन पुत्रों को छोड़ कर संन्यासी बन गया। तीन साल के बाद उसने बच्चों को मठ में रख कर पालने पोसने की ठानी। घर लौटने पर उसे पता चला कि दोनों बड़े लड़के इस बीच परलोक सिधारे थे। लाचार होकर छोटे बच्चे को वह मठ में ले आया। महन्त ने पूछा—“क्या तुम इस बच्चे से प्रेम करते हो?” दुःखी पिता ने उत्तर दिया—“हाँ”। फिर महन्त ने पूछा—“क्या तुम इसे हृदय से चाहते हो?” इकबका कर पिता ने उत्तर दिया—“इसमें संदेह ही क्या!” इस पर महन्त ने कहा—“तो एक काम करो। बच्चे को मट्टी की जलती हुई आग में तुरन्त

भोंक दो !” यंत्रचालित कठपुतली जैसे उदासीन पिता ने अक्षरशः आशा का पालन किया। किन्तु परमात्मा की कृपा से बच्चा जला नहीं !

इस प्रकार संन्यास आश्रम अपनाने से यदि स्नेहमय पिता के हृदय में सदैव बहती हुई माया-मोह को धार सूख जाती थी तो संन्यासी सन्तान अपनी गर्भधारिणी माता जिसने नाड़ियाँ फाड़ कर उसे पृथिवी का प्रकाश दिखाया, फिर अपना कलेजा गार गार कर सुधा की धार से उसका पालन पोषण किया, जिसकी दृष्टि में संतान की सैकड़ों कमियाँ कभी किरकिराती नहीं, वही माँ और त्याग-मूर्ति बहन जो अपने अगाध स्नेह के बदले कुछ भी माँगती नहीं—उनसे भी संन्यासी लोग रुखाई का बरताव करने में हिचकते नहीं थे। इसका कारण बीते हुए दिनों की प्रेम-प्रीति से सींची हुई स्मृतियों को फिर से जागरित करने की आशंका नहीं थी, परन्तु उनकी जाति की थी, जिनके साथ भिड़ने से सेवार तप जाती और पत्थर पिघलने लगता है। ऐसी दशा में मुनि का मन टलना कोई बड़ी बात नहीं।

कलामा के संत जॉन की बहन अपने एक मात्र भाई को हृदय से प्यार करती थी। अपनी निरंतर बढ़ती हुई वय को ध्यान में रखते हुए वह वह बार-बार अपने भाई के पास संदेशा भेजती गयी कि मरने के पहले वह एक बार उससे मिल तो लेवे ! किन्तु जॉन पहाड़ जैसा अचल अटल रहा। जब चिरौरी बिनतियों से कोई फल नहीं निकला तब लाचार होकर उसने मरु-भूमि की यात्रा करने के संकल्प के बारे में सूचना भेजी। इससे व्यस्त होकर महात्मा ने कहला भेजा कि यदि वह अपना संकल्प त्याग दे तो वह उससे शीघ्र ही मिल लेगा। अपने वादे के अनुसार थोड़े ही दिनों में संतजी वेष बदल कर बहन के यहाँ पहुँच गये, माँग कर थोड़ा पानी भी पी लिया और पहचानने का अवसर न देकर उलटे पाँव लौट गये। कुछ दिनों के बाद आसरा जोहते-जोहते जब वह द्वार गई तब विवश होकर बहन ने कहला भेजा कि भाई ने वादा पूरा नहीं किया। संत जी ने उत्तर दिया “मैंने तो वादा पूरा किया, परन्तु मसीह की कृपा से आपने मुझे पहचाना नहीं।

भविष्य में फिर दर्शन देना संभव नहीं !” स्नेहमयी भगिनी हाथ मलती रह गई ! राजा का दुलारा अपने आंगन तक पहुँचा था, परन्तु अभागिनी ने उसे पहचाना नहीं ! उसकी आवभगत करने का सुयोग मिलने पर भी उसका उपयोग नहीं कर पायी !

संत मारकस् की माँ के बहुत कुछ विनती-मिनती करने पर मठ के महन्त ने संत जी को अपनी माता से मिलने की आज्ञा दी । आज्ञा सुनते ही महात्मा पसीने-पसीने हो गये । वह महन्त की आज्ञा टाल नहीं सकते थे, पुनः खुले हृदय से माँ से मिल भी नहीं सकते थे । ऐसी विकट परिस्थिति में वे वेष बदल और आँखें बंद कर माता के पास पहुँच गये । माता ने बेटे को पहचाना नहीं; बेटे ने माँ को देखा नहीं । उसी प्रकार संत प्रायर ने महन्त के आज्ञानुसार बदन के साथ मिलते समय आँखें मूँद ली थीं और जब तक वह वहाँ रही, तब तक उन्हें खोला नहीं ।

संत पीमेन के छः भाई थे । सब के सब माता को अकेली छोड़ क्रमशः संन्यास ले मरुभूमि को सिधारे । किन्तु सन्तान के नमक-हराम होने पर भी माता के स्नेह में कोई अंतर नहीं होता । अपने प्यारे बेटों से मिलने की इच्छा से बुढ़िया अकेली लाठी टेकती हुई मरुस्थल में पहुँच गई । जब वे अपनी कुटिया छोड़ कर गिरजे काँ जा रहे थे, तब बुढ़िया मारे आवेग के लंबे-लंबे डग मारते हुए उनसे मिलने के लिए आगे बढ़ी । उधर माँ को समीप आते देख कर वे पुनः कुटीर में घुस पड़े । फिर लड़खड़ाती हुई जब वह कुटी के द्वार तक पहुँची तब एक ने झट दरवाजा बंद कर लिया । तब बाहर पड़ी-पड़ी वह फूट-फूटकर रोने लगी । इस पर पीमेन ने कपाट न खोल कर भीतर से कहा—“अरी बुढ़िया, तू भूठमूठ क्यों बिलख रही है ?” स्वर पहचान कर माता ने उत्तर दिया—“मैं तुमसे मिलना चाहती हूँ । यदि तुम मुझसे मिलो तो कौन-सा हरज होने वाला है ? क्या मैं तेरी माता नहीं हूँ ? बचपन में दूध नहीं पिलाया ? अब मेरे ऊपर बुढ़ापा सवार है । अंग-प्रत्यंग निस्तेज हो गये हैं, बाल पक गये हैं और चाम पर झुर्रियाँ पड़ गई हैं । तुम्हारा स्वर सुन कर मेरा हृदय गलने लगता है !” फिर भी कपाट

खुला नहीं। बेटों ने साफ कह दिया कि मरने के बाद उनका दर्शन मिलेगा, निदान हार मान कर दुःखी माता घर लौट गयी।

संत थिओडोरस् की माँ बड़े बड़े पादरियों से छिड़ी-चपाती लिखा कर अपने इकलौते बेटे से मिलने आयी। परन्तु पुत्र ने दृढ़ता के साथ 'ना' कर दिया, निदान दुःखी होकर माता संन्यासिनी हो गयी। तभी से वह एक मठ में रहने लगी। एक बार कोई तपस्वी माँ के साथ कहीं जा रहा था। नियम का अपवाद होने पर भी घटना ऐसी आ घटी। बीच रास्ते में ऐसा एक गहरा नाला आ गया जिस पर कोई पुल नहीं था। ऐसी परिस्थिति में विवश हो कर बेटे को नाला पार करने में माता को सहायता देनी पड़ी। परन्तु इसके पहले उसने दोनों बाहों में लत्ता लपेट लिया। चपक पाकर जब माता ने इसका कारण पूछा तब निर्विकार स्वर से पुत्र ने उत्तर दिया—“स्त्री-जाति के संपर्क में आने से चित्त में चंचलता का होना स्वाभाविक है। इसी प्रवृत्ति को रोकने के लिए मैंने ऐसा किया।”

परन्तु जैसे कृच्छ्र साधन में, वैसे ही स्त्रियों के संसर्ग और संपर्क में आने के मामले में संत सीमियोन स्टाइलाईट को कोई भी पा नहीं सकता। उसके गृह त्याग करने पर उसके पिता का हृदय मारे दुःख के टुकड़े-टुकड़े हो गया और अन्त में वह परलोक सिधारा। उसकी माँ जैसे-तैसे जीवित रही। सीमियोन ने घर छोड़ने के २७ वर्ष बाद जब यम-नियम का अक्षरशः पालन कर बड़ा नाम कमा लिया, तब उसकी स्नेहमयी जननी को पता चला कि उसका प्राणाधिक पुत्र जीवित है और वह कहाँ रहता है। मारे संवेग और आवेश से थराती उसने सीमियोन से मिलने के लिए मरुभूमि की यात्रा की, किन्तु उसके सारे आयास-प्रयास व्यर्थ गये। महात्मा की कुटी के निकट कोई भी स्त्री पहुँच नहीं पाती। नियमानुसार पुत्र ने माता से मिलना अस्वीकार कर दिया। आशा की धजी उड़ जाने पर फूट-फूट कर रोती और बिलखती हुई वह कुटिया के कपाट के सामने पड़ी-पड़ी अपने बेटे को धिक्कारने लगी। कहा जाता है कि उलाहना देते समय उसने इन शब्दों का उपयोग किया था—“बेटा, मुझसे इस प्रकार का बरताव करने का अर्थ क्या

है ? मैंने तुम्हें गर्भाशय में धारण किया था, तुमने मुझे शोक-सागर के अथाह पानी में डुबा दिया ! मैंने छाती से लहू निचोड़ कर उसी का दूध बनाया, फिर स्नेह की आँच में तपा कर उसी को तुम्हें पिलाया, तुमने मेरी आँखों से आँसू की धार बहायी । एक एक चुम्मे के बदले तुमने मेरे व्यथित हृदय को लंबी साँस लेने के लिए विवश किया !” निदान संत जी ने न जाने क्या सोच कर, शीघ्र मिलने के वादे का सन्देशा भेजा । उधर तीन दिन और तीन रात अनवरत रोने और बिलखने के बाद शोक, आया, अनाहार और अनिद्रा के बोझ से खिन्न होकर अभागिनी माता अपने अकृतज्ञ बेटे की कुटिया के रूँधे हुए द्वार के सामने परलोक सिधारी । माता के मरने के बाद चेलों के साथ संत जी वहाँ पहुँचे तथा दो-चार बँद दिखावटी आँसू बहाने के अनन्तर अपनी माता की आत्मा की सद्गति के लिए उन्होंने प्रार्थना भी की । अंततः वह अपनी कुटी को चल दिये ।

इस प्रकार दो-ढाई सौ वर्ष तक पाश्चात्य संसार में भौतिक शरीर को सभी प्रकार से कष्ट देकर काँटा जैसा सुखा देने तथा मानव हृदय की मूल प्रवृत्तियों का बलात् दम घोटने का नाम तपस्या पड़ा । जो मनुष्य जितने कठोर व्रतों का पालन करता था, वह उतना बड़ा तपस्वी माना जाता था । उधर जब हम इस बात पर विचार करते हैं कि हजारों पुरुष और स्त्री जीवन के सुख-संभोग तथा विलास-वासना को मुझी भर धूल जैसी त्याग कर अपार मरुस्थल के व्याकुल बुलावे पर सैकड़ों वर्ष तक मंत्र-मुग्ध जीवों के समान ठठ लगा कर वहाँ पहुँचते गये, तब हम मानव-हृदय के इस आकुल आग्रह को चकमाबाजी या धोखे की टट्टी कह कर उड़ा नहीं दे सकते । धार्मिक सिद्धान्तों में कुछ सचाई, कुछ तत्व होता है तभी तो जनता उसे मानती है । भले ही ढोंग रच कर एक-आध मनुष्य को थोड़े समय के लिए धोखा दिया जा सकता है । किन्तु जनता को अनिश्चित काल तक कोई भी ठग नहीं सकता । यह मानी हुई बात है । अतएव जो पाखंड जनता की आँखों में धूल फेंकने के लिए रचा जाता है, उसकी अवधि भी सीमित होती है । शरीर को यातना दे कर और कामना को नियंत्रित कर ईसाई तपस्वियों

को परमार्थ का संधान मिला होगा। तभी वे चाव से कृच्छ्रादि का साधन करते थे।

संन्यासी आन्दोलन का पाश्चात्य समाज पर प्रभाव—

ऊपर जिन घटनाओं का वर्णन हुआ है वास्तव में वे अतीव दुःखद हैं। परन्तु आश्चर्य की बात है कि ईसाई मत के अनुयायी उस काल के सभी दिग्गज धुरंधरों ने गला फाड़-फाड़कर प्रचार किया कि मानव मात्र को चाहिए कि वह दिखावटी सामाजिक बन्धनों को तोड़-ताड़कर अलग करे, माया-ममता, प्रेम-प्रीति और स्नेह-सहानुभूति से परे हो तथा पारिवारिक बंधनों की जड़ उखाड़ दे।

सामान्य रूप से उन दिनों रोमन समाज में विवाह का बंधन बड़ा ढीला था। पुरुष और स्त्री की इच्छा पर संबंध स्थायी होता था अथवा तोड़ दिया जा सकता था। ऐसी दशा में इच्छानुसार पति स्त्री को त्याग कर और स्त्री पति को तलाक दे संन्यास ले लेती थी। इस पर कानूनी प्रतिबंध कोई नहीं था। प्रारंभिक दशा में माता-पिता ने जिन नाबालिगों को संन्यास दिला दिया था, ऐसे बालक वयस्क हो जाने पर यदि चाहते तो फिर से गृहस्थाश्रम अपना सकते थे। परन्तु सातवीं शती में इस प्रथा पर प्रतिबंध लगा दिया गया, तभी से संन्यासी के लिए गृहस्थाश्रम में वापस आना असंभव हो गया। यदि कोई बालक पिता की इच्छा के विरुद्ध संन्यास लेना चाहता था तो पिता उसे रोक नहीं सकता था। संतों के जीवन-चरित्रों में इस प्रकार के पारिवारिक विद्रोहों की बड़ी सराहना की गयी है, तथा सम्राट् जस्टीनियन ने कानून द्वारा इस प्रथा का समर्थन भी किया। संत क्रिसोस्टोम ने ऐसी एक घटना का वर्णन किया है। बाप चाहता था कि बेटा सेना विभाग में प्रविष्ट हो। किन्तु इस बीच में संन्यासियों ने बहका कर उसे किसी मठ में भरती कर दिया। संत एम्ब्रोज के भाषण ऐसे मनोरंजक होते थे कि माताओं के लिए नव युवती कन्याओं पर लगाम कैसे रहना बड़ा कठिन हो जाता था। अतः उसके आने की सूचना मिलते ही वे बेटियों को घर में बंद कर देती थीं। संत एम्ब्रोज ने

एक बालिका की प्रवृत्ति का वर्णन करते हुए लिखा है कि वह कम अवस्था में किसी मठ में प्रविष्ट होना चाहती थी। उसके सगे-प्यारे नाना प्रकार की युक्तियाँ प्रस्तुत कर उसे मनाने लगे। उपस्थित व्यक्तियों में से एक कह बैठा कि “यदि तुम्हारे बाप जीवित रहते तो अवश्य ही तुम्हारा विवाह कर देते।” उत्तर में बालिका ने कहा कि “हमारे चुने हुए मार्ग में काँटा न बिछाना पड़े” संभवतः इसी विचार से उन्होंने महा-प्रस्थान किया। “आश्चर्य की बात है कि अबूम प्रश्न-कर्त्ता उसी दम मौत का शिकार बना। ऐसी परिस्थिति में औरों ने उसे रोकने की चेष्टा नहीं की। संत जीरोम असेला नाम की एक छोटी सी लड़का की आध्यात्मिक प्रगति का वर्णन करते हुए लिखता है कि जब वह कुल १२ वर्ष की थी तभी से वह नैष्ठिक जीवन व्यतीत करने लगी। कदापि किसी पुरुष की ओर वह आँख उठा कर ताकती नहीं तथा निरंतर घुटने टेक कर प्रार्थना करने के कारण उसके घुटने ऊँटों की भाँति गठीले हो गये थे। उसी प्रकार पौला नाम की एक विधवा पति की मृत्यु के बाद अपने पुत्रों को अनाथ छोड़ कर स्वयं संन्यासिनी बन गयी। बच्चों के बहुत मनाने पर भी वह अपने संकल्प से डिगी नहीं। साथ ही उसने निजी संपत्ति दान में दे दी और पुत्रों के लिए केवल श्रृण का भार रख छोड़ा। वस्तुतः ईसाई मत के अनुयायी कुछ धुरंधरों ने खुल्लमखुल्ला घोषणा की कि जिस नवयुवक ने माता को तड़पते देख कर अविचलित रहना सीखा है, उसके लिए कोई भी कुच्छ्र असाध्य नहीं। संत जीरोम हेलिओडोरस् को यह त्याग कर संन्यास आश्रम को अपनाने के लिए प्रोत्साहित करते हुए वही रागिनी अलापता है। वह इस प्रसंग में कहता है कि “संभव है तुम्हारा भैना भुजाएँ फैला कर तुम्हें बाँधने का प्रयास करे। उलम्हे हुए केश पाश लेकर माता वसन-भूषण फाड़ते और तोड़ते हुए अपनी सिकुड़ी हुई छाती की ओर तुम्हारा ध्यान दिलावेगी-बचपन में जो तुम्हारी जीवन-बूटी बनी थी, तुम्हारा पिता चौखट के आरपार बेसुध गिर पड़ेगा—ऐसी परिस्थिति में उसकी देह नाघ कर चल पड़े। आँसू न बहा कर कूसांकित झंडे की ओर बढ़ चलो। ऐसी दशा में निर्मोही होना ही करुणा की पराकाष्ठा है।

केवल भगवद्-प्रेम और नरक की भीति ऐसी बेड़ियों को अनायास तोड़ सकती है। शास्त्रों का कहना है कि माता-पिता की आज्ञा मानो परन्तु जो मनुष्य मसीह से बढ़ कर उनको मानता है, वह नरक में जाता है.....।”

आगे चल कर भी पाश्चात्य समाज में उपर्युक्त भाव-धारा की परि-पाटी में कोई हेर-फेर नहीं हो पाया। इस प्रकार पारिवारिक गोष्ठी से माता-पिता की प्रधानता, अनुशासन और अधिकार के मर मिटने से उनके संतानों की प्रेम-प्रीति, स्नेह-भक्ति, अनुकंपा और सहानुभूति जैसी मूल प्रवृत्तियों में क्रमशः भाटा आ गया। धीरे-धीरे पुरोहिता ने उस शून्य सिंहासन पर अपना अधिकार जमाया और आगे चलकर स्वीकारोक्ति द्वारा पाप-मोचन का पाखंड रच सरल विश्वासी स्त्री-जाति को अपने वश में लाकर पाश्चात्य संसार में पुरोहितों ने अपने लिए पार्थिव साम्राज्य की नींव पक्की की।

ऊपर कहा जा चुका है कि कालान्तर में पाश्चात्य संसार में तपश्चरण और कृच्छ्र साधन के मामले में बड़ी जटिलता समा गयी। ऐसी दशा में उसमें आन्तरिकता से कहीं अधिक दिखावापन आ गया। अबूझ जनता की आँखों में धूल झोंकने के लिए तपस्वी विचित्र-विचित्र ढोंग और कृच्छ्र रचने लगे। क्रमशः उनके में विश्व-ब्रह्मांड की भलाई करने की भावना फीकी पड़ गयी। आश्चर्य नहीं, शीघ्र ही वे बुरी लतों के शिकार बनने लगे।

तपश्चर्या करने के प्रसंग में तपस्वी लोग जो मानव हृदय की कोमल प्रवृत्तियों को बलात् अवरोध करते थे, उसकी छाप अमिट रूप से उनके स्वभाव पर पड़ती थी। सामान्य रूप से तपस्वी प्रकृति के स्वार्थ पर, हठी, अहम्भन्य, धर्मान्ध और अनुदार होते थे। ईसाई मत के तपस्वियों के बारे में कहा गया है कि एक ही विषय में दत्तचित्त होने तथा आधारभूत अज्ञता के कारण वे बड़े रूढ़िवादी और कट्टर होते थे। परम्परा के विरोधी किसी भी मत या सम्प्रदाय वालों के प्रति वे सहनशील नहीं होते थे। मुख्यतः ईसाई पाद-रियों के उकसाने से धार्मिक सहनशीलता पर जो प्राचीन रोम साम्राज्य की विशिष्टता थी, बह्ना लगा। स्वार्थी और धर्मान्ध पुरोहितों के उभारने से

विकृत मत के ईसाई सम्प्रदायवालों तथा मूर्त्तिपूजकों के विरुद्ध कठोर से कठोर कानून रचे गये। इसके अतिरिक्त ईसाई मुनि और तपस्वी लोग गोल बाँध कर देहाती क्षेत्रों को रौंदते फिरते थे। वे बलात् ग्रामीण जनता के मंदिर ढहा देते, देव मूर्त्तियाँ तोड़-ताड़ देते और वेदियों को अपवित्र करते फिरते थे। इस प्रसंग में देहाती लोगों से इनका प्रायः दंगा-फसाद हुआ करता था। इन लड़ाइयों में जो मुनि काम आते थे, वे शहीद माने जाते थे। इनकी कट्टरता के आगे सिरापिऊम की भव्यता और फिडियास की बनायी हुई मूर्त्तियाँ तक थराने लगती थीं।

ईसाई मत का प्रचार होने से पाश्चात्य समाज में मानव हृदय के स्थायी भावों के विकास के साथ-साथ नैतिक उन्नति अवश्य हुई। किन्तु देश-प्रेम की भावना और बौद्धिक शक्ति प्रभृति, जिन्हें प्राचीन मतों की पृष्ठ पोषकता से बढ़ावा मिला था, उनका लोप-सा हुआ। प्राचीनकाल में यूनान और रोम के होनहारों को प्रारम्भिक दशा में अच्छे नागरिक बनने तथा जननी जन्मभूमि के प्रति उनके कर्तव्य का पाठ पढ़ाया जाता था। आगे चलकर देश-प्रेम के भाव को केन्द्र मान कर अन्यान्य सद्गुणों को विकसित करने की चेष्टा की जाती थी। रोम साम्राज्य से इस भाव के मर-खप जाने के कारण मुख्यतः दो थे—एक राजनीतिक, दूसरा बौद्धिक। कालान्तर में भिन्न-भिन्न भिन्न जातियों के आ मिलने के कारण रोम साम्राज्य सार्वजनिक संस्था बन गया। ऐसे साम्राज्य में सभी जाति के लोग निजी जाति, धर्म और रूप-रंग भुला, सामान्यतः रोमन नागरिक बन कर एक ही तानाशाही की देख-रेख में रहा करते थे। ऐसी परिपाटी में जातीयता की भावना जागरित करना अथवा देश-भक्ति की प्रेरणा भरना संभव नहीं। स्वभावतयाः क्रमशः रोम साम्राज्य में देश-भक्ति नाम की कोई प्रेरणा रहने नहीं पायी। ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये त्यों-त्यों उत्तर काल के साम्राज्य में स्टोइक मत का बहिष्कार कर प्राच्य मतों का प्रसार होने लगा। साधारणतः वे वैयक्तिक होते थे और आचार-अनुष्ठान, ध्यान-धारणा जैसे विषयों पर अधिक बल देते थे। वस्तुतः रोम में जब से जातीय भावना में भाटा आने लगा, तभी से वहाँ प्राच्य मतों का

प्रचार होने लगा। प्रायः देखा जाता है कि धार्मिक मामलों में लोग अधिकतर स्वाभाविक सहानुभूति द्वारा प्रेरित होते हैं। ऐसी दशा में विचार और बुद्धि से कदाचित् ही काम लिया जाता है। जातीय प्रतिभा के साथ न पटने के कारण स्काटलैंड में कैथोलिक मत या आंग्ल मत का प्रचार नहीं हो पाया। उसी प्रकार आयरलैंड में आंग्ल मत का प्रचार नहीं हो सका।

प्रारंभ से ही ईसाई मत ने देश-भक्ति की भावना को बढ़ावा नहीं दिया। यद्यपि पहले पहल रोम साम्राज्य में ही वह फूलने फलने लगी थी; तथापि ईसाई मत के अनुयायी उस साम्राज्य को मसीह-विरोधी संस्था मानते थे। उनकी ऐसी धारणा थी कि साम्राज्य के मटियामेट होने पर ही दैवी शासन स्थापित हो सकता है। अतएव खुल्मखुल्ला सशस्त्र विद्रोह न कर उन्होंने अपने साम्राज्य की प्रतिभा से असहयोग करने की नीति अपनायी। इस सिलसिले में वे प्राचीनकाल के देश-भक्त रोमन शहीदों की निंदा करते फिरते, जातीय क्रीड़ा-कौतुक में भाग न लेते, सार्वजनिक जीवन से अलग रहते तथा युद्ध-विग्रह में हाथ नहीं बँटाते थे। उनका सारा ध्यान परलोक पर जमा रहता था और जब तक उनकी धार्मिक स्वतंत्रता के साथ छेड़-छाड़ नहीं की जाती थी, तब तक चाहे कोई भी उन पर शासन क्यों न करे, वे इसकी तनिक भी परवाह नहीं करते थे।

ईसाई नीति-विज्ञान ने प्राचीन रोम के नैतिक स्तर में बड़ी भारी उलट-पुलट कर दी। प्राचीन रोम में यदि किसी को सज्जन कहा जाता था, तो उसका यही अर्थ निकलता कि देश-भक्ति के विषय में उक्त व्यक्ति बहुत बढ़ा-चढ़ा है। दूसरे शब्दों में देश-भक्ति की प्रगाढ़ता के अनुपात पर नागरिकों के नैतिक स्तर की उच्चता निर्भर थी। परन्तु ईसाई मत ने प्राचीन आचार-विचार तथा नैतिक मान के रूप-रंग में भारी उलट-फेर कर दिया। उसके सिद्धान्त के अनुसार देश-भक्ति यदि अनिवार्य सद्गुण नहीं माना जाता तो देशद्रोहिता कोई कुनीति अथवा अवगुण नहीं मानी जाती; प्रत्युत देशद्रोही शहीदों के समान पूजे जाते थे। इतिहास में ऐसी बटनाएँ विरल नहीं। वंडालों ने जब अफ्रीका पर चढ़ाई कर दी तब

डोनाटिस्ट संप्रदाय वालों ने कट्टरपंथी ईसाइयों के अत्याचार से तंग आ कर उनका सथ दिया। फलतः अफ्रीका तभी से रोम साम्राज्य से अलग हो गया। थर्मोपोली की घाटी जहाँ लियोनिडस् ने कुल ३०० जवानों के साथ ईरान के महामहम सम्राट् जर्कसीज़ के दाँत खट्टे कर दिये थे, बिना युद्ध के गॉथ टेटेरों के हाथ सौंप दी गयी। एक प्राचीन लेखक ने कुछ ईसाई मुनि और संन्यासियों को इस दुर्घटना के लिए उत्तरदायी ठहराया है। उत्तर काल में मनोफीसाइट संप्रदाय वालों की सहायता से इसलाम ने मिस्र पर अपनी विजय-पताका फहरा दी थी।

हमारे देश के प्राचीन साहित्य में देश-भक्ति की चर्चा कदाचित् ही कहीं की गयी हो। परिणामतः बौद्धों के देशद्रोहिता करने पर अरब वालों ने सिंध पर धाक जमायी और सद्धर्मियों के जा मिलने से बंगाल पर तुर्कों का अधिकार हो गया।

संन्यासी आन्दोलन ने कई शतियों तक ईसाई संसार की समग्र शक्ति और प्रातभा को मरु-जीवन पर केन्द्रित किया था। वहाँ जातीयता या राजनातिक जीवन का नाम-निशान तक नहीं था। ऐसी दशा में देश-भक्ति अथवा देश-प्रेम का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। अतः सैकड़ों वर्ष के लिए यूरोप के इतिहास में इस भावना का उल्लेख तक नहीं है।

संन्यासी आन्दोलन ने याद परोक्ष रीति से देश-भक्ति की प्रेरणा को मिटा देने में सहायता दी तो उसने प्रत्यक्ष रूप से मानव के स्थूल शरीर से संबंधित कुल विषयों का अतोव तुच्छ और हेय माना। संन्यासियों का सारा ध्यान आत्मिक उन्नति करने पर केन्द्रित रहता था। फलतः वे शरीर के प्रति ध्यान देने की आवश्यकता का अनुभव तक नहीं करते थे। प्रत्युत भोजन न कर, शरीर को नाना प्रकार कष्ट दे तथा व्रत-पालन और कृच्छ्रों का साधन कर वे उसे बिलकुल सुखा डालते थे जिससे पाप का बीज जड़ जमाने न पावे। सैकड़ों साल बाद पाश्चात्य देशों के लोगों ने आविष्कार किया कि शरीर रूपी मंदिर में परमात्मा विराजते हैं; अतः इसका पालन-पोषण करने की आवश्यकता है और शरीर के स्वस्थ रहने से ही

आध्यात्मिक उन्नति करना संभव होता है। यहाँ स्मरणीय है कि बुद्ध भगवान् अपने वैयक्तिक अनुभव के द्वारा इस सिद्धान्त पर पहुँचे थे कि तपश्चरण व्यर्थ है। अतः उन्होंने अनुयायियों को “मज्झिम मग्ग” के अनुसरण करने का उपदेश दिया था।

उपर्युक्त अन्यान्य परिणामों की भाँति शरीर की भलाई के प्रति उपेक्षा प्रदर्शित करना भी संन्यासी आन्दोलन की एक देन माननी चाहिए। क्रमशः मध्य काल में इस संस्कार ने विद्यालयों पर अपना प्रभाव विस्तृत किया। उन दिनों शिक्षक अधिकतर मठों के निवासी मुनि और संन्यासी होते थे। स्वभावतः वे शरीर को भूखा छोड़ विद्यार्थियों के आध्यात्मिक विकास पर बल देते थे। प्रायः देखा जाता है कि कोई भी संस्कार चाहे कितना ही भ्रान्त क्यों न हो, एक बार लोगों के मन में बैठ जाने से उसे हटाना बड़ा कठिन हो जाता है। उसको हटाते-हटाते भी सैकड़ों वर्ष लग जाते हैं। आश्चर्य नहीं संसार के पिछड़े हुए भू-भागों में शिक्षा संबंधी मध्यकालीन इस संस्कार ने आधुनिक काल के शिक्षा-शास्त्रियों के भाव-विचारों को भी संकीर्ण बना रखा था। फलतः पाश्चात्य देशों में बहुत दिनों तक एकांगी शिक्षा दी गई, अर्थात् शरीर को भूखा छोड़ सारा ध्यान बौद्धिक विकास पर दिया जाने लगा।

इस प्रकार के मनोभाव की थोड़ी-बहुत क्लक सन् १७८८ में स्थापित अमेरिका के एक प्राचीन कालेज के सूचना-पत्र में देख पड़ती है—

कालेज के सभी विद्यार्थियों को पाप के प्रलोभनों—जैसे सुकुमारता, नखरेबाजी तथा स्त्री-जनों-चित हाव भाव प्रभृति से बहुत दूर रखना चाहिए। अतः शरीर और मन को स्वस्थ रखने के लिए उन्हें पौ फटने के साथ उठने का अभ्यास करना चाहिए। इस सिद्धान्त के अनुयायी बन कर हम क्रीड़ा-कौतुक और आमोद-प्रमोद करने की सख्त मनाही करते हैं। क्या जाड़ा और क्या गर्मी, विद्यार्थी तड़के ५ बजे उठ जायँ। उनके मनोविनाद के साधन खुले स्थान में बागवानी, टहलना, अश्वारोहण प्रभृति हों तथा बंद कमरे में उन्हें बढ़ई, लोहार इत्यादि के काम सिखाये जायँ। विद्यार्थियों को

कभी खेल-कूद में सम्मिलित न होने दिया जाय; यतः बचपन के खेलाड़ी बूढ़े हो जाने पर भी खेलने रहेंगे.....।”

आधुनिक काल का सिद्धान्त

किन्तु समय के परिवर्तन के साथ-साथ आज कल खेल-कूद के बारे में लोगों की सम्मति बिलकुल पलट गयी है। आधुनिक काल के कुछ चिन्तनशील लेखकों की सम्मति है कि—

“छोटी अवस्था के होने के कारण बच्चे खेलते नहीं। प्रत्युत खेलने के लिए वे नन्हें बनाये जाते हैं।” (ग्रज)

“प्रत्येक बच्चे के अन्तःस्थल में कुछ स्थान खाली रहता है। इसको उत्तेजक तथा चसक के क्रीड़ा-कौतुक द्वारा भरने की आवश्यकता है। यदि उपकारी और रोचक खेल द्वारा वह रीता स्थान भरा न गया तो विवश होकर वह उसे उत्तेजक तथा मनोरंजक, परन्तु अपकारी, तत्परता द्वारा पूरा करेगा।” (रुजवेल्ट)

“मानव जाति के अनुभवों में क्रीड़ा-कौतुक बड़ा महत्वपूर्ण विषय है। बच्चों को खेलने से रोकने अथवा उसके द्वारा बुरी भावनाएँ उत्पन्न का अर्थ उनके गढ़ते हुए चरित्र को ऐसे बुरे प्रकार से बिगाड़ना है जो कभी सुधर नहीं सकता।” (फासाडक्)

आधुनिक काल के शिक्षाशास्त्री काम-धंधे और क्रीड़ा-कौतुक में विशेष अंतर नहीं मानते। अभी तक हमारे देश में बहुत से ऐसे भी व्यक्ति हैं, जो पढ़ने-लिखने के कार्य को बेढब बेगारी मानते हैं क्योंकि उस प्रसंग में विद्यार्थी को घंटों बंद कमरे में बैठ कर सालों रगड़ना पड़ता है। उनकी दृष्टि में विराम अथवा मध्यावकाश का महत्व कहीं अधिक है, जब पोथी-पत्रे की बातें भूल कर विद्यार्थी आनंद मनाने लगते हैं। शिक्षाशास्त्रियों की सम्मति है कि मध्यावकाश इसलिए दिया जाता है कि विद्यार्थी उस समय अपने अंग-प्रत्यंगों को तनिक पसार लें जिससे खाना पचे और फिर से कक्षा में कस कर काम करने के लिए वह तैयार हो जाय। अतः उनकी सम्मति है कि विराम का समय शिक्षा-प्रणाली में नये जीवन भरने का साधन मात्र है।

जीवन हमारा एकात्मक है। काम-धंधे में फँसे मानव और खेलने में मस्त मानव में कोई अंतर नहीं। एक ही मनुष्य भिन्न-भिन्न समय में अलग-अलग काम करता हुआ पाया जाता है। किन्तु संवेदा उद्देश्य यही होना चाहिए कि दोनों काम एक दूसरे के परिपूरक बनें। अवकाश के समय वह जो भी कुछ करे वह उसके काम-धंधे का सहायक हो तथा काम काज करते समय वह अवकाश का मजा चखे और बेगार न टाले। विराम अनजाने में उसकी शिक्षा का मार्ग प्रशस्त करे; उसके साहस, आशावादिता, उत्साह प्रमुख मानसिक शक्तियों को बनाये रखे, स्वास्थ्य को बिगड़ने न दे तथा उसके व्यक्तित्व को विकसित करे।

साधारणतः देखा जाता है कि विद्यार्थी खेल-कूद, सैर-सपाटा जैसे तत्परताओं में साग्रह भाग लेते हैं; परन्तु नृत्य-गीत, कला-कौशल, नाट्याभिनय प्रभृति आमोद-प्रमोदों में सक्रिय भाग लेने से जी चुराते हैं। यह कमी हमारी प्रचलित शिक्षा पद्धति की है। वह हमें किताबी शिक्षा अधिक देती है, परन्तु जीवन का उपभोग करने की शिक्षा कम देती है। उचित ढंग की शिक्षा-प्रणाली किताबी शिक्षा देने के अतिरिक्त जीवन को साधक बनाने के लिए विद्यार्थियों को नाट्यकला, नृत्य-गीत, साहित्यिक, कला संबंधी, सघटित खेल-कूद, व्यायाम प्रभृति की शिक्षा देगी जिससे उनकी निपुणता, क्रियाशीलता, और गुणग्राहिता की शक्ति की अभिवृद्धि हो तथा उनका मनोविनोद के साधन व्यापक हों। साथ ही वह शिक्षार्थियों को उस सीमा तक पहुँचाने का प्रयत्न करेगी जहाँ खेल-कूद, काम-धंधे के साथ जुन जाता है और आमोद-प्रमोद अनायास शिक्षा का साधन बन जाता है। तभी मानव जीवित रहने का मजा लूटता है। तभी जीवन उपभोग्य बनता है, अन्यथा भाथी की तरह केवल श्वास-प्रश्वास लेने की क्रिया को प्राण धारण की कला नहीं कहा जा सकता।

शान्त होकर यदि हम थोड़ी देर तक विचार करें तो प्रतीत होगा कि काम-धंधे और क्रीडा-कौतुक में विशेष अन्तर नहीं। कोई भी काम क्यों न हो, यदि वह लगन से किया जाय तो उसका पारितोषिक विमल आनन्द

है, क्योंकि वह करनेवाले की योग्यता का परिचय देते हुए उसकी कृति माना जाता है। दूसरे शब्दों में वह काम उसके आत्म-विकास का साधन बन जाता है। रसोइया अपने बनाये हुए भोजन की प्रशंसा सुन कर जैसे फूला नहीं समाता, उसी प्रकार का आनन्द एक अध्यापक को होता है जब उसके पढ़ाने के ढङ्ग की सराहना की जाती है, अथवा किसी गवैये की कला पर वाह-वाह किया जाता है। यही बात खेल-कूद में भी है। बच्ची लगन से बनायी हुई कीचड़ की पूरी और मिठाई जब अपनी सहेलियों को परोसने लगती है, तब वह थोड़े ही यह सोचती है कि यह मद्दज खेल है, उसमें सार कुछ है ही नहीं ! ' सर्वोपरि, यदि वह अपने हाथ से कोई खिलौना बना ले तो उसके आनन्द का वार-वार नहीं रह जाता।

किन्तु संसार में सभी काम लगन के साथ स्यात् ही किये जाते हैं। बहुत से काम ऐसे भी हैं जिनको करते समय लोग बेगार टालते रहते हैं। कुछ विशेषज्ञों की सम्मति है कि जीवन के ऊबड़-खाबड़ों से परिचित होने के लिए बच्चों से ऐसा भी काम लेना चाहिए जिसमें उनकी रुचि नहीं। बात तो सङ्गत है, इसमें कोई संदेह नहीं। फिर थोड़ा-बहुत मोयन देकर विषय को प्रारम्भिक दशा में कुछ भुरभुरा बनाना अध्यापक का धर्म है, जिससे नीरस विषयों को भी हमारे विद्यार्थी सोत्साह और मन लगा कर सीखें। जब काम कठपुतली की तरह किया जाता है तथा उसके करने में कर्त्ता का कोई स्वार्थ नहीं और सिखाने के उद्देश्य से भी वह परिचित नहीं, तभी काम बेगार टालना हो जाता है, तब वह खेल नहीं भाता और रोचक नहीं रह जाता। ऐसी दशा में लगन के स्वरूप और उसकी विलक्षणता का विशद वर्णन करने की आवश्यकता है।

लोक-शिक्षा

समय के परिवर्तन के साथ-साथ आधुनिक काल में लोक-शिक्षा के उद्देश्य में बहुत कुछ उलटफेर होने लगा है। हमारे देश में प्राचीन और मध्यकाल में आजकल की भाँति गली-कूचों में पाठशालाएँ खोलकर लोक-शिक्षा देने का व्यापक प्रचार राष्ट्र का कर्त्तव्य नहीं समझा जाता था तथा

उसका उद्देश्य विद्यार्थी के व्यक्तिगत गुणों को विकसित करना होता था । विद्यार्थी भी प्रायः उच्च जाति के बालक होते थे । इस प्रकार उन दिनों हमारे देश में कितनी शिक्षा का क्षेत्र कुछ मर्यादित था । जिस व्यापक पैमाने पर आज कल लोक-शिक्षा दी जा रही है उसका श्री गणेश करने का श्रेय विदेशी व्यापारिक संस्था को है । परन्तु उसका ध्येय बड़ा संकीर्ण था । प्रारम्भिक दशा में विदेशी सरकार ने इने-गिने जो विद्यालय खोले थे उनका मुख्य उद्देश्य कुछ अंग्रेजी जानने वाले ऐसे लेखक उत्पादित करना था जो शासन के काम में सहायता कर सकें ।

राजनीति के क्षेत्र में उलट-पलट हो जाने के कारण अब लोक-शिक्षा के उद्देश्य में भी कुछ उदारता आने लगी है । अब लोक-शिक्षा के उद्देश्य सामान्य रूप से ये माने जाते हैं—जीवन की समस्याओं को अनायास हल करने के लिए विद्यार्थियों को शरीर और मन से स्वस्थ और उपयुक्त बनाना; उनकी रुचि को व्यापक बनाना; प्राचीन परम्परा की रक्षा करना; उन्हें रोजी कमाने में समर्थ बनाना; उनका चाल-चलन इस ढङ्ग का बनाना; जिससे भविष्य में वे लोकतन्त्रात्मक सरकार के एकनिष्ठ तथा कर्त्तव्य परायण नागरिक बनें, इत्यादि ।

बहुत से लोग सोचते हैं कि विद्यालय की चौखट पार करने के साथ-साथ उनकी शिक्षा समाप्त हो गयी और वे मनमाना कर सकते हैं । परन्तु ऐसी धारणा भ्रान्त है । उन्हें संभवतः मालूम नहीं कि शिक्षा शब्द की परिभाषा बड़ी व्यापक है । जन्म लेने के साथ मानव की शिक्षा का आरम्भ होता है तथा आमरण उसका क्रम जारी रहता है और जीवन भर के कुल अनुभव उसके अन्तर्गत हैं । उधर विद्यालयों का ध्येय मर्यादित है । संघटित रूप से जाति की परम्परा को जिसके पीछे उसके सैकड़ों और हजारों वर्षों का अनुभव या साधना और अध्यवसाय छिपा हुआ है, नई पीढ़ी के होनहारों के हाथ सौंपना जिससे उसका क्रम बिगड़ने न पावे । समग्र जाति की संस्कृति और सभ्यता को बनाये रखने के लिए यह अनिवार्य है । औद्योगीकरण, अर्थनैतिक दशा, आबादी की बढ़ती प्रभृति के लिए आधुनिक काल के

समाज में जो समस्याएँ उठ खड़ी हो रही हैं, उनका समाधान कर सकें ऐसे कुछ चिन्तनशील जन-नायकों की सृष्टि करना; एक-एक विद्यार्थी तथा उनके अनुभवों की समष्टि को इस रीति से चालित करना जिससे अपने अपने व्यक्तित्व को विकसित करते हुए वे नव-संगठित समाज में अपने को खपा सकें। सामान्य रीति से विद्यालयों का ध्येय यही माना जाता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि विद्यार्थियों को लोकतंत्रात्मक राष्ट्र का एकनिष्ठ नागरिक बनाना भी शिक्षा-संस्थाओं का एक कर्त्तव्य है। इस विचार से शिक्षणालयों में विद्यार्थियों को ऐसी सुयोग-सुविधाएँ देने की आवश्यकता है जिससे आगे चलकर वे लोकतंत्रात्मक समाज में अनायास अपने को खपा सकें। दूसरे शब्दों में विद्यार्थियों को कार्यतः लोकतंत्रात्मक बरताव करने की शिक्षा विद्यालयों में देनी चाहिए। तभी शिक्षा सार्थक बनेगी।

साधारणतः प्रत्येक नागरिक को आत्म-विकास की सुयोग-सुविधाएँ प्रदान करना, मानवता को महत्व देना, व्यक्तित्व के प्रति सम्मान प्रदर्शित करना, प्रत्येक नागरिक को संयमी और आत्म निर्भरशील बनाना, लोकतंत्रात्मक शासन का आदर्श माना जाता है। लोकतंत्रात्मक शासन मानव मात्र के व्यक्तित्व का विकास करने पर अत्यधिक बल देता है। छोटे-को बड़ों की स्वार्थसिद्धि का साधन न मान कर उन्हें मानवता का अधिकार देने के लिए वह सदैव उत्सुक रहता है। छोटे-बड़े सभी नागरिकों को संपन्न मात्रा में सुयोग-सुविधा देने के उद्देश्य से लोकतंत्रात्मक राष्ट्रों में लोक-शिक्षा का व्यापक प्रबन्ध किया जाता है। ऐसी दशा में सरकार और समाज का संघटन इस प्रकार का होना चाहिए, जिससे सार्वजनिक मंगल हो। इन विषयों की शिक्षा विद्यालयों में बचपन से ही देने की आवश्यकता है। इसके विपरीत ऐसे राष्ट्र भी हैं जहाँ निरंकुश शासन प्रचलित हैं। वहाँ सरकार के प्रति अंध-भक्त उपजाने, युक्तहीन आदेशों का पालन करने और शान्त-शिष्ट नागरिक बनने का प्रयत्न किया जाता है। पुनः ऐसे राष्ट्र भी हैं जहाँ समाजतंत्र और समष्टिवाद (कम्युनिज़म) का प्रचार है। वहाँ सार्वजनीन मंगल के लिए व्यक्तित्व का विलोप कर देने की रीति प्रचलित है।

जीवन की समस्याओं को उचित रीति से हल करने के लिए मुख्यतः शिक्षा दी जाती है। तीखी बुद्धि और निपुणता होने से मानव के काम-धंधा करने में सहूलियत होती है और आस-पास की परिस्थिति के साथ अपने को खपा लेना भी सुगम होता है। शिक्षा-पद्धति के द्वारा विद्यार्थियों की रचनात्मक शक्ति को विकसित करने की आवश्यकता है जिससे आगे चल कर नये अनुभव प्राप्त करने के साथ-साथ वे अपने प्राचीन आदर्श संस्कार, स्वभाव तथा दृष्टिकोण में फेर-बदल कर सकें; यतः आवश्यकता के अनुसार सामाजिक रीति-नीति में सर्वदा उलट-फेर होता आया है। बहुमुखी शिक्षा विद्यार्थियों के दृष्टिकोण को उदार और प्रशस्त बनाती है तथा नई नई परिस्थितियों का सामना करने के लिए नये नये उपायों के ढूँढ़ निकालने में सहायता देती है। सर्वोपरि कुसंस्कार, अज्ञता, अंधविश्वास अहम्मन्यता, संकीर्णता, दृढ़ प्रभृति अवगुणों का नाश कर विद्यार्थियों के हृदय को वह उदार बनाती है। पुनः रचनात्मक तत्परता में सक्रिय भाग लेने से विद्यार्थियों के योजना बनाने, दायित्व लेने और महत्वपूर्ण कामों को निबहाने की शक्ति की अभिवृद्धि होती है।

लगन

शिक्षा सम्बन्धी किसी विषय की चर्चा छिड़ते ही लेखक और अध्यापक लोग 'एकाग्रता', 'तन्मयता', 'ध्यान देने', 'मन लगाने' और 'लवलीन होने' की आवश्यकता पर इतना बल देते हैं कि क्या कहा जाय? परन्तु 'ध्यान देने' या 'तन्मयता' के प्रकृत अर्थ से बहुत ही कम लोग परिचित हैं। भ्रान्त धारणा के वश में हो कर कुछ लोग विद्यार्थियों की तात्कालिक अतः क्षणिक एकाग्रता से प्रभावित होकर केवल ऐसे ही विषय पाठ्य-क्रम में सम्मिलित करने पर बल देते हैं जिनके प्रति विद्यार्थी कुछ ढेर के लिए आकृष्ट हो जाय। निस्सन्देह जब नये विषय को अपनाने की प्रबल लिप्सा से प्रेरित होकर बालक कुछ सीखने लगता है तभी शिक्षा से सुफल मिलता है। प्रत्युत जब अध्यापक की लाल आँखें और गरज से घबराकर विद्यार्थी दिखावटी ध्यान देते हुए बेगार टालता जाता है, तब ऐसी शिक्षा का फल क्षणस्थायी होता

है तथा वह शीघ्र ही उसे भूल भी जाता है। इस प्रकार अध्यापक के सारे परिश्रम पर पानी फिर जाता है। परन्तु विद्यार्थियों को लोकतंत्रात्मक राष्ट्र में खपा लेने योग्य बनाने तथा उनकी मानसिक शक्तियों को विकसित करने के लिए यह परमावश्यक है कि हमारे होनहार विद्यार्थियों के पाठ्य के अन्तर्गत बहुत से ऐसे भी विषयों का समावेश करना पड़े जिनमें उनकी रुचि नहीं अथवा जिससे वे जी चुराते हों। इस प्रकार ऊपरी तौर से तन्मयता के सिद्धान्त और शिक्षा के ध्येय में कुछ मेल न बैठने का भाव दीख पड़ता है। परन्तु तन्मयता वा एकाग्रता का प्रकृत अर्थ समझने से यह खटक नहीं होगी।

अधिकतर मानव सहज अथवा जन्मगत रुचि लेकर संसार में जन्म नहीं लेते। निरन्तर अभ्यास और अनुभव के द्वारा ही रुचि की उत्पत्ति होती है। ऐसी दशा में विद्यार्थियों में रुचि उत्पन्न करना और विषय में उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति हो, उसका आविष्कार करना अध्यापक का धर्म है। शिक्षा के क्षेत्र में रुचि शब्द का अर्थ है क्रियाशीलता द्वारा किसी भी काम, पाठ या अभ्यास के प्रति शिक्षार्थी की आन्तरिक अनुरक्ति उत्पन्न करना। क्रियाशीलता रोचक भी है, साथक भी है, यतः बहुत से लोग उसके प्रति आकृष्ट होते हैं; भले ही इने-गिने कुछ लांग उससे जी चुराते हों। सर्वोपरि विद्यार्थियों के मन में यह बात जमा देने की आवश्यकता है कि अमुक विषय का संबंध विद्यालय के भीतर और बाहर के वास्तव जीवन से है। उस समय पारितोषिक दे, अंक दे और छुट्टी देने का लालच दिखाकर विद्यार्थियों का बनावटी ध्यान उपजाने की आवश्यकता नहीं होगी। विषय वस्तु को रोचक बनाने के लिए विद्यार्थियों की सहयोगिता की आवश्यकता है। वे विषय से सम्बद्ध क्रियाशीलता का निर्देश दे सकते हैं, शिक्षणीय विषय का प्रस्ताव कर सकते हैं, इत्यादि। किन्तु हर दशा में यह अनिवार्य है कि पाठ्य-क्रम के अनुसार उन्हें कुल विषयों की शिक्षा दी जाय और उनके मन में यह बात जमा दी जाय कि अमुक विषय सीखने की आवश्यकता है क्योंकि उसका संबंध वास्तव जीवन से है।

विषय को रोचक बनाने के लिए कोई-कोई अध्यापक उसे अत्यधिक सरल बना कर बिलकुल भुरभुरा और सुगम बना देते हैं। प्रारंभिक दशा में ऐसा करना यद्यपि आपत्तिजनक नहीं है; किन्तु अध्यापक को सदा स्मरण रखना चाहिए कि परिश्रम किये बिना विद्या नहीं सीखी जाती। किसी भी विद्या को अपनाने के लिए यह परमावश्यक है कि शिक्षार्थी प्राणायाम से परिश्रम करे। शिक्षणीय विषय में गहनता की कमी होने से बच्चे उसे खिलवाड़ समझ कर कोई महत्व नहीं देते और साथ ही परिश्रम करने से हाथ खींचने लगते हैं।

कुछ लोगों की ऐसी धारणा है कि जहाँ तन्मयता है, वहाँ परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं। उनका कहना है कि जो काम ध्यान लगा कर किया जाता है, उसके पीछे निरंतर पड़े रहने या रगड़ने-घसीटने की जरूरत नहीं। परन्तु ऐसी धारणा बड़ी भ्रामक है। इस प्रकार के विचारों को दूर करने के लिए हमें वैज्ञानिकों की जीवन-यात्रा पद्धति को देखना चाहिए, जो प्रयोगशालाओं में दिन-रात अन्वेषण के काम में लवलीन रहते हैं, कलाकारों के अध्यवसाय पर ध्यान देना चाहिए, जो रचनात्मक कार्य करने में अपना जीवन गँवा देते हैं, कारीगरों की ओर दृष्टिपात करना चाहिए जो निर्माण के कार्य में सदा व्यस्त रहते हैं और पहलवानों के निरंतर उद्योग पर गौर करना चाहिए, जो अपने शरीर को बनाने और कुशलों के पेंचों को अपनाने में अथक परिश्रम करते हैं। यह बात तो मानी हुई है कि उपर्युक्त विषयों के प्रति उनकी आन्तरिक अनुरक्ति है तभी वे करते रहते हैं। यदि उन विषयों में उनकी रुचि न होती तो किसी भी प्रकार के बाहरी दबाव या प्रलोभन द्वारा उनसे इतना काम कभी लिया नहीं जा सकता था। अतः यह बात सिद्ध है कि विषय रोचक होने पर भी उसे सीखने के लिए परिश्रम करने की आवश्यकता है।

सचमुच की आवश्यकता का अनुभव करने पर सीखने का आग्रह स्वतः उत्पन्न होता है। यदि शिक्षार्थी उसके महत्व को समझ जायें तो सीखने की प्रेरणा हृदय से होती है। दूसरे शब्दों में यदि शिक्षार्थी के स्वार्थ

के साथ विषय को संबद्ध कर दिया जाय, तो चाहे विद्या कितनी ही कठिन क्यों न हो, उसे अपनाने के लिए परिश्रम करने से वह कभी मुँह न मोड़ेगा। वास्तव जीवन से जो विषय संबंधित है उसे करने में बच्चे बड़ा उत्साह दिखाते हैं।

प्रायः देखा जाता है कि विद्यार्थी व्यायामशाला में कसरत और कवायद इत्यादि करने में हीला-हवाला करते हैं या धीरे से खिसक जाते हैं। ऐसी दशा में अध्यापक को प्रत्येक दाव पेंच और गति का महत्व विद्यार्थियों को समझा देना चाहिए तथा वास्तव जीवन में उसकी उपयोगिता बतला देनी चाहिए। तभी विद्यार्थी उसके सीखने में आग्रही होंगे। जब विद्यार्थी की समझ में बैठ जायगा कि अमुक पेंच सीखने से मैं जीवन के और और कामों को निपुणता और सुष्ठुता से कर पाऊँगा, तब वह उस विषय को अपनाने में कुछ भी उठा न रखेगा। यही नियम और और विषयों पर भी लागू है।

यदि क्रीड़ा-कौतुक का विश्लेषण किया जाय तो प्रतीत होगा कि उसके तीन अंग होते हैं—आत्म-विकास, लगन और संतोष। प्रत्येक सफल काम करने के भी उपादान ये ही तीन हैं। क्रीड़ा-कौतुक और काम-धंधे में आधारभूत अंतर कोई है नहीं। जो जिस मनोभाव के द्वारा प्रेरित होकर किसी काम को करने लगता है, उसके हाथ पड़ कर वही काम कभी-कभी खिलवाड़ बन जाता है। क्रियाशीलता रोचक है—इसमें कोई संदेह नहीं। देखा गया है जिस काम को लेकर बच्चे पढ़ते समय रगड़ते-घसीटते रहते हैं, खेलते समय उसी काम को, कठिन से कठिन होने पर भी, वे धीरता के साथ लेते हैं। मानव-शिशु के हृदय की इन मूल प्रवृत्तियों का गंभीर अध्ययन कर तथा पशु-बुद्धि से उसकी तुलना कर आधुनिक काल के शिक्षा-शास्त्रियों ने प्रारंभिक दशा में खेल-कूद और क्रीड़ा-कौतुक के माध्यम से बच्चों को प्रारंभिक दशा में शिक्षा देने की रीति अपनायी है।

आधुनिक काल की प्रारंभिक शिक्षा-पद्धति—

पशु-पक्षी खेल-कूद द्वारा बचपन में ही जीवन निभाने की विद्या

संखते हैं। उनके लिए यही स्वाभाविक क्रम है। पालतू बिल्ली को अपने बच्चों के साथ खेलते बहुतों ने देखा होगा। प्रायः देखा जाता है कि बिल्ली का बच्चा दाँत से अपना दुम पकड़ने के लिए या तो चक्कर काट रहा है, या कभी-कभी वह अपनी माता की दुम ले कर खेल रहा है। कदाचित् यह भी देखने में आता है कि बिल्ली की माँ हिलने-डोलने वाली वस्तुओं पर बच्चे की झपटने की प्रवृत्ति का कार्यतः उपयोग कर रही है। इन सब गतिविधियों द्वारा बच्चों की मांस-पेशियाँ पुष्ट बनती जाती हैं तथा उन्हें नियंत्रित करने की शक्ति भी उत्पन्न होती है। बिल्ली चूहा पकड़ कर कभी-कभी उसके साथ उसी अभिप्राय से खेलती रहती है। कुत्तों को गेंद या चक्के के पीछे दौड़ते हुए बहुतों ने देखा होगा। पुनः उन्हें एक दूसरे के साथ नकली युद्ध कर वास्तव जीवन की लड़ाइयों के लिए तैयार होते प्रायः देखा जाता है। ऐसी दशा में वे प्रतिद्वंद्वियों को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचाते। इन सब अभ्यासों के द्वारा वे वास्तव जीवन की समस्याओं को सुलझाने के लिए तैयार होते हैं। इस प्रकार पशु-पक्षियों की भाँति मानव शिशु भी खेल द्वारा परिस्थिति के साथ संसर्ग और संपर्क स्थापित करते हैं। आधुनिक काल के शिक्षा-शास्त्रियों की सम्मति है कि प्रारंभिक दशा में मानव-शिशु की शिक्षा का क्रम भी इसी प्रकार का होना चाहिए। क्रीड़ा-कौतुक द्वारा आधुनिक शिक्षण पद्धति भी इसी स्वाभाविक नियम पर आधारित है।

परिस्थिति के साथ परिचित होने पर तथा औरों के साथ संपर्क स्थापित हो जाने से बच्चों के अनुभवों की अभिवृद्धि होती है। वे धीरे-धीरे सोच-विचार करने लगते हैं और बुद्धिमान बनते जाते हैं। इस रीति से आदिम मानव में सामाजिकता और सहयोगिता के सहारे परोपकार, भक्ति और श्रद्धा, सहानुभूति, सामूहिकता प्रमुख सद्गुणों का विकास हुआ था। आगे चलकर ज्यों-ज्यों शिशु बड़ा होता जाता है त्यों-त्यों संघाटित रूप से उसे विद्यालयों में शिक्षा दी जाती है इस प्रसंग में उसे जाति के गौरव के कुल विषय जैसे ज्ञान-विज्ञान, परम्परा देश-भक्ति आदर्श प्रभृति

की शिक्षा दी जाती है और उससे मन में कुसंस्कार अंधविश्वास, क्रोध, द्वेष, कट्टरपन जैसे अवगुणों की जड़ खोदी जाती है। प्रकृति शिक्षा का यही ध्येय है। अध्यापकों का कर्त्तव्य है कि वे नई पीढ़ी के होनहारों को उनके पूर्वजों से अधिक बुद्धिमान्, विद्वान् और संतोषी बनावें।

किण्डरगार्टन पद्धति—

लगभग सौ वर्ष बीते फ़ोबेल ने पहले पहल बच्चों की खेलने की प्रवृत्ति का उपयोग करने के अभिप्राय से किण्डरगार्टन नाम की शिक्षा-पद्धति प्रचलित की थी। अपने लेखों में फ़ोबेल यत्र-तत्र खेल-कूद की शिक्षा की आधार-शिला बनाने के सिद्धान्त का समर्थन किया है। खेल को उसने “बच्चों की अन्तरात्मा को मूर्त्त पुकार” माना है। पुनः और एक स्थान पर उसने उसे “रचनात्मक तत्परता और स्वशिक्षण का श्रेष्ठ और स्वयंभू गुरु” कहा है। इस प्रकार फ़ोबेल ने पहले पहल यह प्रतिपादित करने की चेष्टा की थी कि क्रीड़ा-कौतुक और काम-काज में विशेष अंतर नहीं। दोनों मानव मात्र के सामान्य जीवन के अलग-अलग पहलू हैं तथा एक दूसरे में अंग्गंगी भाव है। उसने बच्चों के खेल को क्रियाशीलता रूपी मूल प्रवृत्ति पर आधारित माना है। इसके सहयोगी खोज, कुतूहल, रचना, अनुकरण प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं। शिक्षा के ध्येय पर विवेचन करते हुए वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि यदि हम केवल बालकों की स्वाभाविक क्रियाशीलता का अनुसरण करते चलें जिसका विकास उनके खेलों में होता है, तो बाद में भी संतोषप्रद प्रतिक्रिया होने की पूरी संभावना है। फ़ोबेल की दृष्टि में खेल और खेल की सामग्री का महत्त्व अत्यधिक था, यतः उन्हीं के द्वारा बच्चों को अपनी प्रकृति, फिर जीवन की और अंत में निखिल ब्रह्मांड की टिमटिमाती हुई प्रारंभिक भाँकी मिलती है। इसी विचार से भिन्न-भिन्न वय के बच्चों को उपहार देने के लिए उसने ऐसे ही खेल के सामान चुने थे जिनका सामान्यतः उपयोग हुआ करता है। साथ ही उसने किशोरों के लिए साधारण क्रीड़ा-स्थल तथा संचालकों की देख रेख में संघटित खेलों का प्रबंध करने पर बल दिया था।

लगभग सभी ने लक्ष्य किया होगा कि यदि बाल्यावस्था में बच्चों पर अत्यधिक प्रतिबंध और शासन का बोझ लाद दिया जाय तो उसका परिणाम बड़ा भयंकर होता है। इससे बच्चों की मानसिक शक्ति कुम्हलाने लगती है और बड़े हो जाने पर निंदनीय प्रवृत्तियों का आविर्भाव होता है। बच्चों की प्रत्येक मूल प्रवृत्ति शक्ति की खदान है। यदि उसे विकसने न दिया जाय तो शक्ति का चौपट होना स्वाभाविक है। इस प्रकार अधिकतर मनुष्यों की बहुत-सी शक्तियाँ बेकार जाती हैं। इसके विपरीत यदि मूल प्रवृत्तियों को उत्कर्ष की ओर ले जाया जाय तो इस परिवर्तन से शक्ति का संरक्षण भी होता है तथा उसे रचनात्मक भी बनाया जा सकता है। इस प्रकार बहुत से लोगों की ऐसी सम्मति है कि कला के लगभग सभी श्रेष्ठ निदर्शन यौन-स्पृहा के प्रत्यक्ष प्रतीक हैं।

मूल प्रवृत्तियों को जब स्वाभाविक नियम के अनुसार विकसने दिया जाता है, तब उसके साथ कुछ भावुकता चली आती है। योद्धा प्रायः चिढ़ जाता है, डर से अभिभूत होने पर आदमी भागता है, प्रेमी सर्वदा आनंद की हिलोर में तैरता रहता है। किन्तु मूल प्रवृत्ति को यदि भरपूर उत्कर्ष तक पहुँचा दिया जाय तो भावुकता नहीं रहने पाती। क्रीड़ा कौतुक में यह बात स्पष्टया देखने में आती है। प्रतियोगितामूलक खेलों में भाग लेते ही बच्चे और अशिष्ट व्यक्ति क्रुद्ध हो जाते हैं। बहुधा देखा जाता है कि अशिक्षित लोगों में जब मैच होने लगता है, तब आपस में मार-पीट हो जाती है। उधर जब शिष्ट दलों में खेल-कूद की प्रतियोगिता होती रहती है तब वे क्रुद्ध हुए बिना घंटों खेलते जाते हैं। इसका कारण यह है कि बालकों तथा अशिष्ट गँवारों को मूल प्रवृत्तियाँ उत्कर्ष की सीमा तक पहुँचने नहीं पायीं, शिष्टों में यह बात पायी जाती है।

पाश्चात्य देशों में खेल के मैदान में नवयुवकों के हृदय में आत्म-सम्मान या मर्यादा के ज्ञान की भावना भरने का प्रयत्न किया जाता है। खेलते समय खिलाड़ी नियमों का पालन करते हुए इसलिए खेलता है, यतः उसे अच्छी तरह मालूम है कि नियमों को टुकरा कर मनमाना खेलने से

वह खेल के मैदान से निकाल दिया जायगा। क्रमशः उसके मन में यह बात जम जाती है कि नियमों का उल्लंघन करना हँसी-मजाक नहीं। अंततः जान बूझ कर वह कभी नियमों को भंग नहीं करेगा, क्योंकि ऐसा क्रिया नहीं जाता। इस प्रकार परम्परा का अनुयायी होकर वह इमानदार खेलाड़ी के सिद्धान्त और आदर्शों को अपनाता है। खेल के मैदान की नीति क्रमशः वह प्रतिदिन की कार्यवाही में लागू करता है। इस प्रकार जीवन भर के कुल कृत्यों में वह कदापि साधुता से ढिगता नहीं। नवयुवकों को खेल के मैदान में कार्यतः जो शिक्षा मिलती है उसका प्रभाव अमिट होता है।

प्रायः देखा जाता है कि किसी के कला-कौशल और खेल-कूद के विषय में प्रवीण होने से, सभी उसके गुण गाने लगते हैं, चाहे उसका जन्म कितने ही नीच कुल में क्यों न हुआ हो। इस प्रकार खेल-कूद द्वारा लोकतन्त्रात्मक शिक्षा भी कार्यतः दी जा सकती है।

मॉन्टेसोरी पद्धति—

आधुनिक काल की प्रकाण्ड शिक्षा-शास्त्री मारिया मॉन्टेसोरी ने भी खेल-कूद को केन्द्र बनाकर अपनी शिक्षा-पद्धति की रचना की। फ्रोबेल और मॉन्टेसोरी में अंतर इतना ही है कि फ्रोबेल ने जिस क्रीड़ा-कौतुक का दार्शनिक की सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया था, मॉन्टेसोरी ने उसी का वैज्ञानिक के दृष्टिकोण से विवेचन किया है। किन्तु कार्यतः दोनों में विशेष अंतर नहीं दोनों ने आत्म-विकास और आंतरिक स्वतंत्रता पर बल दिया है जो खेल के आधारभूत आदर्श हैं।

प्रारंभिक दशा में मारिया मॉन्टेसोरी रोम विश्वविद्यालय में मानसिक व्याधि संबंधी आरोग्यशाला की सहकारी डाक्टर थीं। वहाँ क्रमशः वह जड़ बुद्धि वाले बहुत से बालकों के संपर्क में आने लगीं। तभी उनका दृढ़ विश्वास हो गया कि दवा-दारु से मानसिक न्यूनता दूर नहीं की जा सकती है। उचित शिक्षा से ही उस कमो की पूर्ति हो सकती है। धीरे-धीरे उनका सारा ध्यान जड़ प्रकृति वाले बच्चों की शिक्षा पद्धति के विकास की ओर गया और थोड़े ही समय में उन्होंने बड़ी सफलता प्राप्त की।

बच्चों में खेलने-कूदने का जो स्वाभाविक आवेग है, शिक्षा देते समय वैज्ञानिक ढंग से उस प्रवृत्ति का भरपूर उपयोग करना, उनकी पद्धति का मूल मंत्र है। क्रियाशीलता, स्वतंत्रता और सर्जन की स्पृहा खेल के मुख्य उपादान माने जाते हैं। उनकी शिक्षा-पद्धति की ये आधार-शिला बनीं। आत्म-प्रकाश से शिक्षा का श्री गणेश किया जाता है। अध्यापक संचालित करता है किन्तु सरदारी नहीं करता। अधिकतर प्राप्त-वयस्क हृदयंगम नहीं करते कि बाल-चरित्र के मुख्य उपादान बड़ों की अनुकरण-प्रियता, अनवद्यता प्राप्त करने की इच्छा से निरंतर क्रियाशीलता, अड़चनों को दूर करने की चेष्टा और परिणाम के प्रति ध्यान न दे कर अथक तत्परता प्रभृति हैं। मॉन्टेसोरी पद्धति में प्रारंभिक दशा में इन्द्रियों के भरपूर विकास का प्रयत्न किया जाता है। वे शिक्षा की माध्यम मानी गयी हैं। निरंतर पदार्थों की आकृति-प्रकृति, वर्ण-गंध-स्पर्श और उनकी बनावट के उपादानों पर ध्यान दिया जाता है। शिक्षा देते समय खेल की परिपाटी बिगड़ने नहीं दी जाती। खेल के सामान बच्चे स्वयं चुनते हैं। वे लकड़ी की बनी हुई चौकोर गोठियाँ हो सकती हैं या बालू की ढेरी भी हो सकती हैं। जब बच्चे की तबीयत ऊब जाती है, तब वह और कुछ सामान लेकर खेलने लगता है। खेल-खेल में बच्चों को आत्मनिर्भरशील बनने की शिक्षा दी जाती है तथा उपयोगी बनने की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया जाता है। परामर्श, निर्देश या मुक्ताव देने के लिए अध्यापक उपस्थित रहता है किन्तु कार्यतः वह सहायता नहीं देता। वह बच्चों की उनके रचनात्मक कार्य करने से उत्पन्न आनंद से वंचित नहीं करता। ऐसी दशा में वयस्क दर्शकों के लिए तटस्थ रहना कठिन हो जाता है। एक उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है। सड़क पर से गाजे-बाजे के साथ एक जलूस जा रहा है। बच्चा उसको देखने के लिए छुटपटा रहा है। साधारणतः देखा जाता है उसके वयोवृद्ध अभिभावक बच्चे को उठा कर खिड़की पर खड़ा कर देते हैं। परन्तु किंडरगार्टेन या मॉन्टेसोरी पद्धति का अध्यापक कभी ऐसा नहीं करेगा। वह उस कुर्सी को खींचकर, खिड़की के पास लाने का निर्देश देगा। फिर कुर्सी पर चढ़ कर

खिड़की पर खड़े होने की सलाह देगा। इस प्रकार बचपन ही में बच्चों को रचनात्मक कार्य करने की शिक्षा दी जाती है।

उपयुक्त पद्धति के अनुसार शिक्षित बच्चों की इन्द्रियाँ का विकास तथा पेशियों को नियंत्रित करने की क्षमता रूढ़िवाद के अनुसार शिक्षित बालकों से कहीं अधिक होती है। उनमें संतुलन, विचारशीलता तथा सहिष्णुता जैसे गुणों का विकास होता है। निरंतर क्रियाशीलता एवं आनंदमय आत्म-प्रकाश का यह फल है। इन दिनों वयस्क स्कूली बालकों पर मॉन्टेसोरी पद्धति लागू करने की चेष्टा की जा रही है।

डाल्टन् प्रणाली-

मॉन्टेसोरी पद्धति का यह सिद्धान्त है कि प्रत्येक विद्यार्थी को अपने ढंग से विकसने की सुयोग-सुविधाएँ देनी चाहिए। डाल्टन् पद्धति भी उसी सिद्धान्त पर आश्रित है। वह भी खेल-कूद को माध्यम बना कर शिक्षा देना की पद्धति का अनुसरण करता है। आजकल पाश्चात्य देशों में इस पद्धति का बड़ा प्रचार है। अपनी-अपनी रुचि के अनुसार प्रत्येक विद्यार्थी भिन्न-भिन्न विषयों का अध्ययन करता है। फिर ऊब जाने से वह उसे बन्द कर देता है।

आधुनिक काल की उपयुक्त पद्धतियाँ विद्यार्थी के व्यक्तित्व को मान्यता देती हैं। उन्होंने बच्चों के क्रीड़ा-कौतुक को शिक्षा की आधार-शिला माना है। थोड़े में वह उनकी स्वाभाविक रुचि, अतः उनकी मूल प्रवृत्ति पर आधारित है। इस प्रकार खेल-कूद और काम-धंधे के बीच जो नकली व्यवधान है उन्होंने उसको मिटा देने का प्रयत्न किया है। यदि किसी विषय में विद्यार्थी का मन नहीं लगता तो उसका अर्थ यह है कि बालक उस दशा को पार कर गया है, अथवा अब तक वह उस स्तर तक पहुँचा नहीं। बालक की रुचि को उभाड़ने से लगन और आनंद दोनों साथ-साथ आते हैं। कभी-कभी देखा जाता है कि किसी कक्षा के कुछ प्राणवंत विद्यार्थी जिस विषय की चर्चा हो रही है उसकी ओर ध्यान नहीं देते। इसका कारण यही प्रस्तुत किया जा सकता है कि उनका ध्यान

और किसी वस्तु में तल्लीन है क्योंकि उनके प्रवृत्तिमूलक विकास के साथ वह अधिक ताल-मेल रखता है। चूहे का देखते ही जैसे बिल्ली, इच्छा से हो या अनिच्छा से हो, उसके पीछे दौड़ने लगती है, उसी प्रकार विषय यदि रोचक हुआ तो विद्यार्थी उसमें चिमट जाते हैं। ऐसी दशा में अध्यापक निर्देश देता है, सहायता देता है, किन्तु अधिनायकी नहीं करता। क्रीड़ा-कौतुक में व्यस्त बालकों का निरीक्षण करने से उनके मानसिक विकास का तात्कालिक अवस्थान में जिन विषयों में उनकी रुचि है वह अनायास मालूम किया जा सकता है। प्रकृति से बच्चे बड़े क्रियाशील और सज्जनहार हैं। आजकल के पाठ्यक्रम में हाथ के काम को मान्यता देकर शिक्षा शास्त्रियों ने इस सिद्धान्त को अपनाया है। आधुनिक काल की इन पद्धतियों का सिद्धान्त है कि वैयक्तिक क्रियाशीलता का बच्चों के मानसिक विकास को तात्कालिक अवस्था के साथ संगति रखकर चलना चाहिए। जैसे-जैसे इन सिद्धान्तों को मान्यता मिलती जायगी वैसे-वैसे हमारी शिक्षा-संबंधी समस्याओं का भी हल होता जायगा।

जानवरों के बच्चों की भाँति स्वच्छन्द क्रियाशीलता द्वारा स्वशिक्षण का सुयोग न देकर रूढ़िवाद के अनुसार हम लोग होनहार नवयुवकों को बंद कमरे में प्रातः दिन बलात् घंटों शांत बैठा कर तथाकथित शिक्षा देते आये हैं। परिणामतः विद्यार्थियों में उत्सुकता, अनुरक्ति तथा एकाग्रता की कमी हुई है। हर्ष की बात है कि प्राचीन पंथियों की भूल सुधारने के उपायों का भी आविष्कार हो गया है। अब उन्हें कार्यान्वित करने का भार हमारे ऊपर है।

उद्योग-धंधा संबंधी मनोविज्ञान

खेल में स्वतंत्रता की कलक है, इसलिए क्रीड़ा-कौतुक इतना रोचक और मधुर है। सभा में लक्ष्य किया होगा कि खेलते समय बच्चे उसमें लव-लीन हो जाते हैं। काम-धंधा करते समय यदि पुतलोघर या कारखानों के भजदूर उसी स्वच्छन्दता का अनुभव करें तो निस्संदेह वे अपना काम लगन के साथ करेंगे, उनकी कार्य-कुशलता की अभिवृद्धि होगी, उत्पादन की

बढ़ोतरी होगी, साथ ही मिल मालिक की आमदनी भी बढ़ेगी।

परन्तु उत्पादन की परिपाटी में फेर-बदल होने के कारण अब मिल के श्रमिकों को वह स्वतंत्रता तथा आत्म-संतोष प्राप्त नहीं जो उनके पूर्वजों को मिलता था। पहले के बढ़ई, संग-तराश, लोहार प्रभृति हाथ के काम करने वाले कारीगरों की तत्परता की बात स्मरण की जाय। लकड़ी या पत्थर जुटाने से आरंभ कर, उसे काट-छाँट कर वह बराबर बनाता। फिर निरंतर परिश्रम कर कुछ दिनों में, बिना दूसरों की सहायता से स्वयं, जब उस लकड़ी के कुंदे से या पत्थर के ढोंके में से छिपी हुई अनवद्य मूर्ति का आविष्कार करता, तब स्वभावतः उसका आनंद का बार-बार न रह जाता। सृष्टिकर्त्ता स्वयंभू की तरह वह अपनी कृति देख स्वयं मुग्ध हो जाता था। उसी प्रकार एक मोची स्वयं चमड़े का टुकड़ा जुटा कर, उसे पक्का कर, रंगने के काम से आरंभ कर जब एक जोड़ा जूता बना लेता, तब उसे भी असीम आनंद प्राप्त होता था इस विचार से कि उस काम को मैंने बिना किसी की सहायता से स्वयं किया। इस प्रकार वह उसके आत्म-प्रकाश का साधन बन जाता। उन दिनों के कारीगरों को इस बात का बड़ा संतोष था कि वे अपना अपना काम स्वतंत्रतापूर्वक करते थे तथा उनके क्षेत्र में बाहरी लोग दखल नहीं देते थे। अब वे दिन नहीं रह गये। पाश्चात्य देशों में विज्ञान की अग्र-गति तथा कल-पुर्जों के आविष्कार के साथ-साथ खेती-बारी तथा उद्योग-धंधे से संबंधित सभी काम, यंत्रों की सहायता से किये जाते हैं, अब वहाँ के मिल मजदूर सृजनहार बनने का दावा नहीं कर सकते और न उन्हें आत्म-प्रसाद ही प्राप्त है। विराट्काय कलों के पुर्जों के समान सभी अपना-अपना नियत काम करते जाते हैं। जो मनुष्य काँटा बना रहा है वह आठों घंटे एक ही नाप का काँटा बनाता रहता है। पुनः जो मनुष्य भिन्न-भिन्न नाप का पेंच बना रहा है, वह लगातार वही काम करता जाता है। ऐसे कामों के करने में न शिक्षा की आवश्यकता है और न निपुणता की जरूरत है। अब उद्योग-धंधे का ध्येय है अधिक से अधिक उत्पादन। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उद्योगपति आग-पानी में से गुजरने को तैयार रहते हैं।

उदाहरण के लिए कारखानों में जिस रीति से काम होता है, उसका विवरण हेनरी फोर्ड के आत्म-चरित से उद्धृत किया जाता है। अपने मॉटर गाड़ी निर्माण के कारखाने के बारे में वह लिखते हैं कि “यहाँ कई हजार मनुष्य काम करते हैं तथा वहाँ भिन्न-भिन्न प्रकार के ७, ८ ८ २ काम होते रहते हैं। इनमें से ६४६ काम ऐसे हैं, जिनको निभाने के लिए हट्ठे-कट्ठे और संड-मुसंड श्रमिकों की आवश्यकता है, ३३३८ काम सँभालने के लिए मामूली स्वास्थ्य के मजदूरों की आवश्यकता है, शेष ३५६५ काम दुर्बल से दुर्बल मनुष्य भी कर सकते हैं।

भिन्न-भिन्न विभागों का काम सीखने के लिए जितने समय की आवश्यकता होती है उसके बारे में फोर्ड लिखते हैं कि प्रतिशत ४३ काम सीखने के लिए एक दिन से अधिक समय नहीं लगता; प्रतिशत ३६ काम सीखने के लिए एक हफ्ते से अधिक समय नहीं लगता; प्रतिशत ६ काम सीखने के लिए दो हफ्ते से अधिक समय नहीं लगता; प्रतिशत १४ काम सीखने के लिए एक साल से अधिक समय नहीं लगता; प्रतिशत १ काम सीखने के लिए एक से पाँच वर्ष तक समय लगता है।

औजार और साँचा प्रभृति बनाने का काम इसके अंतर्गत है।

“घड़ी के पुर्जे की तरह कारखाने का सारा काम-काज अन्योन्याश्रित है। ऐसी दशा में किसी भी श्रमिक को मनचाहा काम नहीं करने दिया जा सकता।”

फोर्ड के शब्दों में—“हम चाहते हैं कि श्रमिकों से जो भी कुछ कहा जाय, वे वही करें। सारी संस्था के कुल विभाग एक दूसरे के साथ अंगंगी भाव से सम्बद्ध तथा अन्योन्याश्रित हैं। अतः किसी को मनमाना काम करने का अधिकार नहीं दिया जा सकता, अनुशासन में थोड़ी-सी भी कमी होने से चारों दिशाओं में भारी गड़बड़ी मच जाने की संभावना है। मेरा अटल विश्वास है कि उद्योग-धन्धे के क्षेत्र में ऐसा ही होना चाहिए। भरपूर माल उत्पादन करने और सर्वोच्च वेतन लेने के लिए मजदूर रखे जाते हैं। यदि उन्हें मनचाहा करने दिया जाय तो उत्पादन में कमी होगी, सुतरां उनके

वेतन को ठेस पहुँचेगी जो भी श्रमिक हमारे कारखाने की रीति-नीति मान कर काम नहीं करना चाहता वह चला जा सकता है। कम्पनी श्रमिकों से बिना पक्षपात और उचित रीति से बरतना चाहती है। प्रत्येक सरदार और विभागीय प्रधान यही चाहते हैं कि उनके विभाग से छूँटाई कम हो.....।”

कहने का आशय यह है कि खेल-कूद की स्वच्छन्दता आधुनिक-काल के कारखानों के श्रमिकों को उपलब्ध नहीं। ऐसी परिस्थिति में उत्पादन बढ़ाने के विचार से मिल मालिकों की ओर से बहुधा बनावटी उपायों के द्वारा श्रमिकों की कार्य-कुशलता बढ़ाने का प्रयत्न किया जाता है। श्रमिकों को उद्यमी बनाने के उपाय

ऊपर कहा जा चुका है कि पाश्चात्य देशों में श्रमिकों को प्रयत्नशील तथा कार्य-कुशल बनाने के अभिप्राय से बहुधा वैज्ञानिक रीति से काम लिया जाता है जिससे कारखाने के उत्पादन की शैली बिगड़ने न पावे। सर्व प्रथम मनोवैज्ञानिक प्रयोगशालाओं में नवयुवक और युवतियों के मन का स्वाभाविक झुकाव और उनकी सहज रुचि किस पेशे की ओर है, उसकी पड़ताल की जाती है। अनुमान किया जाता है कि प्रकृति ने जिस मनुष्य को जिस काम के उपयुक्त बनाया है, यदि उसको वही काम करने दिया जाय तो वह अपने चसके का काम अच्छी रीति से निभायेगा। इस प्रकार काम उसके लिए मनोरंजन का साधन बन जायगा। आशा की जाती है कि जैसे-जैसे समय बीतता जायगा, वैसे-वैसे ऐसे मजदूरों की संख्या क्रमशः बढ़ती जायगी।

पुनः विद्यालय और कारखानों से सम्बद्ध शिल्प-शिक्षणालयों तथा पुतली घरों में एक-एक काम का समूचे से सम्बद्ध अर्थात् सारे उद्योग-धन्धे का इतिहास और दार्शनिक सिद्धांतों का पाठ पढ़ाया जाता है जिससे शिक्षार्थी के मन में कारखाने के उत्पादन की परिपाटी में उसका किया हुआ छोटे से छोटा काम कहाँ तक महत्व रखता है—उसकी सम्यक् धारणा हो जाय। स्वभावतः ऐसी शिक्षा से उनके दृष्टिकोण में परिवर्तन होता है और जो भी काम उन्हें सौंपा जाय, उसे वे लगन के साथ करते हैं।

साथ ही श्रमिकों की कार्य-कुशलता बढ़ाने का भी भरपूर प्रयास

किया जाता है। अंग्रेजी में इसे एफीसियेंशी कहा जाता है। हिन्दी में उक्त शब्द का अर्थ होता है—चुस्ती, फुर्ती अथवा कार्य-कुशलता। बहुधा एफीसियेंशी शब्द व्यापार और उद्योग-धंधे के क्षेत्रों में श्रमिक के उद्यम से संबंधित है। इन क्षेत्रों में कार्य-कुशलता की कमी होने से उत्पादन का व्यय बढ़ जाता है। एक आदमी के बेढंगा होने से सारे विभाग का काम-काज धीमा पड़ जायगा अथवा तेजी या सटीकपन में ढीलढाल करने से दुर्घटना होने की भी संभावना है। अतः जिस ढंग से कोई काम किया जाता है, उसके करने में जो शक्ति का उपयोग करना पड़ता है या उसमें सटीकपन और सुगन्धा का जो परिचय प्राप्त होता है, वही है कार्य-कुशलता या एफीसियेंशी का मानदंड। साधारणतः कार्य-कुशल मनुष्य के हृदय में शान्ति विराजती है तथा उसमें अपने को परिस्थिति और समाज के साथ खपा लेने की क्षमता होती है। सामान्यतः औद्योगिक मनोविज्ञान का नारा है “कार्य कुशलता की अभिवृद्धि !”

वैज्ञानिक ढंग से कारखाने का प्रबंध करने से उत्पादन की बड़ी बढ़ोतरी होती है। पहले मजदूर लोग प्रतिदिन १२॥ टन से अधिक कच्चा लोहा उठा कर गाड़ी पर नहीं लाद सकते थे। परन्तु जब से टेलर नाम के एक मनोवैज्ञानिक ने उन्हें कैसे झुकना चाहिए, कैसे पिंड को उठाना चाहिए, कब चलना चाहिए और कब दम लेना चाहिए, इत्यादि का पाठ पढ़ाया, तब से कोई कोई श्रमिक ४७॥ टन तक लोहा प्रतिदिन गाड़ी पर लादने लगे !

औद्योगिक मनोविज्ञान के शास्त्रियों ने उत्पादन संबंधी कुछ विधिविधानों का आविष्कार किया है। दैनिक उत्पादन शैली के आदर्श मान चित्र का अध्ययन करने से पता चलता है कि प्रतिदिन प्रातःकाल काम आरंभ करने के बाद थोड़े समय तक उत्पादन की परिपाटी कुछ मन्द रहती है। मनोवैज्ञानिकों ने इस समय का नाम “गरमाने का समय” दिया है। परन्तु यह दशा बहुत देर तक नहीं जारी रहती। फिर उत्पादन तेजी से होने लगता है। दोपहर के भोजन का समय ज्यों-ज्यों समीप आता-जाता है, त्यों-त्यों उत्पादन की गति धीमी पड़ती जाती है। अंग-प्रत्यंग तथा

इन्द्रियों को अनवरत कई घंटों तक एक ही प्रकार से परिचालित करने से जो थकावट आती है, वही इसका मुख्य कारण बताया जाता है। काम की एक-रूपता के लिए श्रमिक की अनुरक्ति की कमी भी एक कारण हो सकती है। भोजन के बाद उत्पादन की अभिवृद्धि होती है, किन्तु सबेरे जैसी नहीं। संध्या समय फिर एक बार उत्पादन घट जाता है। कभी-कभी देखा जाता है कि श्रमिकों की चरम प्रचेष्टा के फल-स्वरूप सबेरे-शाम काम बंद होने के पहले उत्पादन की गति अचानक बहुत बढ़ जाती है। दौड़ की प्रति-योगिता में भी प्रायः देखा जाता है कि दौड़ने वाले अन्तिम सौ गज पार करने में अपनी-अपनी संरक्षित शक्ति का भरपूर उपयोग करते हुए तेजी के साथ दौड़ कर लक्ष्य तक पहुँचने की चेष्टा करते हैं। उत्पादन की साप्ताहिक परिपाटी में भी इसी प्रकार की बढ़ोतरी और घटती देखी जाती है। सोमवार का उत्पादन पर्याप्त होता है, बुधवार और शनिवार का सबसे अधिक। मंगल का उत्पादन सोमवार से अधिक होने पर भी बुध जैसा नहीं होता। फिर बुध के बाद उत्पादन की शैली में भाटा आता है। कदाचित् शनिवार की चरम प्रचेष्टा के फलस्वरूप उत्पादन में कुछ बढ़ोतरी होती है।

श्रमिकों की थकावट रोकने के लिए भी कई ठोस कदम उठाये गये हैं। थकावट दो प्रकार की होती है—मानसिक और शारीरिक सामान्यतः मानसिक थकावट की चर्चा होने से लोग ऐसी धारणा करते हैं कि हमारा मन भी कोई स्वतंत्र अंग है, जिसका बहुत समय तक उपयोग करते रहने से शरीर के अन्यान्य अंग-प्रत्यंगों की भाँति वह थक जाता है। परन्तु ऐसी धारणा भ्रान्त है। खोज करने से पता चला है कि जिसे बोलचाल की भाषा में हम मानसिक थकावट कहते हैं, वास्तव में वह स्नायविक थकावट है। कभी-कभी अनवरत बोलते रहने से भी ऐसी थकावट मालूम देती है। उबर शारीरिक थकावट बहुधा मांस-पेशियों का निरंतर उपयोग किये जाने से उत्पन्न होती है। काम करते-करते थक जाने से श्रमिक की चुस्ती और फुर्ती जाती रहती है; वह आलसी बनता जाता है। स्वभावतः ऐसी दशा में उत्पादन में घाटा होता है।

अतः मजदूरों की थकावट रोकने के लिए कार्य-काल में सबेरे-शाम १०।१५ मिनट का माध्यावकाश दिया जाता है। देखा गया है कि अटकल पञ्चू रीति से भी यदि यह विराम का समय दे दिया जाय तो प्रतिशत ५ से १० तक उत्पादन के औसत में बढ़ोतरी होती है। परन्तु यह अनिवार्य है कि अवकाश के समय श्रमिक काम-धंधे की बातें बिलकुल भूल जाँय तथा उसे आमोद-प्रमोद करने में गँवाये। उत्पादन जब चरम सीमा तक पहुँच जाय, तभी आधुनिक रीति के अनुसार यह मध्यावकाश देना चाहिए क्योंकि थकावट दूर करने के लिए छुट्टी नहीं दी जाती है, वरन् उसे आने से रोकने के लिए। इससे श्रमिकों की कार्य-कुशलता का मान बना रहता है तथा उत्पादन की भी बढ़ोतरी होती है।

श्रमिकों की मार्मिक चाह और शिकायतें भी उत्पादन पर ठेस पहुँचाती हैं उनका आत्म-सम्मान बना रहे, उनकी कृतियों की सराहना की जाय और नौकरी स्थायी हो। काम-धंधे की एक-रूपता और नियमानुकूलता से वे बहुत खीझते हैं। संभावित बेकारी और शोषकों के शिकार बनने से वे बहुत डरते हैं। छोटी-मोटी शिकायतों का निपटारा करने के लिए श्रमिकों की पंचायत है जो कार्याध्यक्ष से मिलकर मसले तय-तमाम करती है।

ऊपर कहा जा चुका है कि उद्योग-धंधों के प्रसंग में जो कारखाने खोले गये हैं उनमें काम-काज की एक-रूपता से श्रमिक बहुत घबराते हैं। प्रति दिन निरंतर ८-१० घंटे एक ही प्रकार का काम करने से घबराहट का होना स्वाभाविक है। इसका प्रधान कारण यह है कि एक ही कार्य को अनवरत कई घंटे दोहराना पड़ता है। उत्पादन पर इस प्रकार की भावना का परिणाम शुभ और अशुभ दोनों हो सकता है। श्रमिक के ऊब जाने से यह तो मानी हुई बात है कि उत्पादन में घाटा होगा। उधर इसकी भी संभावना है कि बार बार एक ही प्रकार का काम करने से उसकी वह काम करने में निपुणता की बढ़ोतरी होगी और वह अपना यश बनाये रखने के लिए कभी बेगार नहीं टालेगा। अधिक से अधिक वह कदाचित् धीमी चाल से चले।

पुनः ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि सभी श्रमिक एक-रूपता से धब-राने लगते हैं। वह तो बहुधा मजदूर की प्रकृति पर निर्भर से। सामान्यतः देखा जाता है कि प्रखर बुद्धि वाले और चंचल स्वभाव के मनुष्य एक-रूपता से उकता जाते हैं।

एक-रूपता की भावना दूर करने के भी कई उपाय हैं—यथा, कार्य क्रम में हुई फेर। इसी विचार से सवेरे-शाम मध्यावकाश देने का विधान लागू किया गया है। वेतन देने की प्रथा पर भी बहुधा एक-रूपता का भूत सवार हो जाता है। देखा गया कि जिन कारखानों में दैनिक या साप्ताहिक पारिश्रमिक देने का नियम है उनमें एकरूपता का बाजार गर्म रहता है। इसके विपरीत ठेके का काम अधिक लाभदायक सिद्ध होता है।

कारखानों में औद्योगिक दुर्घटनाएँ प्रायः होती रहती हैं। पुनः कुछ श्रमिक ऐसे भी हैं, जो बहुधा दुर्घटना के शिकार बनते हैं। थकावट, बीमारी अनुभव की कमी, बेचैनी, भावुकता प्रभृति इसके मुख्य कारण हैं। देखा गया है कि अधिकतर दुर्घटनाएँ तभी होती हैं जब श्रमिक का मन उदास रहता है।

संभवतः सभी को मालूम होगा कि हवा भी एक तत्व है, जिसका आना-जाना आवश्यकतानुसार न होने से काम-धंधे पर ठेस पहुँचती है तथा श्रमिकों की कार्य-कुशलता भी जाती रहती है। इसका मुख्य कारण केवल बंद कमरे की हवा में कारबन डायोक्साइड तथा ऑक्सीजन प्रभृति पदार्थों की घटती-बढ़ती नहीं, परन्तु उसकी गति की कमी है। ऐसा होने पर कठिन परिश्रम के फलस्वरूप शरीर से जो पसीना प्रभृति निकलते हैं, उन्हें दूर नहीं किया जा सकता। इसका परिणाम यह होता है कि कमरे के ताप और नमी की अभिवृद्धि होने से, श्रमिकों के शरीर का तापमान उचित मात्रा में नहीं रखा जा सकता। जब कमरे में आक्सीजन की कमी और कारबन डायोक्साइड की बढ़ोतरी होती है, तब लोग आलस्य, निद्रालुता और शिरोवेदना का अनुभव करने लगते हैं। यदि तापमान और तरी दबा रखने का प्रबन्ध किया जाय और हवा की गति में अंतर न हुआ तो

श्रमिकों में बेचैनी नहीं होती। पाश्चात्य देशों में साधारणतः कर्म-गृह का ताप-मान ६८ डिग्री रखा जाता है।

खसों के भीतर काम करने वाले श्रमिकों के शरीर का तापमान १०३ डिग्री तक बढ़ जाता है। किन्तु वहाँ भी यदि हवा के आने जाने का प्रबन्ध किया जाय तो तापमान बढ़ता नहीं और काम भी सुचारु रूप से आगे बढ़ता है। हवा की कमी होने से न केवल उत्पादन पर आघात पहुँचता है, अपितु, श्रमिकों के बीमार पड़ने की भी संभावना रहती है।

साधारणतः तापमान और नमी ऋतु परिवर्तन से सम्बद्ध है। अतः श्रमिकों की कार्य-कुशलता पर ऋतु परिवर्तन का भी असर पड़ता है। खोज करने से पता चला है कि अप्रैल, मई और सितम्बर में श्रमिकों की कार्य-कुशलता में बढ़ोतरी होती है, तथा अक्टूबर नवंबर और दिसम्बर में घट जाती है। तापमान ६० डिग्री से ६५ डिग्री होने से परिश्रम काम चरम बिंदु तक पहुँचता है। इसके विपरीत मानसिक तत्परता की जाड़े पाले के दिन बढ़ोतरी होती है।

सभी प्रकार के शारीरिक और मानसिक परिश्रम बहुधा आँखों की सहयोगियता पर निर्भर हैं। अतः कार्य-कुशलता की अभिवृद्धि के लिए कारखाने में प्रकाश अथवा आलोक का भरपूर प्रबंध होना चाहिए। यदि प्रकाश की कमी हुई तो स्वल्प काल में श्रमिकों की आँखों में थकावट आ जायगी। बहुतों का अनुभव होगा कि रँगने से पदार्थों का वजन और आकार-प्रकार में अंतर मालूम देने लगता है। उधर प्रकाश का प्रबंध यदि मनचाहा हुआ तो उसके साथ-साथ श्रमिकों के मन-मिजाज में परिवर्तन होना स्वाभाविक है।

अन्वेषण करने से पता चला है कि यदि प्रकाश धीमा हुआ तो सुस्ती आती है। आलोक यदि पर्याप्त हो तो कार्य-कुशलता की बढ़ोतरी होती है। मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि जिस कमरे में काम-काज होता है, उसमें प्रकाश की एकरूपता होनी चाहिए। आवश्यकता से अधिक उजाला होने से आँखें चौंधिया जायेंगी। ऐसी दशा में आजकल

जो परोक्ष रीति से कारखानों को आलोकित करने की प्रथा चल निकली है, वही ठीक मालूम होती है।

श्रमिकों के अन्यमनस्क होने के कारणों की खोज करने से पता चला है कि कोलाहल यदि निरंतर हो परन्तु बहुत जोर का न हो तो उसमें काम-काज को अधिक ठेस नहीं पहुँचती। परन्तु कोलाहल यदि रुक-रुक कर हो और बहुत जोर का हो तो उससे कार्य-कुशलता घट जाती है। यांत्रिक संगीत होने से थकावट कम आती है तथा उत्पादन की बढ़ोतरी होती है। किसी-किसी कारखाने में काम शुरू करने के पहले श्रमिक लोग बैण्ड बजाते और मार्च करते हुए चलते हैं। पुनः सुबह शाम के अन्तिम याद में जब श्रमिक थक जाते हैं, तब लोक-प्रिय राग बजाये जाते हैं। दोपहर के भोजन के समय ऐक्यतान वादन भी किया जाता है। परन्तु नृत्य-गीत के द्वारा बौद्धिक अथवा रचनात्मक कार्य में सहूलियत नहीं होती।

अंत में कार्य-काल के बारे में विवेचन करने की आवश्यकता है। कहा जाता है कि सौ वर्ष पहले अमेरिका के बुनकर सप्ताह में ८४ घंटे और मोची ७२ घंटे काम करते थे। क्रमशः उनका कार्य-काल घटता गया। १९२८ ई० में दोनों ४८ घंटे काम करते थे और १९३८ ई० में ४० घंटे। उसी प्रकार २५ मुख्य उद्योग-धंधों के आँकड़ों का औसत लगा कर देखा गया है कि १९१४ से १९३५ ई० तक के काल में अमेरिकी श्रमिकों का कार्य-काल सन् १९१४ में हफ्तेवार ५२.२ घंटे, १९२५ में ४९ घंटे और १९३५ ई० में ३७.६ घंटे थे। दूरदर्शी उद्योग-पति और श्रमिकों के प्रमुख नेता इसे घटा कर ३० घंटे करना चाहते हैं।

प्रारंभिक दशा में उद्योग-पति और मिल मालिक कार्य-काल घटाना नहीं चाहते थे। उनकी धारणा थी कि श्रमिकों का कार्य-काल घटाने से उत्पादन में कमी होगी, अतः व्यय वृद्धि होगी। परन्तु जब उन्होंने भली-भाँति देख लिया कि यदि श्रमिक लगन से काम करें तो वे स्वल्प काल में अधिक माल तैयार कर सकते हैं तथा दुर्घटनाएँ भी कम होती हैं, तब वे मान गये। साथ ही कार्य-काल युक्ति संगत होने से श्रमिक को घर का

काम-धंधा सँभालने अथवा अपने चसके के विषय की चर्चा करने का अवसर मिलता है।

श्रमिकों को अधिक से अधिक समय तक काम में जोते रखने से उत्पादन की बढ़ोतरी होगी, ऐसी धारणा बड़ी भ्रान्त है। पहला विश्व युद्ध छिड़ने के अनन्तर तथा द्वितीय विश्व युद्ध के प्रसंग में डन्कर्क के सर्वनाश के बाद देश-भक्ति की भावना से प्रेरित हो इंग्लैंड के श्रमिक प्रति सप्ताह ६० से ७० घंटे काम करने लगे थे। परन्तु इससे थकावट और कमजोरी इतनी बढ़ गई कि उत्पादन में घाटा पड़ने लगा। इसलिए साप्ताहिक कार्य-काल घटा कर जब ५० घंटे कर दिये गये, तब उत्पादन का औसत प्रतिशत १५ तक बढ़ गया। आजकल संसार के अधिकतर कारखानों में श्रमिकों से प्रति सप्ताह ४० से ४८ घंटे में अधिक काम नहीं लिया जाता। इससे अधिक समय तक काम लेने से श्रमिकों की कार्य-कुशलता को बढ़ा लगाने की आशंका है तथा उत्पादन में बढ़ोतरी नहीं होगी—ऐसा अनुमान किया जाता है।

प्रेरणा का महत्व

इस प्रकार पाश्चात्य देशों में वैज्ञानिक उपायों के द्वारा जिस रीति से कारखानों में काम करने वाले श्रमिकों की कार्य-कुशलता बढ़ाने का प्रयास किया जाता है, उसका विवरण दिया गया है। किन्तु वायुमंडल के अनुकूल होते हुए तथा परिस्थिति रुचिकर होते हुए भी कभी-कभी देखा जाता है कि उत्पादन में घाटा पड़ रहा है। फिर कभी-कभी यह भी देखने में आता है कि वातावरण प्रतिकूल होता हुआ भी श्रमिक लोग उत्पादन की परिपाटी बिगड़ने नहीं देते। इससे यही प्रमाणित होता है कि कार्य-कुशलता, मध्यावकाश, तापमान, हवा की उचित व्यवस्था, रोशनी की प्रचुरता प्रभृति बनावटी तत्वों पर पूर्णतया निर्भर नहीं। कार्य-कुशलता बहुधा मनोविज्ञान के सिद्धान्त से सम्बद्ध है।

मानव की कृति चाहे भली हो अथवा बुरी अधिकतर प्रेरणामूलक है। उत्कट प्रेरणा द्वारा प्रेरित हो लोग नाना प्रकार की अड़चन होते हुए

भी महत्वपूर्ण कार्य कर ही लेते हैं। इसके विपरीत उसको कमी होने से वे लपरवाह अन्यमनस्क और सुस्त बनते जाते हैं। प्रेरणा न होने से कभी कोई कुछ काम नहीं कर पाता। ऐसी दशा में कार्य-कुशल बनाने के लिए प्रेरणा रूपी महत्वपूर्ण पुर्जे का पैच घुमाने की आवश्यकता है जिससे वह जी-जान से काम करे। श्रमिकों से भरपूर काम लेने के लिए यह जानने की आवश्यकता है कि वे क्या चाहते हैं! फिर उनके मनचाहा विषय अथवा स्वयं के साथ यदि काम-धंधे को संबद्ध किया जाय तो उनसे सोलहों आने काम लिया जा सकता है।

मुख्यतः लोग भोजन, पहनावा, वासस्थान इत्यादि प्राप्त करने के लिए काम-धंधा करते हैं। परन्तु यहीं पर मानव की माँगों की इति-श्री नहीं होती। इनके अतिरिक्त उसके अन्तःस्थल में ऐसी भी कुछ वासनाएँ सुप्त रहती हैं जिनकी पूर्ति के लिए वह उद्यमी और तत्पर बनता है। इन वासनाओं का उत्स समाज है जिसमें उसका पालन पोषण हुआ। औरों को तथा प्रतिकूल तत्त्वों को वश में लाना औरों की श्रद्धा-भक्ति प्राप्त करना और मर्यादा का ज्ञान इनके अंतर्गत हैं। रोटी कमाने के लिए लोग मुख्यतः काम-धंधा करते हैं; परन्तु केवल रोटी चबाने से प्राण धारण करने की परिपाटी कला के स्तर तक नहीं पहुँचती। श्रमिक से भरपूर काम लेने के लिए रोटी से भी बढ़ कर कोई चारा देने की आवश्यकता है।

मनोविज्ञान संबंधी प्रयोगशालाओं में खोज करने से पता चला है कि श्रमिक उच्च वेतन के अतिरिक्त और भी कई वस्तुएँ माँगते हैं। उनमें से मुख्य हैं—नौकरी का स्थायित्व, सुविधा की शर्तें, सहृदय मालिक, उन्नति का सुयोग, उच्च वेतन इत्यादि। पुनः कुछ श्रमिक जानना चाहते हैं कि काम सोखने में वे आगे बढ़ रहे हैं कि नहीं; मालिक उनसे क्या चाहता है, उसका ठीक-ठीक ज्ञान, शिकायतों का उचित रीति से निपटारा प्रभृति। नियत वेतन से कहीं अधिक वे इस बात पर बल देते हैं कि उपयोगिता की अभिवृद्धि के साथ-साथ उनके पारिश्रमिक की वृद्धि होगी।

काम-धंधा करने के लिए श्रमिकों को प्रोत्साहित करने वाला

महान् प्रेरक वेतन या पारिश्रमिक है। अतः उसका स्थान गया-बीता नहीं समझना चाहिए। पूंजीवादी समाज में उचित वेतन न मिलने से स्यात् ही कोई मनुष्य काम करने को राजी होगा। यतः समाज में सेवक की उपयोगिता के अनुसार वेतन नियत करने की प्रथा है, इस प्रकार वेतन की महत्ता सदा बनी रहेगी।

कार्यतः देखा जाता है कि श्रमिक को प्रेरित करने के लिए सफलता, प्रतियोगिता, सराहना प्रभृति महत्वपूर्ण साधन हैं। बड़े-बड़े बिक्री केन्द्रों में प्रायः देखा जाता है कि जिस विभाग में बिक्री अधिक है वहाँ के कर्मचारियों का मन, ऐसे विभागीय कर्मचारियों की अपेक्षा, जहाँ बिक्री बड़ा कम है, अधिक हरा-भरा रहता है। यह तो सर्वमान्य बात है कि होड़ा-होड़ी के फलस्वरूप उत्पादन में बढ़ोतरी है किन्तु कभी-कभी देखा जाता है कि इससे माल की विशिष्टता पर ठेस पहुँचती है। बच्चों की तबीयत बढ़ाने के लिए डाँट-फटकार से कहीं अधिक काम उनकी सराहना करने से निकलता है। उसी प्रकार यदि कारखानों के अधिकारी श्रमिकों से सहानुभूति का बरताव करें तो उससे अधिक निकलने की संभावना रहती है। पुनः यदि कभी-कभी कारखाने के संचालन के बारे में उनकी सम्मति पूछी जाय, तब तो सोने में सुगंध हो जाती है। कारखाने के संचालन में हमारा भी हाथ है—यह भावना श्रमिक को कार्य-कुशलता की पराकाष्ठा पर पहुँचा देती है।

सेवकों में प्रेरणा भरने की कला

अंत में श्रमिकों के हृदय में सुचारु रूप से काम-धंधा करने की प्रवृत्ति जागरित करने, उनके अंतःस्थल में कार्य-कुशलता की प्रेरणा भरने की कला के बारे में दो शब्द कह कर यह विषय समाप्त किया जाता है। प्रारंभ में ही कह देने की आवश्यकता है कि ये सब सिद्धान्त केवल किताबी नहीं हैं। प्रत्युत प्रयोगशालाओं में बारी-बारी से जीव-जन्तुओं पर, और फिर मानव पात्रों पर प्रयोग कर ये प्रमाणित किये गये हैं।

(अ) मानव के हृदय में ध्येय तक पहुँचने की वासना बड़ी प्रबल होती है। यदि पहुँच के बाहर न हो तो उसको प्राप्त करने के लिए वह प्राण-पण परिश्रम करेगा। अतः लोगों को प्रेरित करने के लिए, उनके सामने चित्ताकर्षक लक्ष्य रखने की आवश्यकता है।

(आ) श्रमिक अपनी कार्य-कुशलता के बदले पर्याप्त पारिश्रमिक प्राप्त करने की आशा रखता है। उसके न मिलने से उत्पादन में घाटा पड़ना स्वाभाविक है। पुरस्कार देने में हीला-हवाला करने से परिणाम प्रायः बुरा होता है।

(इ) पारितोषिक शीघ्रातिशीघ्र प्रदान करना चाहिए। लक्ष्य तक पहुँचने के रास्ते में जान बूझ कर काँटा नहीं बिछाना चाहिए।

(ई) प्रेरणामूलक शब्द स्पष्ट होना चाहिए, जिससे सभी उसे समझ सकें। पेचीली योजनाओं का निर्माण कर श्रमिकों के हृदय में प्रेरणा नहीं भरी जा सकती, प्रत्युत उनसे असंतोष और विरोध की भावना की उत्पत्ति होती है।

(उ) प्रेरित करते समय मानव हृदय की अनुकूल तथा प्रतिकूल कुल प्रवृत्तियों को जागरित करने की आवश्यकता है। सभी को मालूम है कि मानव के हृदय में सर्वदा अनुकूल तथा प्रतिकूल तत्त्वों के बीच कश्मकश चलती रहती है। प्रेरणा यदि प्रभावशाली हुई तो वह प्रत्यक्ष प्रवृत्तियों के साथ-साथ परोक्ष प्रवृत्तियों को भी प्रभावित कर अन्तर्द्वन्द का नाश करेगी। तभी श्रमिक सारे हृदय से कार्य-कुशल बन सकता है, अन्यथा नहीं। मिल मालिकों को सदा स्मरण रखना चाहिए कि जब वे किसी मजदूर को नियुक्त करते हैं, तब वे समूचे मनुष्य को उसकी आशा और आकांक्षा, उसकी भली और बुरी प्रवृत्तियाँ, उसके अन्तर्द्वन्द अर्थात् थोड़े में उसके सब कुछ का उपयोग करने की इच्छा से उसे नियुक्त करते हैं, केवल उसकी कार्य-कुशलता के उपयोग करने की इच्छा से उसे नियोजित नहीं करते।

ऊपर कहा जा चुका है कि आधुनिक शिक्षा-पद्धति ने खेल-कूद की बुनियाद पर छोटे-छोटे विद्यार्थियों को शिक्षा देने की रीति अपनायी है।

इसका मुख्य उद्देश्य यही लगता है कि बच्चे जिस लगन के साथ बालोचित क्रीड़ा-कौतुक में सोत्साह सक्रिय भाग लेते हैं, वैसे ही ध्यान से वे शिक्षा प्राप्त करें। दूसरे शब्दों में, लिखने-पढ़ने और खेल-कूद के बीच जो बनावटी खाई दिखायी देती है, वह मर मिट जाय। ऐसी दशा में शिक्षा खेल-कूद का साधन बन जाती है और खेल-कूद शिक्षा में विलीन हो जाता है। आगे चल कर यह भी दरसाने का प्रयास किया गया है कि उद्योग-धंधे के क्षेत्र में कारखानों के श्रमिकों से भरपूर काम लेने तथा काम-काज के प्रति उनकी अनुरक्ति उभारने के लिए पाश्चात्य देशों में नाना प्रकार के वैज्ञानिक उपायों से काम लिया जाता है। यतः लवलीन होकर जब मनुष्य काम करने लगता है, तब क्रियाशीलता उसके लिए मनोरंजन का साधन बन जाती है।

अतएव मनोविज्ञान की दृष्टि में दोनों पात्रों से संबंधित समस्या प्रायः एक-सी है। अंतर केवल इतना ही है कि शिक्षार्थी पात्र अल्पवयस्क बालक है और पुतलीघर अथवा कारखाने में काम करने वाले श्रमिक पूर्ण वयस्क हैं। परन्तु दोनों से यह माँग की जाती है कि वे चित्तवृत्तियों को एकाग्र कर अपना-अपना काम करें।

बाल्यावस्था में जिस बालक ने मन लगा कर लिखने पढ़ने का अभ्यास किया, चित्तवृत्तियों को एकाग्र कर अपने कर्त्तव्य का पालन करना सीखा, वही बालक वयःप्राप्त होने से प्राणपण परिश्रम कर अपना काम-धंधा निभाता जायगा—ऐसी आशा की जाती है। पुनः युवावस्था पार करके वही बालक जब बुढ़ापे में पहुँचेगा तब उसके लिए तद्गतचित्त हो जप-तप, ध्यान-धारणा प्रमुख आध्यात्मिक कृत्यों के करने में कोई दिक्कत नहीं पड़ेगी। यहाँ तक कि ऐसे मनुष्य के लिए मोक्ष प्राप्त करना भी कोई कठिन बात नहीं। मानव मात्र का चित्त स्वभावतः बड़ा ही चंचल है। अतः सभी धर्म चित्त को एकाग्र करने पर बल देते आये हैं। इसलिए बचपन से ही मानव शिशु को ध्यान लगा कर पढ़ने की शिक्षा दी जाती है। आगे चल कर वही परिपाटी श्रमिकों पर भी लागू की जाती है।

अवकाश के समय का उपयोग—

ऊपर कहा जा चुका है कि बचपन से विद्यालयों में व्यावसायिक शिक्षा देने और कारखाने में रुचिकर वातावरण को सृष्टि करने पर भी कल-पुर्जों के सहारे काम करने से श्रमिक के मन में वह आत्म-संतोष उपलब्ध नहीं होता जो उसके पूर्वज दस्तकारों को कोई रचनात्मक काम करने से मिलता था। इस कमी को पूरी करने के लिए विराम के समय श्रमिक को और कोई चसके का काम करने की आवश्यकता है जो उसके लिए आत्म-विकास का साधन बने तथा जिसे करने में उसे स्वतंत्रता हो।

सौभाग्यवश बच्चों से लेकर बूढ़ों तक सभी के अवकाश का समय क्रमशः बढ़ता जा रहा है। पाश्चात्य देशों में बच्चों को अब माता-पिता के घरेलू उद्योग-धन्धों में हाथ नहीं बँटाना पड़ता; प्राप्त वय पुरुष नाना प्रकार के पेशों में नियत समय-तक बभ्ने रहते हैं अथवा कारखाने में ७।८ घंटे काम करते हैं। स्त्रियाँ जिन्हें पहले गृहस्थी के काम-धंधे से कभी छुट्टी नहीं मिलती थी, उन्हें भी आजकल टीनो में बंद खाद्य पदार्थ और वैज्ञानिक आविष्कारों की सहायता मिलने से पहले से कहीं अधिक छुट्टी मिलने लगी है। अब समाज के मुखियों के सामने यह एक अभिनव और विकट समस्या उठ खड़ी हुई है कि इस विराम के समय का उपयोग कैसे करना चाहिये। इस चिन्ता से विकल हो कर एक शिक्षा-शास्त्री मानव जाति को सचेत करते हुए लिखते हैं—“सभी को अधिक से अधिक छुट्टी मिलने से जिस भयंकर परिस्थिति उठ खड़ी हुई है, वह अध्यापकों का ध्यान आकृष्ट करने के लिए उनके मुँह पर सदा थपेड़ा लगा रही है।”

सृष्टि के आदि काल से प्राण धारण करने के अभिप्राय से मानव-संतति प्रतिकूल शक्तियों से निरंतर लड़ती-झगड़ती आयी है। हाल में विज्ञान के सहारे जब उसकी खेती-बारी और उद्योग-धंधे से संबंधित समस्याओं का समाधान हुआ तभी सुरसा के अनुभव के साथ-साथ उसे अधिक से अधिक छुट्टी मिलने लगी है। इसका परिणाम शुभ और अशुभ दोनों हो सकता है।

बहुतों की धारणा है कि अवकाश का समय चैन की बाँसुरी बजाते हुए गँवा देना चाहिए। अतः अधिकतर लोग कुरुचिपूर्ण चित्रादि देख, जुआ खेल और नशाखोरी कर विराम का समय व्यतीत करते हैं। केवल अमेरिका में प्रति सप्ताह २०,५०० चलचित्रों को देखने के लिए १० करोड़ मनुष्य प्रायः एक अरब रुपये खर्च करते हैं। निशाकालीन गोष्ठो प्रभृति की बात ही क्या! ऐसी मंडलियों में नशीले पदार्थों का उपयोग, जुआ और भ्रष्टाचार का नंगा नाच हुआ करता है। वहाँ भी अरबों रुपये गल जाते हैं। यूरोप की प्रमुख राजधानियों की दशा प्रायः उसी प्रकार है। इनके अतिरिक्त मोन्ट कार्लों प्रभृति मनोविनोद के केन्द्र हैं जहाँ सारे संसार के जुआरी एकत्र होते हैं।

सारांश—

सृष्टि के आदि-काल से मानव जाति ने जीवन को परिपूर्ण और सार्थक बनाने का यत्न किया है। स्वभावतः वह संसार के बखेड़ों, संकटों और जंजालों का तीर काटते हुए सदैव आनंद की हिलोर में लहराना चाहती है। जीवन-यात्रा को सुखद और सानंद बनाने के लिए भिन्न-भिन्न देश के लोग समय-समय पर नाना प्रकार के आयास-प्रयास करते आये हैं; किन्तु मृग-मरीचिका की तरह आनंद सदैव उनकी पहुँच के बाहर भागता गया। सुख वा आनंद की परिभाषा में भी समय-समय पर फेर-बदल होता गया। उदाहरण के लिए आदिम मानव का उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है। भर पेट भोजन और सुराब्जित निवास-स्थान मिल जाने से वह जीवन को सार्थक मानता था। प्राचीन काल की कुछ तथाकथित सुसभ्य जातियाँ सुरा और नारी के भँवर में डूबने और उतराने को जीवन की पराकाष्ठा मानती थीं। इतिहास गवाही देता है उसका परिणाम अंत में विषमय हुआ। कालांतर में उन जातियों का नाम चिह्न तक मिट गया।

आधुनिक काल में जीवन-यात्रा की परिपाटी बड़ी जटिल हो गयी है। आबादी की निरंतर बढ़ोतरी, औद्योगीकरण, उत्पादन की कमी, और

सभी क्षेत्रों में प्रतियोगिता ने समस्या को और भी विकट बना दिया है। आजकल काम-धंधे और मन बहलाने के जितने भी निर्दोष साधन हैं, उनके बीच प्राचीन काल में जो गहरी खाई थी, उसे पाट देने की प्रवृत्ति है। चेष्टा इस बात की है कि एक दूसरे का परिपूरक बने। काम-धंधे में फँसे रहते समय भी लोग खेल-कूद का मजा चखें और खेलते-कूदते वे कोई नई विद्या वा कला सीखें। इसी विचार से बचकाने खेल-कूद शिक्षा की आधार-शिला बनाये गये हैं तथा श्रमिकों के काम-धंधे की एकरूपता में कुछ विचित्रता लाने की चेष्टा हो रही है। उद्देश्य यह है कि बच्चे मन लगा कर पढ़े लिखें, और मजदूर बेगार न टाल कर ध्यान देकर काम करें, जिससे उत्पादन की निरंतर वृद्धि हो।

इन दिनों विज्ञान की प्रगति ने एक और समस्या खड़ा कर दी है। वह यह कि आजकल वैज्ञानिक आविष्कारों की कृपा से सबको अधिक से अधिक अवकाश मिलने लगा है। अतः आशंका इस बात की है कि प्राचीन काल की तथा कथित सुसभ्य जातियों की तरह वे उस फालतू समय का दुरुपयोग कर जहन्नुम में न जायें। प्राचीन काल की अधिकतर जातियाँ लड़ाई-भिड़ाई से छुट्टी मिलते ही चैन की बाँसुरी बजाने लगती थीं। क्रमशः वे अधःपतन के निम्नतम स्तर तक पहुँच जातीं। फिर उन पर कोई दूसरी शक्तिमान् जाति विजय प्राप्त कर लेती। यही क्रम बराबर जारी रहता।

अगले अध्याय में प्राचीन काल की जातियाँ जिस रीति से अवकाश के समय का दुरुपयोग कर सर्वनाश की शिकार बनीं, उसी का वर्णन हो रहा है।

प्राचीन पृथ्वी की सभ्य जातियों के मनोविनोद के साधन

अवकाश के समय का दुरुपयोग

प्राचीन पृथ्वी की सभ्यता के प्रायः समस्त केन्द्रों के इतिहास की छान-बीन करने से पता चलता है कि जब जब प्राचीन जातियों को लड़ने-भिड़ने से छुट्टी मिली, सुगमता से खाने-पीने और रहने-बसने के स्थान का उचित प्रबंध हो गया, कला-कौशल तथा वास्तु-विद्या में भरपूर प्रगति हुई, व्यापार के प्रसार के साथ-साथ नयी बस्तियों की स्थापना हुई—थोड़े में, उन दिनों के प्रचलित सर्वमान्य मानदंड के अनुसार जब कोई जाति उन्नति की पराकाष्ठा तक पहुँच गयी, तब युद्ध-विग्रह, खेती-बारी सरीखे गहन काम बहुधा किराये के मजदूरों और दासों के हाथ सौंप कर वह स्वयं चैन की बाँसुरी बजाने लगी। प्रायः देखने में आता है कि सुख-विलास की सुकोमल शय्या पर लोट-पोट करते हुए अलस जीवन व्यतीत करने के जो आदी हैं, उनको अवकाश के समय की कमी नहीं होती। प्राचीन जातियाँ यह फालतू समय काटने के बहाने, मनोरंजन के साधनों का दुरुपयोग करती हुई सुरा और नारी के भँवर में डूबती उतराती रहीं। इस प्रकार विलास-व्यसन के दलदल में बुरी तरह फँस जाने के कारण अंततः उनका नाम चिह्न तक मिट गया।

बेबीलोनिया और असीरिया*

पश्चिमी एशिया में फ़रात और दज़ला नदियों के बीच के दोआब

*मेकेंजी : मिथ्स ऐण्ड लीजेण्ड्स; मेस्पट सिविलिजेशन; द' लाक्राय-इसत्वार द ला प्रोस्टिट्यूशियों; चन्द्र चक्रवर्ती-एन्शेन्ट रेसेज ऐण्ड मिथ्स हाबिन्सन् : फाइव ग्रेट मोनार्कीज इत्यादि पर आधारित।

का आधुनिक नांम मेसोपोटेमिया है। इस भू-भाग में बड़े प्राचीनकाल से शिष्टता और सभ्यता अबाध रूप में फूलने फलने लगी थी। इस सभ्यता की प्राचीनता हमारे देश के मोहिज्जोदङ्गो और हर्प्पा की संस्कृति से कहीं अधिक है। विशेषज्ञों की सम्मति है कि वह ईसा पूर्व ३००० से अधिक पुरानी नहीं है। इसके विपरीत बेबीलोनिया के इतिहास की प्रारंभिक भाँकी लगभग ईसा पूर्व ६००० में मिलती है।

सुमेर

इस प्रान्त में बारी-बारी से सभ्यता के तीन केन्द्र—सुमेर, बेबीलोनिया और असीरिया बने और कालान्तर में नष्ट-भ्रष्ट हो गये। आजकल की ईरान की खाड़ी के सिरे पर सुमेर राज्य बसा हुआ था। बड़े प्राचीन काल में वहाँ एरिडु, एरिच, लगाश, निप्पुर प्रमुख कई नगर राष्ट्रों की स्थापना हुई। क्रमशः इनको दबा कर ऊर ने सारे सुमेर पर अपनी प्रधानता स्थापित की। ऊर के शासक अपने को “चारों दिशाओं के पालक” (दिक्पाल) मानते थे। सुमेर के निवासी सिर मुँड़ा देते थे और सीधा-सादा, ऊन का बना हुआ लबादा पहनते थे। सुमेर वाले अच्छे व्यापारी होते थे। इस प्रसंग में कहा जाता है कि पूर्व दिशा में वे संभवतः पश्चिमी भारत तक पहुँच गये थे।

ईसा पूर्व २७५० के लगभग अक्काद नामक एक सेमेटिक जन-जाति का सितारा चमका इसके विपरीत सुमेर और बेबीलोन के निवासी संभवत आर्यों के पूर्वज, भूमध्यसागर वाली जाति के थे। प्रारंभिक दशा में अक्काद लोग बेबीलोन के उत्तर दज़ला के तट पर बसे हुए थे। सारगन प्रथम ने पश्चिमी ईरान के निवासी इलाम वालों को पछाड़ कर सुमेर पर धाक जमा ली। युद्ध में हार होने पर भी सुमेर वालों ने कालान्तर में अक्कादों पर नैतिक विजय प्राप्त की। धीरे-धीरे दोनों जाति के लोग घुलमिल गये, अक्काद लोगों ने सुमेर की भाषा और वर्णमाला अपनायी। सारगन के साम्राज्य का विस्तार पूर्व में इलाम से लेकर पश्चिम में भूमध्य सागर तक था। कुछ अधिकारियों ने इसका नाम सुमेर-अक्काद साम्राज्य दिया है।

सारगन और उसके वंशजों ने नहरें खुदवायीं तथा सड़कें और बन्दरगाह आदि बनवाये। सारगन स्वयं ज्योतिषशास्त्र की चर्चा करता था। इन दिनों सुमेर भाषा की बड़ी उन्नति हुई। सौ वर्ष के बाद पहाड़ी गुटियम्-जाति ने उस साम्राज्य पर चढ़ाई कर के उसे छिन्न-भिन्न कर दिया। बेबीलोन के प्रमुख बड़े-बड़े नगर ढहा दिये गये।

बेबीलोनिया

सुमेर के ठीक उत्तर में बेबीलोन बसा हुआ था। लगाश नगर-राष्ट्र के शासक एरिष्टमेना के बारे में कहा जाता है कि उसने बेबीलोनिया जीत कर कई नहरें खुदवायी थीं। तभी से बेबीलोनिया में दूध और शहद की सरिता बहने लगी। उस प्रान्त में पत्थर की कमी होने के कारण सामान्यतः कीचड़ का उपयोग होता था। इमारत बनाने के लिए प्रारंभिक दशा में कच्ची ईंटें काम में लायी जाती थीं। घर-गृहस्थी के अधिकतर सामान मिट्टी के बनते थे; लिखने के लिए खपड़े की तरह मिट्टी की बनी हुई पतली पटरियों का उपयोग होता था। प्रारंभ में फसल काटने के लिए मिट्टी के बने हुए हँसिये काम में लाये जाते थे।

ईसा पूर्व २१०० के लगभग इलान, एमोराईट और हिटाईट जन-जातियों को खदेड़ कर हामुरवि ने पहले पहल बेबीलोनीय साम्राज्य का संघटन किया और लोकाचार के आधार पर विधि-शास्त्र का संकलन किया। सन् १६०२ में सूसा (ईरान में) में टूटी फूटी दशा में इसकी एक प्रति खोज निकाली गयी। संसार भर में इससे प्राचीन विधि-शास्त्र और कोई भी नहीं है। यहूदियों के मूसा और हमारे देश के मनु भगवान् बाद में हुए थे। सात फुट तीन इंच ऊँची पत्थर की बनी हुई लाट पर यह संग्रह खुदवा दिया गया था। ऊपर सम्राट् की मूर्ति खुदी हुई है। बड़े विनय के साथ वह सिंहासन पर बैठे हुए सूर्य-देवता समाश् से विधि-शास्त्र प्राप्त कर रहा है। इस संग्रह से उन दिनों के बेबीलोनीय साम्राज्य की सामाजिक और आर्थिक स्थिति का पूरा-पूरा पता चलता है। इन्हीं दिनों कला-कौशल और साहित्य की बड़ी प्रगति हुई। देव-देवियों की सुन्दर सुन्दर मिट्टी की मूर्तियाँ बनने लगीं,

नगर-निर्माण हुआ और भव्य मंदिर तथा महल बने। गिलगामीश महा-काव्य की रचना इसी युग में हुई थी।

ईसा पूर्व १८०० के लगभग हिटाइटों का आक्रमण होने के कारण बेबीलोन में हामुरवि के वंशजों का पतन हुआ। चढ़ाई करने वालों ने ई-सेगिला नामक देव-मंदिर जला दिया तथा मेरोडाक और उसकी पत्नी जरपनिनुम् की मूर्तियाँ गायब कर दीं। २०० वर्ष के बाद कसाईत शासक अगुम द्वितीय ने मितानियों से उनका उद्धार किया।

मितानी और कसाईत दोनों आर्य जाति के थे। मितानी वाले मित्र-वरुण-इन्द्र-नासत्य प्रमुख वैदिक देवताओं को मानते थे। मितानी के शासक तुशरत्त के साथ मिश्र के फारो का वैवाहिक संबंध था। उसके फुफेरे भाई अमेन-होटेप तृतीय के बीमार पड़ने पर तुशरत्त ने निनेवे (असीरिया में) की इशतार देवी की मूर्ति भेजी थी। तभी से मिश्र में देवी जी को पूजने की प्रथा चल निकली। अमेन-होटेप का पुत्र अखेनाटन तुशरत्त का दामाद था। प्रायः सौ वर्ष तक असीरिया पर मितानी वालों का दबदबा जमा रहा। अंततः हिटाइट सर्दार सबी-जुलीउमाने मितानियों को मार भगाया।

बेबीलोन पर हिटाइटों का अधिकार हो जाने के थोड़े ही दिनों के बाद कसाईत जन-जाति के आर्यों ने हिटाइटों को निकाल बाहर कर धीरे-धीरे समग्र बेबीलोनिया पर अपनी धाक जमायी। लड़ते समय मितानियों की तरह वे घोड़ों और रथों का उपयोग करते तथा थोड़े-बहुत लोहे के बने हुए शस्त्रास्त्र भी काम में लाते थे। इसलिए वे अजेय माने जाते थे। कसाईत लोग बेबीलोनिया पर प्रायः ६०० वर्ष तक शासन करते रहे। बहुत दिनों तक बेबीलोन में रहने-बसने के कारण वे मेरोडाक को पूजने लगे थे। धीरे-धीरे बेबीलोन पर असीरिया का प्रभाव जमने लगा। असीरिया के अशूर उबालिट ने अपने एक नाती को बेबीलोन की गद्दी पर बैठाया तथा उसके पुत्र बेल निररी ने अपने पिता के काम को आगे बढ़ाया।

मेरोडाक की मूर्ति की कल्पना इस प्रकार की गयी थी कि वह धनु-धारी योद्धा था। वह पंखदार वृषभ की सवारी करता। देवता ऊर्ध्वलिंग थे,

तथा उस पर एक बिच्छु लपक रहा था। वृष की पूँछ से एक बिच्छु लटकता था। कसाईत लोग ज्योतिर्विद्या की चर्चा करते तथा लिंग पूजक थे। कसाईत सामन्त लोग शासक से प्राप्त भू-खंड की सीमा पर पत्थर खड़ा कर देते थे। इस पर देव-देवियों की मूर्तियों के अतिरिक्त पट्टा खुदाया दिया जाता था। इस प्रसंग में वृश्चिक, मीन, मकर, कर्कट प्रमुख कई राशियों के अतिरिक्त कई ग्रहों के चित्र भी मिले हैं। किसी-किसी पत्थर पर लिंग मूर्ति और स्वस्तिक चिह्न खुदे हुए हैं।

बेबीलोनिया के इतिहास की विलक्षणता यह थी कि चाहे किसी भी जाति का शासक बेबीलोन की गद्दी पर क्यों न बैठे, “बेल (मेरोडाक) देवता का हाथ थामना” वा उसकी अधीनता मानना उसके लिए अनिवार्य था। अतः वहाँ पुरोहितों की खूब चलती थी। असीरिया के सम्राट् सारगन के बेटे सेनाकरिन (ईसा पूर्व ७०५-६८०) के बारे में कहा जाता है कि उसने “बेल के हाथ थामने” से अस्वीकार कर दिया। इसलिए पुरोहितों से उसकी अनबन हो गयी। क्रुद्ध शासक ने ई-सेगिला का मंदिर तोड़-फोड़ दिया और बेल देवता की मूर्ति असीरिया भेज दी। बदला लेने के लिए पुरोहितों ने सेना केरिब के एक बेटे को पिता के विरुद्ध उभारा। उसने विद्रोह का झंडा फहरा दिया और अंततः पिता की हत्या कर दी। यह देख कर इस्सार हदन (ईसा पूर्व ६८०-६६८) ने पुरोहितों से समझौता कर लिया। उसने फिर से मंदिर बनवा दिया और देव-मूर्ति लौटा दी। उसके बेटे अस्मुर बनि-पल (ईसा पूर्व ६६८-६२६) को शिक्षा-दीक्षा बेबीलोन के पुरोहितों की देख रेख में हुई थी।

असीरिया

शान्ति की कला का बढ़ावा देकर प्राचीन पृथ्वी में बेबीलोनिया ने प्रगति की थी। इनके विपरीत असीरिया ने युद्ध-विद्या में कुशलता प्राप्त कर प्राचीन संसार में साम्राज्य का संघटन किया।

अक्काद के उत्तर में दज़ला नदी के दोनों तटों पर असीरिया देश बसा हुआ था। असीरिय लोग जाति के सेमेटिक थे। वे युद्ध-विद्या में बढ़ा

रस लेते थे। उनके महान् देवता अशूर योद्धा थे। वह गरुड़ की तरह पंख फैलाये और हाथों में तार-कमान लिये रहते थे। कदाचित् उनके हाथ में गाव-दुम की तरह देवदारु फल खोंस दिया जाता था। यह लिंग अथवा पुंसत्व का प्रतीक था। उसी देवता के नामानुसार प्राचीन राजधानी का नाम अशूर पड़ा था। आगे निनस् और सेमिरामिस् ने निनेवे को राजधानी बनाया। इसकी कुल इमारतें पत्थर की बनी हुई थीं। कई शतियों तक निनेवे सभ्य ससार का सिरताज बना रहा।

असीरिया का समूचा इतिहास तीन विभागों में विभक्त किया जा सकता है। इस बीच तीन-तीन बार उसका उत्थान और पतन हुआ।

आदि पर्व-अशूर उबालिट [मिस्र के फारो आखेनाटन (मृत्यु ईसा पूर्व १३५०) का समसामयिक] के शासन-काल से तुकुलती निनिय (ईसा पूर्व ६११) तक। उबालिट ने मितानियों को हरा कर निनेवे पर अधिकार कर लिया। उसने बेबीलोन के कसाईत शासक की पुत्री से विवाह किया और एक नाती को बेबीलोन की गद्दी पर बैठाया। उसके वंशधरों ने उसके श्वेय को आगे बढ़ाया। टिगलाथ पिलेसर प्रथम ने मितानी और हिटाइटों को हरा कर बेबीलोन पर अधिकार कर लिया। बढ़ती के दिनों में फ़रात और दज़ला के दोआब के अतिरिक्त उत्तर में आरामीनिया से लेकर दक्षिण में ईरान की खाड़ी तक के भू-भाग पर असीरिया के शासकों का दौर-दौरा स्थापित हो गया था। इस काल में सांस्कृतिक दृष्टि से असीरिया वाले बेबीलोनिया के साथ घुलमिल गये। अपने जातीय देवता अशूर के साथ-साथ वे बेबीलोन की कुल देव-देवियों को मानने लगे, तथा बेबीलोन वालों ने उनकी महादेवी इन्नीनी (अक्कादों की इश्टार) को अपनाया। असीरिया के शासक बेबीलोन की भाषा और रीति-रवाजों का प्रचार करने लगे।

मध्य पर्व (ईसा पूर्व ६११-७४६) अशूर-नर्गलसर पल (ईसा पूर्व ८८५-८६०) का पुत्रशलमनेसर तृतीय (ईसा पूर्व ८६०-८२५) था। वह जैसा वीर योद्धा था, वैसा ही विद्या-प्रेमी था। उसका कहना है कि उसने अपने शासन-काल में ३२ चढ़ाईयाँ की थीं। इस बीच उसने बेबीलोनिया के

चाल्डियन् शासक को अपना सामन्त बनाया । उसके बेटे शमशी-अदाद ने बेबीलोन पर अधिकार कर लिया ।

ईरान की खाड़ी के सिरे पर, इलाम और अरब के बीच, चाल्डिया देश बसा हुआ था । असीरिय राज-वंश की घटती के दिनों चाल्डिया के निवासी मुक्ति दिलाने का नारा लगाते हुए बेबीलोन पहुँचे थे । वे ज्योतिष-शास्त्र के अच्छे जानकार थे । विद्वत्ता में चाल्डिया वालों ने शीघ्र ही सुमेर के दकियानूसी विद्वानों को मात कर दिया । तभी से वे पश्चिमी एशिया के गुरु बन गये । स्याम और प्राचीन यूनान में उनका बड़ा आदर था । उन प्रान्तों में चाल्डिया वालों को लोगों ने 'प्राच्य के विज्ञों' की उपाधि दे रखी थी ।

शल्मनेसर तृतीय प्रख्यात बहुश्रुत था । कल्खी में उसने भारी पुस्तकालय स्थापित किया था । इसमें बेबीलोनिया का साहित्य ठसाठस भरा पड़ा था । उन दिनों पुस्तकें न तो छापी जातीं और न कागज की ही बनतीं थीं । बेबीलोन में उन दिनों मिट्टी की बनी हुई पटरियों पर पुस्तकें लिखी जाती थीं । अतः इस पुस्तकालय में पटरियों पर लिखी हुई पुस्तकों का संग्रह था । आगे अदीद-निरारी चतुर्थ, अशूर-निरारी चतुर्थ, सेना करिब प्रमुख विद्या-प्रेमी शासकों ने इसको और समृद्ध बनाया । अदीद-निरारी के शासन-काल में असीरिया और बेबीलोनिया के काल-क्रम की दृष्टि से तुलनात्मक इतिहास की रचना हुई ।

सम्मु-रम्मत

यूनान में देवी सम्मु-रम्मत का नाम सेमिरामिस पड़ा है । कहा जाता है कि उसका विवाह अदीद-निरारी चतुर्थ (ईसा पूर्व ८१०-७८२) के साथ हुआ था । बेबीलोनिया के लोग सम्मु-रम्मत को देवी मानते हैं । जैसे-जैसे दिन बीतते गये वैसे-वैसे देवी की विभूतियों का वर्णन करते हुए बहुत-सी दंत-कथाएँ चल निकलीं । इस प्रकार की एक कहानी नीचे दी जा रही है ।

सम्मु-रम्मत पिङ्की, कबूतर और मछलियों की अधिष्ठात्री देवी दरकेटो की पुत्री थी । जन्म लेते ही माँ ने बेटी को त्याग दिया । उस समय

पिङ्की और कबूतरों ने बच्ची की रखवाली की थी। इसलिए उसके नाम के आगे 'सम्मु' शब्द जोड़ दिया गया। असीरिय भाषा में 'सम्मत्' का अर्थ फारूता वा पिङ्की है। आगे राजकीय गड़ेरिये सिम्मस ने उसे पाला-पोसा। सयानी हो जाने पर निनेवे के कोतवाल ओनेस् से उसका विवाह हुआ। एक बार राजा निनस् बाबिलोनिया (वा तुर्किस्तान) में लड़ रहा था। सम्मु भी पति के साथ वहाँ उपस्थित थी। राजा ने किसी नगर को घेर लिया था। बहुत आयास-प्रयास करने पर भी उसे ले न पाया। इसी समय सम्मु ने राजा के आगे ऐसे कुछ सुझाव रखे जिससे झट उस नगर पर उसका अधिकार हो गया। तभी से निनस् उस पर लट्टू हो गया। किन्तु ओनेस् ने सम्मु को तलाक देने से अस्वीकार किया और अंततः आत्मघात कर लिया। तब राजा ने सम्मु से विवाह कर लिया। आगे छल-कपट रच कर देवी राजा को ले बीती। तभी से वह स्वयं शासन करने लगी। उसके बहुत से प्रेमिक थे। इसलिए वह महादेवी इश्टार की अवतार मानी जाती थी। वह बड़ी प्रतापी शासक, भव्य निर्माता और विश्व-विजयिनी वीर थी। कहा जाता है कि उसने भारत पर भी चढ़ाई की थी। किन्तु हार होने के कारण भागना पड़ा। मरने के उपरान्त लोग उसे पिङ्कियों की देवी मान कर पूजने लगे। पाफोस (साइप्रस् में) में वह पेड़-पौधों तथा पिङ्कियों की अधिष्ठात्री देवी मानी जाती थी। जीते जी उसने महामाया को पूजने की प्रथा का व्यापक प्रचार किया था।

प्रान्तीय विद्रोह, बाहरी हमलों, भूकंप और ग्रहण सरीखी लौकिक और दैवी आपत्तियों के बीच असीरिया के इतिहास का मध्य पर्व समाप्त हुआ (ईसा पूर्व ७४६)।

अंतिम पर्व (ईसा पूर्व ७४६-५४०)—टिग्लथ पिलेसर चतुर्थ (ईसा पूर्व ७४५-७२७) मध्यपर्व के अंतिम शासक अशूरनिरारी चतुर्थ को हटा कर स्वयं गद्दी पर बैठा। उसके शासन-काल में असीरिया का एक बार फिर भाग्योदय हुआ। कापाडोशिया से मिस्र तक उसने असीरिया की धाक जमा दी। बेबीलोनिया से टिग्लथ का संबंध घनिष्ठ था। उसने प्रथानुसार 'बेल का

हाथ था।^{११} भ्रष्टाचार के कारण सारगन द्वितीय ने इसरायेल की दस जन-जातियों को बरजोरी मीडिया की सोमा पर बसाया। वह महामायी पंथ का अनुयायी था और अनु-बेल-ईया नामक त्रिमूर्ति को पूजने की रीति चालू की। सेनाकेरिब (ईसा पूर्व ७०१-६८०) ने जरुसलेम पर चढ़ाई कर दी थी, किन्तु सेना-निवास में महामारी फैलने के कारण पीछे हटना पड़ा। बेबीलोन में विद्रोह हो जाने के कारण उसने उस नगर की ईंट से ईंट बजा दी। उसने निनेवे के चारों ओर दूसरी चहार-दिवारी बनवायी और नहर आदि खुदवा कर पानी मुहैया करने का प्रबन्ध किया। इसार-हदन (ईसा पूर्व ६८०-६६८) ने बेबीलोन की एक राजकुमारी को ब्याहा। उसने बेबीलोन का पुनर्निर्माण किया तथा व्यापार और उद्योग-धन्धों को बढ़ाया। वह जातीय देवता अशूर के साथ-साथ महामायी को भी मानता था। उसने निचले मिस्र पर चढ़ाई कर मेम्फिस पर अधिकार कर लिया और पूर्वी भूमध्यसागर पर स्थित टायर बंदरगाह को जीता। इसी समय सिडोन नगर ढहा दिया गया। अशूर-बनि-पल (ईसा पूर्व ६६८-६२६) ने ई-सेगिला मंदिर को बढ़ाया, “बेल का हाथ था।” और महामायी को पूजने लगा। मिस्र पर चढ़ाई कर उसने थीब्स को ढहा दिया। तभी से मिस्र के फारो असीरिया के सामन्त बने। फिर उसने इलाम की राजधानी सूसा को जीता। इसी समय उसके छोटे भाई ने, जो बेबीलोन पर शासन करता था, बलवा कर दिया। इसलिए बनि-पल ने बेबीलोनिया को अपने साम्राज्य में मिला लिया। निनेवे में उसने एक भव्य महल बनवाया। उसकी भातों पर जो खुदाई का काम है, वह अनुपम माना जाता है। निनेवे में उसने एक प्रकाण्ड पुस्तकालय स्थापित किया था। उसमें पट्टी पर लिखी हुई पुस्तकों का भारी संग्रह था। उसके राज्य-काल के अंतिम दिनों में बेबीलोन में भारी बलवा हो गया। मीड्स और ईरानियों ने सूसा छीन कर निनेवे को घेर लिया। अक्सर मिलते ही मिस्र का फारोनेको पश्चिमी एशिया पर चढ़ाई कर फिलस्तीन तक पहुँच गया। किन्तु कुमार नेबुकद-नज़ार ने उसे मार भगाया। नेबुकद-नज़ार द्वितीय (ईसा पूर्व ६०४-५६२) बड़ा भारी निर्माता था। उसने बेबीलोन

को नये सिर से फिर से बनाया । हिरांडोटस् ने इस नर्वान नगर का विशद वर्णन किया है । नेबुकद-नज़ार ने मिस्र के एशियाई इलाकों पर फिर से अधिकार कर लिया और मरा-सागर के तट पर स्थित जूदा के शासक को अपना सामन्त बनाया । उसकी बनायी हुई “लटकती हुई बाटिका” देख कर अभी तक लोग दाँतों तले उँगली दबाते हैं । वह प्रगाढ़ पण्डित था तथा ऐतिहासिक शोध कार्य में रस लेता था । सारगन प्रथम की तिथि उसी ने पहले पहल खोज निकाली थी । नेबोनिदस् बेबीलोन का अंतिम शासक था । उसने कई धार्मिक सुधार किये तथा सूर्य और चन्द्र के मंदिर बनवाये । इस-लिए दकियानूसी पुराहितों से उसकी अनबन हो गयी । इसी समय ईरान के शाह साईरस् ने बेबीलोनिया पर चढ़ाई कर दी । जनता के तटस्थ रहने के कारण शीघ्र ही बेबीलोन का पतन हुआ (ईसा पूर्व ५३६) चढ़ाई के कारण यद्यपि नगर को बहुत नुकसान पहुँचा, तथापि अधिकार हो जाने पर साईरस् ने कूटनीति से काम लिया । यथा रीति उसने “बेल का हाथ थामा” । क्रमशः बेबीलोन को महामायी ने ईरान वालों के धार्मिक विश्वास को प्रभावित किया । अहुरमज़दा बेल मेरोडाक और अशूर के साथ घुलमिल गये और देवी अनहित (यूनानी एनेटिस्) नीना और इश्टार की अवतार मानी गयीं । ईसा पूर्व ३३१ में दारा तृतीय को युद्ध में नीचा दिखा कर सिकन्दर महान् ने बेबीलोन पर अधिकार कर लिया । सिकन्दर ने बेल मेरोडाक को मान्यता दी ।

हामुरवि का विधि-शास्त्र

+ पर कहा जा चुका है कि हामुरवि के विधि-शास्त्र की समीक्षा करने से ईस पूर्व २००० के लगभग बेबीलोन तथा उसके अधीनस्थ प्रान्तों की सामाजिक दशा का काम-चलाऊ पता लग जाता है । समाज तीन श्रेणियों में विभक्त था । उच्च वर्ग में बड़े-बड़े जमींदार, उच्च पदस्थ राज-कर्मचारी, सामन्त और शासक लोगों की गिनती होती थी । छोटे-मोटे भूमिधर, व्यापारी प्रभृति मध्यम वर्ग के माने जाते थे । इन दोनों स्वतंत्र वर्गों के नागरिकों के अतिरिक्त बहुत सी दास-दासियाँ भी थीं, जो निम्न

श्रेणी की थीं। धनिकों पर जुर्माना अधिक किया जाता था। न्यायालयों में मुकदमों की पेशी होती थी। परमेश्वर की सौगंध लेकर गवाहों को साक्ष्य देना पड़ता था। झूठी गवाही देने से मृत्यु-दंड दिया जाता था। कदाचित् २०।३० गुना हर्जाना लेकर अपराधी बरी कर दिया जाता था। डकैती का हर्जाना मंदिर को मिलता था। सामान्यतः दाँत के बदले दाँत और आँख के बदले आँख लेने की प्रथा चालू थी। किसी स्वतंत्र नागरिक की आँख फोड़ने वा उसकी हड्डी तोड़ने से अपराधी को वही दंड दिया जाता था। किन्तु दास-दासियों पर ज्यादाती करने से जुर्माना किया जाता था। उच्च वर्ग के किसी सदस्य को पीटने से निम्न श्रेणी के लोगों को कोड़े लगते थे। बेटा यदि बाप को मारता तो उसके हाथ काट दिये जाते। कोई दास यदि मालिक के पुत्र पर हाथ चलाता तो उसके कान काट लिये जाते थे। चूक करने पर वैद्यों को हर्जाना देना पड़ता था। चोर-फाड़ करते समय यदि रोगी की मृत्यु होती तो वैद्य के हाथ काट लिये जाते थे। दास-दासियों के प्राण लेने से वैद्यों को हर्जाने में वैसी दास-दासी देनी पड़ती थी। रोगी की सामाजिक स्थिति के अनुसार वैद्य को शुल्क देना पड़ता था। पालतू पशुओं की चिकित्सा के लिये भी यही नियम लागू था। विश्व वैद्यां का बड़ा सम्मान होता था। इसके अतिरिक्त झाड़-फूंक तथा यंत्र मंत्र आदि का भी समाज में बहुत प्रचार था।

स्त्रियों की सामाजिक स्थिति गिरी न थी। पुत्री के सयानी हो जाने पर पिता उसे उपयुक्त वर के हाथ सौंपता था। विवाह हो जाने पर भी वह अपनी बाप की बेटी बनी रहती—अमुक की पत्नी नहीं बन जाती। सामान्यतः वर चुनने का अधिकार पिता का होता था। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि समाज में प्रेम-जनित विवाह बिलकुल नहीं होता था। कभी-कभी कन्याएँ घर के दासों से विवाह कर लेती थीं। तिलक के अवसर पर वर को कन्या-मूल्य देना पड़ता और कन्या का पिता दहेज के रूप में कुछ रकम देता था। विधवा-विवाह करने के लिए न्यायाधीश की आज्ञा लेनी पड़ती थी। व्यभिचार के लिए कठोर दंड दिया जाता

था। सामान्यतः भ्रष्टाचारी स्त्री-पुरुष दोनों को एक साथ बाँध कर पानी में डुबा दिया जाता था। समाज में तलाक देने की प्रथा प्रचलित थी। किसी की पत्नी यदि बाँझ निकलती, किंवा पति यदि दूसरी किसी स्त्री के प्रेम में फँस जाता अथवा यदि आपस में मेल न बैठता तो एक दूसरे से अलग हो जा सकते थे। किन्तु यदि कोई स्त्री प्रेमिक के बहकावे में आकर पति से संबंध तोड़ना चाहती तो उसे मौत की सजा दी जाती थी। विवाहित स्त्रियों की निजी सम्पत्ति होती थी। अलग होते समय दहेज की रकम लौटा दी जाती थी। वह रकम लेकर त्यागी हुई स्त्री मायके चली जाती। स्त्रियों के लिए एक ही पति का होना अनिवार्य था, किन्तु पुरुष पत्नी के अतिरिक्त रखेली रख ही लेते थे। बीमार पत्नी को पति तलाक नहीं दे सकता था। आमरण वह पति के यहाँ पड़ी रहती थी। स्त्री-निंदकों को उनकी सामाजिक स्थिति के अनुसार दण्ड दिया जाता था।

सामान्यतः पुत्र-पुत्रियाँ पैतृक सम्पत्ति की अधिकारिणी होती थीं। किन्तु जीते-जी यदि कोई पुरुष पत्नी के नाम सम्पत्ति लिख देता तो उसके मरने पर विधवा को सारी सम्पत्ति मिल जाती। फिर मरते समय वह उसे अपने प्रिय पुत्रों में बाँट दे सकती थी। किन्तु किसी भी दशा में वह अपने भाइयों को नहीं दे सकती थी। बेढंगे पुत्र को पिता त्याग भी दे सकता था जीते-जी यदि किसी दासी-पुत्र को पिता ने मान्यता दी हो, तो उसे भी थोड़ा-बहुत मिल जाता था।

कोई-कोई महिला देवदासी बन जाती थीं। पैतृक सम्पत्ति मिलने पर वह व्यापारिक करके उसे बढ़ा भी सकती थी। वह जीवन भर ब्रह्मचारिणी रहती थी। यदि कभी वह विवाह भी कर लेती तो पति को रखेली भेंट करनी पड़ती थी। व्रत लेते समय यदि उसे सम्पत्ति न मिली हो तो पिता के मरने पर भाइयों के हिस्से की एक तिहाई उसे मिलती थी।

कलवरियों में बिक्री-बट्टे का काम सामान्यतः स्त्रियाँ करती थीं। सुरा के बदले वे या तो रुपये या अनाज लेती थीं। बेईमानी करने से उन्हें पानी में डुबा दिया जाता था।

देवदासियों के अतिरिक्त बाजारी रमणियों की कमी न थी। इयाबनि को बहका कर नगर में लाने वाली एक वेश्या थी। फिर कुछ लंग ऐसे पतित थे जो वेश्या की कमाई खाते थे। नेबुकदनेज्जार द्वितीय के शासन-काल में बेबीलोन में एगिवी के वंशज दासियों की कमाई खाते थे। नेबुअहेदीन ने कलबा के साथ समझौता किया था कि वह कलबा का कुछ दासियाँ देगा, किन्तु उनकी कमाई का $\frac{3}{4}$ भाग वह स्वयं लेगा।

गिलगामेश महाकाव्य

ऊपर कहा जा चुका है कि प्राचीन बेबीलोनिया में ओम्माआ की बहुत चलती थी। फाड़-फूँक करते समय सामान्यतः वे दाँहे-चौगई आदि दोहराते थे। मिट्टी की पट्टियों पर लिखी हुई ऐसी कविताएँ हजारों की संख्या में मिली हैं। ये अधिकतर बे-तुक और अर्थहीन हैं, फिर उपमा आदि भी अद्भुत हैं। तथापि इनका महत्व है। बे-सिर-पैर और ऊट-पटांग की इस कीच में से सच्ची कविता फूट पड़ी। कालान्तर में इसी बेदबपन को आधार-शिला बना कर गिलगामेश महाकाव्य की रचना हुई।

निनेवे में स्थित अशूर-बनि-पल के पुस्तकालय में इस महाकाव्य का बहुत-सा भाग मिला है। इधर-उधर से भा २३ पट्टारियों का उद्धार किया गया, जिससे ऐसा लगता है कि इस महाकाव्य की रचना ईसा पूर्व २००० के लगभग हुई होगी।

प्राचीन यूनान में जैसे हरक्युलिस हो गये अथवा हमारे देश में जैसे हनुमान् वा भीम हो गये, उसी प्रकार प्राचीन बेबीलोनिया में गिलगामेश अपनी वीरता, साहस और शारीरिक बल के लिए प्रख्यात था। ऐसा लगता है कि गिलगामेश के जन्म लेते ही उसकी माँ ने उसे त्याग दिया। कहा जाता है कि एक गरुड़ पक्षी ने किसी बगीचे में उसका पालन पोषण किया था। कालान्तर में उसने बहादुरी में बड़ा नाम कमाया। सुमेर में प्राप्त ठप्पों में प्रायः उसे सिंहा के साथ लड़ते देखा जाता है। धीरे-धीरे वह एरेच का शासक बन गया। कुछ दिनों के बाद इलाम वालों ने एरेच को घेर लिया। किन्तु देव-देव अरुरु की कृपा से गिलगामेश को इया-बनि नाम का एक विरक्त

मित्र मिल गया। दोनों ने मिलकर इलाम वालों को मार भगाया। फिर उन्होंने इलाम पर चढ़ाई कर दी। इसके बाद समारोह के साथ एरेच में गिलगामेश का राज्याभिषेक हुआ। सड़कें माला और फूल-पत्तियों से सजायी गयीं, घर के द्वारों पर मालाएँ टाँगी गयीं, जगह-जगह पर मारु बाजे बजने लगे। नियत समय पर फूल-माला पहने कुछ कन्याएँ चारों दिशाओं में फूल बरसाती हुई और मंगल-गीत गाती हुई, सजी हुई, एक रथ को घेरकर आ निकलीं। उसके आगे-आगे झंडे लहराती हुई सेना दल की कई टुकड़ियाँ कदम मिलाकर चल रही थीं।

सुरीले कंठ मिलाकर कन्याएँ गा रही थीं—हमारे रत्नक गिलगामेश की जय हो ! समारोह के साथ उसका अभिषेक करो ! हमारा वीर योद्धा आ गया ! गला फाड़ कर चिल्लाओ ! आओ, हम उसे मुकुट पहनावें ! बढ़ चलो, शमश के मंदिर की ओर बढ़ चलो ! वहीं उसका अभिषेक होने वाला है। वही हमारा चुना हुआ शासक है। माताओं, कन्याओं, बहनों, कंठ मिलाकर सोच्छ्वास मंगल-गीत गाओ ! उसने अक्काद की शान बढ़ायी। उसकी जय हो !

अभिषेक के अनन्तर एक दिन गिलगामेश शिकार खेलने गया। थका-हारा जब वह एक छोटी-सी नदी के किनारे सुकोमल पास पर लेटा हुआ विश्राम कर रहा था। तभी एकाएक वहाँ दिग्-वसना इश्टार देवी आ पहुँची, और लजाते हुए टूटे-फूटे शब्दों में अपना प्रेम जतलाया। तब धुला हुआ नीला आकाश श्यामल धरणी को छूने के लिए निहुर गया था, भूमते हुए फूल एक दूसरे को चूमने के लिए तरस रहे थे, पेड़ की पत्तियाँ एक दूसरे से चिपक जाने के लिए अकुलाती थीं, मंद-मंद बहते हुए पवन में मादकता भरी पड़ी थी, कबूतर गुटरूगूँ कर रहे थे और नदियाँ हठलाती हुई आगे बढ़ रही थीं। ऐसे मोहक वातावरण के बीच मदमाती मुस्कान के साथ लहराते हुए केश पाश के द्वारा अपना सुकुमार स्थान ढँक कर और उभरे हुए स्तनों पर दोनों बाँह रख कर स्वर्ग-राज्य की महादेवी बोली—
“सौम्य मानव, कैसे आना हुआ ? आप क्या कोई राजा हैं अथवा ऋषि ?”

पूछते समय उसकी छाती धड़कने लगी और चेहरे पर लालिमा छा गयी। फिर दम लेकर धीरे-धीरे वह बहकाने वाली बातें बुदबुदाने लगी। परन्तु महादेवी के कुल आयास-प्रयास और चिरौरी-बिनती बेकार गयीं। गिलगामेश टस से मस न हुआ। सर्वोपरि उत्तर में उसने देवी के छल-कपट का कच्चा चिट्ठा खोल कर रख दिया।

इस प्रकार धिक्कारे जाने से महादेवी ने रिसा कर अपने पिता अनु के पास जा नमक-मिर्च लगा कर उपर्युक्त घटना का वर्णन किया। सुनते ही अनु ने गिलगामेश का वध करने के लिए एक भयंकर बैल भेजा। किन्तु गिलगामेश उसे ले बीता। इस पर महादेवी ने गिलगामेश और इयाबनि को अभिशाप दिया। फलतः इया-बनि शीघ्र ही परलोक सिधारा और गिलगामेश का स्वास्थ्य बिगड़ा। तब मृत-संजीवनी की खोज में गिलगामेश घर से निकल पड़ा। इस प्रसंग में उसे अनेकों कष्ट भेलते हुए नरक में से गुजरना पड़ा। वहाँ से समुद्र पार कर वह एक द्वीप में पहुँचा। वहाँ उसका पूर्वज पीर-नपिष्टिम रहता था। पीर ने महाप्रलय का सजग वर्णन किया। ऐसा लगता है कि महाप्रलय का यह सबसे प्राचीन विवरण है। बाईबिल और मनु के विवरण बाद में रचे गये। अंततोगत्वा ईया और बेल की कृपा से गिलगामेश का बिगड़ा हुआ स्वास्थ्य सुधर गया। फिर मृत-संजीवनी लेकर यह एरेच लौटा और अपने मित्र इया-बनि को जिला दिया।

कुछ लोग गिलगामेश महाकाव्य को रूपक मानते हैं। उनका कहना है कि उक्त काव्य में बारह महीनों में बारहों राशियों में से होते हुए सूर्यभगवान की परिक्रमा का कविता रूप में वर्णन हुआ है।

विवाह की हाट

गिलगामेश महाकाव्य में नायक की रोमांचकारी कृतियों के अतिरिक्त प्राचीन बेबीलोन की एक विलक्षण प्रथा का विशद वर्णन है जिसका उल्लेख तक हामुराबि के विधि शास्त्र में नहीं है। किन्तु हिरोडोटस् इस प्रथा का उल्लेख करते हुए कहता है कि इटली की इलीरिय जन-जाति में

यह प्रथा प्रचलित थी। हमारे देश में शिमला से थोड़ी दूर प्रति वर्ष इस प्रकार का एक मेला लगता था जहाँ पहाड़ी कन्याएँ बिकती थीं। संभवतः आज कल यह प्रथा बंद हो गयी है।

ऐसा लगता है कि सुमेर के एरेच नगर में प्रति वर्ष महादेवी बेलिट के सम्मान में समारोह के साथ यह उत्सव मनाया जाता था। उस दिन एरेच के निवासी छुट्टी मनाते थे। महादेवी बेलिट निपूर के नगर—देवता एनलील की शक्ति थी। आगे वह इश्टार, नोना प्रमुख देवियों के साथ धुलमिल कर महामाई बन गयी। फिनीशिया के लोग बेलिट को चन्द्र देवता बाल की शक्ति मानते थे।

शासक स्वयं इस मेले की तिथि नियत कर ढिंढोरा द्वारा जनता को सूचित करता था। उस दिन पौ फटते ही कुमारी कन्याएँ साज-सजावट कर हँसते-खेलते और गाते-बजाते, छोटे छोटे दलों में विभक्त होकर चौक की ओर चल पड़ती थीं। इस मेले के उपलक्ष्य में चौक में कुतूहली दर्शकों के अतिरिक्त विवाहार्थी धनिक और दरिद्रों की भारी भीड़ लगती थी। कुमारी कन्याओं के जीवन में वह धन्य तिथि मानो जाती थी। उस दिन वे कुमारी दशा को पार कर विवाहित जीवन का स्वाद चखने के लिए अकुलाने लगती थीं। किसी के भाग्य में सुख बदा होता तो किसी के भाग्य में दुख ही दुख !

उत्सव के दिन बीच चौक में एक ऊँची वेदी बनायी जाती थी। उसे फूल-माला और बेल-वृटों से खूब सजाया जाता था और ऊपर फूलों का बना हुआ एक मनोरम चँदवा टांग दिया जाता था। वेदी पर फूलों से सजा हुआ एक सुन्दर सिंहासन रख दिया जाता था। बिकाऊ कन्याएँ बारी-बारी से उस सिंहासन पर बैठायी जाती थीं। वेदी के नीचे उद्घोषक को घेर कर विवाहार्थी सम्पन्न और दरिद्र क्रेता लोग खड़े रहते थे। प्रारम्भ में सुन्दरी कन्याओं की रानी साज-सिंंगार करधीमी चाल से जाकर सिंहासन पर बैठती थीं। उसी क्षण उद्घोषक चिल्ला उठता—“आँखें फाड़ कर देखिये, सुन्दरी कन्याओं की महारानी विराज रही हैं ! बोली बोलें !” इस पर वह कन्या

धड़कती हुई छाती से अपना पहनावा उतार देती तथा दीन नयनों से धनिक वर्ग की और ताकती रहती थी। तब मोहित दर्शक लोग उस कन्या के मूल्य पर होड़ा-होड़ी करने लगते थे। निदान जो भी क्रेता सर्वोच्च मूल्य देने को तैयार हो जाता उसी के हाथ लिखा-पढ़ी करके वह कन्या सौंपी जाती थी। कभी-कभी नवयुवक क्रेता लोग आवेश में होकर दुनियादार बूढ़े खरीददारों से अधिक मूल्य देने को तैयार हो जाते थे। इस पर व्यङ्ग-भरी हँसी हँसकर अनुभवो वृद्ध वहाँ से चल देता। महारानी के बिक जाने पर उससे कुछ हेठी कन्या सिंहासन पर बैठायी जाती यह क्रम बहुत देर तक जारी रहता था। सुन्दरी कन्याओं का बिक्री-बढ़ा समाप्त हो जाने पर साँवली कन्याओं की बारी आती थी। ऐसी कन्याओं के क्रेता अधिकतर मध्यवित्त श्रेणी के पुरुष होते थे। अंत में काली-कलूटी कन्याओं की बारी आती थी। इनसे विवाह करने वालों को राष्ट्र की ओर से कुछ रकम दहेज के रूप में दी जाती थी। इस तरह देश भर के सभी लोगों को घर-गृहस्थी रचने का अवसर दिया जाता था। यदि किसी कन्या को वर मन-चाहा न जँचता, तो वह रुपया फेर कर घर लौट सकती थी। कन्या मोल लेने के बाद प्रत्येक क्रेता को विवाह करने का राजीनामा (अनुबन्ध) लिख देना पड़ता था। यदि वह ऐसा करने से आगा-पीछा करता तो उसे हरजाना देना पड़ता। कन्या-दान की रीति-क्या थी, इसका पता नहीं चलता। किन्तु तिलक के दिन वर कन्या के हाथों में कुछ सुगन्धित पदार्थ रखता था। कपड़े, गहने, आदि उपहार के रूप में देता था।

ज्योतिष

यदि कहा जाय कि प्राचीन बेबीलोनिया की संस्कृति की जन्मभूमि देव मन्दिर थे, तो अत्युक्ति न होगी। पुरोहित लोग वैयाकरण, लेखक, गणितज्ञ, तत्त्वज्ञानी, अध्यापक तथा विद्या और कला के शाश्वत पृष्ठपोषक थे। उन्हीं के उत्साह से सुमेर भाषा बोलचाल की भाषा न रहने पर भी बहुत दिनों तक सांस्कृतिक भाषा बनी रही।

प्राचीन भारत के पुरोहितों के बारे में कहा जाता है कि यज्ञ-हवन

के अवसर पर वेदी और होम-कुरण्ड की बनावट के प्रसङ्ग में उन्होंने बीज-गणित का जन्म दिया था, मिस्र के पिरामिड-निर्माताओं ने ज्यामिति का आविष्कार किया था, तो फलित और गणित ज्योतिष शास्त्र को प्रचलित करने का श्रेय बेबीलोन के पुरोहितों का है।

प्राचीन बेबीलोन में प्रत्येक ग्रह एक-एक देवता का स्वरूप माना जाता था। जैसे मरोडाक का ग्रह-राज बृहस्पति से तादात्म्य साधा जाता, इश्टार का शुक्र से, ईया का मीन से, एनलील के बेटे निनिप का शनि से मरोडाक का पुत्र नीबोका बुध से और यमराज ने रगल का मङ्गल ग्रह से बारहों महीनों के अधिष्ठाता देवता एक एक ग्रह माने जाते थे, जैसे तीसरे महीने के साथ चन्द्र का नाता जोड़ा जाता था, निनिप के साथ चौथे महीने का, इश्टार के साथ छठे महीने का, शमाश के साथ सातवें महीने का इत्यादि।

बेबीलोन के पुरोहितों ने पहले पहल राशि-चक्र का निर्माण किया था। सामान्यतः इसकी तिथि ईसा पूर्व २०८४ नियत की जाती है। बेबीलोन के संपर्क में आने पर पहले फिनीशिया के निवासियों फिर हिटाइटों ने उसे अपनाया। कालान्तर में मिस्र और यूनान से होते हुए वही राशि-चक्र अंततः भारत में पहुँचा। पहले पहल बेबीलोनिया वालों ने इस तथ्य का आविष्कार किया था कि रवि-मार्ग बिल्कुल गोलाकार नहीं वह ऊपर और नीचे कुछ चिपटा-सा है। आगे उन्होंने रवि-मार्ग को बारह कक्षाओं में विभक्त कर एक कक्षा में एक एक ग्रह जमा दिया। इसी का नाम राशि-चक्र पड़ा। नीचे दी हुई सारणी में बेबीलोन प्रचलित मासों तथा प्रत्येक मास से संबद्ध ग्रहों के नाम दिये जाते हैं।

बेबीलोन का मास	अंग्रेजी मास	भारतीय मास	राशि
१) निसन	मार्च-अप्रिल	चैत	मेष
२) ऐय्यर	अप्रिल-मई	वैशाख	वृष
३) सिबन	मई-जून	जेठ	मिथुन
४) तम्मुज़	जून-जुलाई	अषाढ़	कर्कट

५) श्राव	जुलाई-अगस्त	सावन	सिंह
६) एलुल	अगस्त-सितम्बर	भादों	इश्टार
७) तिस्त्रि	सितम्बर-अक्टूबर	कुआर	तुला
८) मार्चेस्वान	अक्टूबर-नवम्बर	कार्तिक	वृश्चिक
९) चिसल्यू	नवम्बर-दिसम्बर	अग्रहन	धनु
१०) तेवेट	दिसम्बर-जनवरी	पूस	मकर
११) सेवत	जनवरी-फरवरी	माघ	कुम्भ
१२) अदर	फरवरी-मार्च	फागुन	मीन

चान्द्र संवत्सर का शुभारंभ मकर संक्रांति (दक्षिणायन) से माना जाता था। यहाँ स्मरणीय है कि गृह्य सूत्रों के अनुसार वैदिक काल में क्वार की पूर्णिमा से चान्द्र संवत्सर का आरम्भ होता था। परन्तु तमिल प्रमुख जातियों का संवत्सर मकर के बाद लगने वाली पूर्णिमा से प्रारम्भ होता है। भारतीय युग की अवधि ४, ३२०, ००० वर्ष मानी जाती है। बेबीलोन में, पूर्व-प्रलय काल में दस ऐसे शासक हो गये जो उतने ही वर्ष तक शासन करते रहे। ग्रहण लगने की सूचना पहले से दी जाती थी। ग्रहण लग जाने पर मान मंदिरों से उसके प्रभाव की समीक्षा की जाती थी। बेबीलोनिया में पहले-पहल सूर्य-घड़ी का आविष्कार हुआ था।

लटकती हुई बाटिका—

कर्टियस् नामक एक यूनानी लेखक का कथन है कि प्राचीन बेबीलोन में अनगिनत बाग-बगीचे और फुलवारियाँ थीं। समूचे नगर के आधे भाग में पुष्प-बाटिकाएँ थीं। प्रत्येक चौराहे पर बाग था। इन बाग-बगीचों में सुन्दता में नेबुकदनज़र द्वितीय (ईसा पूर्व ६०४) के बनाये हुए लटकते हुए बाग को कोई भी पा नहीं सकता था। यूनानी दर्शक इसकी बनावट और सजावट देख कर दाँतों तले उँगली दबाते थे। इस चौकोर बगीचे का क्षेत्रफल लगभग आध मील था। लटकते हुए बाग की बनावट इस प्रकार की थी—पत्थर के बने हुए लंबे-चौड़े और खोखले चहबन्चों की कतार, विशाल सीढ़ी की तरह एक पर दूसरी जमा दी गयी थी। ऊँचाई में वह बाग लगभग

३५० फुट था। मजबूती के लिए इसके चारों ओर बीस फुट मोटी पत्थर की भीत खड़ी कर दी गयी थी। ऊपर के चहबच्चों को सम्हालने के लिए नीचे पत्थर की असंख्य छोटी-बड़ी अर्ध-गोलाकार मेहराबें बनी हुई थीं। मेहराबों के नीचे, खंभों के बीच कुंज-बन की भाँति सजी हुई प्रमोद-शालाएँ थीं। चहबच्चों की गहराइयों में उपजाऊ मिट्टी भर दी गयी थी। मिट्टी की परत इतनी मोटी थी कि उनमें सब प्रकार के फल-फूल के पेड़-पौधे अनायास लग जाते थे। एक चबूतरों से दूसरे पर चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ थीं। सिंचाई के लिए सबसे ऊपर के मरातिब पर एक विशाल हौज था। यंत्रों की सहायता से वहाँ नदी का जल पहुँचाया जाता था। दूर से दर्शकों को ऐसा लगता था कि मानो वह उद्यान अधर में स्थित है। इसीलिए इस बगीचे का नाम लटकती हुई बाटिका पड़ा।

शिकार—

असीरिया के शासक लोग आखेट के बड़े प्रेमी होते थे। टिग्लथपिलेसर ने (प्रथम) हिटाइटों का वहिष्कार कर बेबीलोन पर अधिकार जमाया था। वह जब आरामीनों के साथ लड़ रहा था, तब वह बिलु पहाड़ की तलहटी में शिकार खेलने गया। इस प्रसंग में वह लिखता है “मैंने दस हाथी मारे और चार जोवित पकड़ लिये। मुर्दों के दाँत और चाम तथा सब जीवित हाथी अशूर में लाये गये।” वह और भी कहता है कि “मैंने जीवन भर में १२० सिंह और सैकड़ों जंगली बैलों को मारा। इनके अतिरिक्त कहा जाता है कि उसने ‘नखिर’ नामक एक भयंकर समुन्दरी जानवर का काम तमाम किया था। अशूर-बनि-गल ने निनेवे में एक भव्य महल बनवाया था। उसी प्रकार अन्यान्य शासकों ने कोयुनजिक, मिररुद प्रमुख नगरों में विशाल भवन बनवाये थे। इनके पत्थर पर की नक्काशी के काम अनोखे माने जाते हैं। वहाँ भी कई शिकार के दृश्य खुदे हुए हैं।

नक्काशी के इन कामों को देखने से पता चलता है कि असीरिय लोग शिकार खेलने में बड़ा रस लेते थे। वे जंगलों में जाकर प्रायः सिंह, हिरन, जंगली बकरे, साँड़ और गधे मारते और घोड़े और गधे पकड़ लाते।

एक चित्र में दिखाया गया है कि डोरी द्वारा एक जंगली गधा फँसाया जा रहा है। दूसरे में एक मनुष्य एक जंगली साँड़ को पकड़ रहा है। शिकारी कुत्तों के द्वारा जंगली गधे वश में लाये जाते थे। उसी रीति से खरगोश का शिकार भी किया जाता था। शासक लोग प्रायः सिंह का शिकार किया करते थे। ऐसे बहुत से चित्र देखने में आते हैं। कई चित्रों में दिखाया गया है कि रथ पर सवार राजा तीर द्वारा सिंह को बेध रहा है वा खड़े-खड़े भाले से लड़ रहा है, किवा सिंह के पेट में छुरा भोंक रहा है। कभी-कभी नाव पर से भी सिंह का शिकार खेला जाता था। इस प्रकार के दृश्य भिट्टी के बरतन और कामदार पोशाकों पर भी देखने में आते हैं। मछली मारने के लिए काँटे और जाल का उपयोग किया जाता था।

पशुओं के साथ युद्ध—

गिलगामेश महाकाव्य से पता चलता है कि अपनी शूर-वीरता दिखाने के लिए मनुष्य, सिंह तथा बैल प्रमुख जन्तुओं से लड़ जाते थे।

पुस्तकालय—

इसका वर्णन पहले आ चुका है।

अग्नि-महोत्सव—

हमारे देश में जैसे वसंत काल में होली मनायी जाती है, उसी प्रकार प्राचीन बेबीलोन में उसी समय अग्नि-महोत्सव मनाया जाता था। ऐसा लगता है कि प्रारंभिक दशा में इस आग में जीवित मनुष्य भोंक दिये जाते थे। इस प्रथा का उल्लेख बाईबिल में है। कहा गया है कि नेबुकदनज़ार ने सोने की एक मूर्ति पधरा कर प्रजा को आदेश दिया कि गाजे-बाजे के साथ उस देवता का पूजन करो। तीन कर्मचारियों ने ऐसा करने से इन्कार किया। क्रुद्ध शासक ने उन्हें आग में भोंकवा दिया^१। इब्राहीम के बारे में कहा गया है कि उसने बेबीलोन के मिथ्या-देवताओं की मूर्तियाँ तोड़-फोड़ दीं। इसलिए निमरोद ने उसे एक यंत्र के सहारे आग में भोंकवा दिया।

परन्तु ईश्वर के दूत गेबरियल ने उसे बचा लिया। सीरियन पंथ के ईसाई लोग इस घटना की स्मृति में प्रति वर्ष जनवरी २५ को अग्न्युत्सव मनाते हैं।^१ इसैयाह में इंगित किया गया है कि असीरिया के प्राचीन शासक लोग जलते हुए अग्नि कुंड में कूद पड़ते थे।^२ बेबीलोनिया में यह उत्सव उपज के देवता अशूर के सम्मान में मनाया जाता था।

धर्म

प्रारंभ में ही पाठकों को सावधान कर देना असंगत न होगा कि हम लोग केवल हजार-दो हजार वर्षों की पुरानी बातों की यहाँ चर्चा नहीं कर रहे हैं। इसके विपरीत हम यहाँ मानव जाति की बाल्यावस्था का व्यौरा दे रहे हैं जो संभवतः छह से आठ हजार वर्ष पुराना है। उन दिनों धर्म की व्याख्या तत्व ज्ञान के आधार पर वा दर्शन शास्त्र की सूक्ष्म दृष्टि अपना कर नहीं की जाती थी और न समाज का संघटन ही आधुनिक काल की तरह था। संभव है उन दिनों अधिकतर देशों में तब तक विवाह-बंधन की प्रथा चलन निकली हो और स्त्री-पुरुष का संबंध मन चाहे ढंग से निबाहा जाता हो। हमारे देश में इस दशा का थोड़ा बहुत आभास महाभारत प्रमुख ग्रंथों में पाया जाता है। सुईदास, प्लेटो अरस्तु प्रमुख प्राचीन यूनानी लेखकों का कथन है कि लार्डकरगस् के पहले यूनान के एटिका, लासिडोमोनिया (स्पार्टा) प्रमुख प्रान्तों में आजकल की भाषा में जिसे हम भेद-विचार-हीन व्यभिचार कहते हैं, प्रचलित था। अभी तक संसार के भिन्न-भिन्न भागों में बहुत-सी पिछड़ी हुई जन-जातियाँ हैं, जिनमें विवाह का बंधन नाम मात्र है। ऐसे समाजों में स्त्री-पुरुष मनमानी करते फिरते हैं। उनकी निन्दा नहीं होती।

१ सेल का कोरान, पृष्ठ २४५-६;

२ ३०। ३१-३३;

*मुख्यतः बूल्गैर—दी गॉड्स ऑफ जेनरेशन : कुटनर—हिस्ट्री ऑफ फ़ालिक वरशिप्: डा० बाल—सेक्स वरशिप् प्रभृति पर आधारित।

मातृ-प्रधान ऐसे समाजों में स्वभावतः माता की पूछ-ताछ अधिक होती थी और पिता सेंट का समझा जाता था। पुत्र कन्या का नाम तक माता के नाम के अनुसार रखा जाता था। छान्दोग्य-उपनिषद् में सत्यकाम जाबाल का उपाख्यान उसका ज्वलन्त उदाहरण है। एटिका के बारे में सुईदास कहता है कि वहाँ की स्त्रियाँ भेद-विचार-हीन व्यभिचार में लोट-पोट करती थीं। कोई अपने पिता की खबर तक नहीं रखता था। उस युग के लोग कल्याण-शक्ति के सहारे ऐसा अनुमान किया करते थे कि नैतिक दशा के जिस स्तर पर उन दिनों वे स्वयं विराजते थे, उसी स्तर पर उनकी देव-देवियाँ भी थीं। समाज बहुधा मातृ-प्रधान होने के कारण प्रारंभिक दशा में लगभग सब प्राचीन देशों में आदि देवता अधिकतर स्त्री-जाति का होता था तथा पुरुष देवताओं की पूछ-ताछ कम होती थी। थोड़े में, उन दिनों अधिकतर देशों में लोक-धर्म का प्रचलन हुआ था तथा तत्त्वज्ञान की गहन बातें तब तक धर्म की ठठरी में खपायी नहीं गयी थी।

सामान्यतः सब दार्शनिक धर्मों का ध्येय आत्मज्ञान को जागरित करना है। सब धर्म अपने-अपने ढंग से जीवात्मा के साथ परमात्मा के संबंध की टोह लेने का प्रयत्न करते हैं। इसी का नाम परम तत्व है। अनादि काल से भिन्न-भिन्न देश के मनीषियों ने अपनी चिन्ता की धाराएँ उसी ओर प्रवाहित की हैं। धर्म के अनुयायी बनने से हमारे हृदय में कुछ उच्च भावना तथा स्वर्गीय प्रेरणाओं की ऐसी हिलोरें उठती हैं जिससे मन को शान्ति मिलती है तथा तत्काल के लिए हम संसार की सारी झंझटें, बखेड़े और झमेले बिसरा देते हैं। इस दृष्टिकोण से विचार करने से धर्म से संबद्ध कृत्यादि मनोरंजन के साधन बन जाते हैं।

यदि धार्मिक भावना का विश्लेषण किया जाय तो देखा जायगा कि उसमें दो तत्वों की प्रधानता है—दैवी शक्ति की तुलना में मानव की तुच्छता और आभार। देवता जो भी मन में आवे अनायास कर लेते हैं। दिन को रात और रात को दिन करना उनके लिए बाएँ हाथ का खेल है। इसके विपरीत उनकी दी हुई शक्ति के बिना हम तिनके तक को हिला-

डुला नहीं सकते। सर्वोपरि पगपग पर हम अनुभव करते रहते हैं कि हमारा जीवन, यौवन, धन-मान-सब कुछ उन्हीं की देन है। देवता ने यदि मुँह फेर लिया तो कल हम मर-मिट जायेंगे, किंवा दरदर के भिखारी बन जायेंगे। अतः धार्मिक प्रेरणा का उत्स सर्व शक्तिमान् से भय और उनके प्रति कृतज्ञता है।

लिंग-पूजन की प्रथा

इस विचार से प्रेरित होकर प्राचीन काल को प्रायः सब जन-जातियाँ प्रारंभिक दशा में लौकिक माता-पिता को सृजनहार का सजग प्रतीक मान कर उन्हें पूजने लगीं। जो पिता को सृजनहार मान कर उसको पूजने लगीं, उनका समाज पितृ-प्रधान बना और जो माता को सृजनहारिणी तथा पालिका मान कर उसे पूजा चढ़ाने लगीं, उनका समाज मातृ-प्रधान बना। फिर किसी-किसी समाज में माता-पिता दोनों की रंगत बनी रही। वहाँ दोनों पूजे जाने लगे। इस प्रकार प्राचीन संसार के भिन्न-भिन्न भागों में सृष्टि तत्व के प्रत्यक्ष कारण—पितरों को पूजने की प्रथा, जिसे हम 'तर्पण' कहते हैं, चल पड़ी। ऐसा लगता है कि माता-पिता के मारने पर जन-जातियाँ निराकार परब्रह्म के रूप में उनकी उपासना न कर सृष्टि तत्व प्रतीक, लिंग और योनि को पूजने लगीं। हमारे देश में इस प्रथा का नाम लिंग-पूजन और पाश्चात्य देशों में इसका नाम 'फ़ालिक् वरशिप्' पड़ा। यहाँ पर इस बात की ओर ध्यान खींचना अप्रासंगिक होगा कि यह एक प्रकार की प्रकृति की उपासना थी। लड़खड़ाती हुई इस प्रकार की प्रारंभिक दशा से समाज क्रमशः एकेश्वरवाद की ओर बढ़ चला।

पुनरपि आदिमजन-जातियों को इस तथ्य की सम्यक् जानकारी थी कि स्त्री-पुरुष के संसर्ग के बिना, दूसरे शब्दों में लिंग और योनि की एकत्र संगति न होने से नये जीव की सृष्टि संभव नहीं।

ऐसा लगता है कि प्राचीन पृथ्वी की लगभग सब आदिम जन-जातियाँ रति-क्रिया को पहेली बुझौल की दृष्टि से देखती थीं। इतना तो वे स्पष्ट अनुभव करती थीं कि हृदय का सारा संवेग, मन की समग्र शक्ति

और चित्त का उतराता हुआ आवेश लेकर पुरुष किसी स्त्री का संसर्ग करता है। किन्तु दोनों के संगम से एक नये जीव की उत्पत्ति कैसे होती है—यह जटिल विषय उनकी समझ में नहीं आता था जो बात हमारी समझ में नहीं आती, सामान्यतः उससे हम लोग सहमते हैं। आदिम जन-जातियाँ भी सृष्टि-तत्त्व की इस चिरंतन प्रहेलिका का समाधान न कर पा, मारे डर के उसके उत्स की मूर्ति बना कर उन्हें पूजने लगीं। यह भी एक प्रकार का शक्ति-पूजन था। ऐसी दशा में पिता का लिंग जिसने परिवार की कुल पुत्र पुत्रियों को उत्पन्न किया, उनके शरीर में प्राण फूँके, आगे खाना-कपड़े आदि देकर उन्हें पाला-पोसा, उसके अधिकार, कर्तृत्व और क्षमता का सजग प्रतीक बना। इस प्रकार प्राचीन काल के जन-समाज में लिंग-पूजन की प्रथा चल पड़ी। इसमें विलक्षणता यह थी कि जहाँ-जहाँ यह प्रथा चल निकली, वहाँ लिंग और योनि दोनों का एकत्र समावेश किया गया।

यह भी संभव है कि आरंभ में लिंग-पूजन का मुख्य उद्देश्य उर्वरता वा उपजाऊपन की तृप्ति थी। आदिम मानव येन केन उपायेन उपजाऊ होने के पीछे हाथ धोकर पड़ा रहता था। सर्वतोमुखी उपज पर उसका जीवन-मरण निर्भर था। खेत में फसल की बढ़ोतरी होने से उसे पर्याप्त भोजन मिलने का ठिकाना हो जाता। परिवार में प्रजा-वृद्धि होने से कामगार श्रमिक, शिकारी और सैनिकों की कमी नहीं होती। फिर पालतू पशुओं की अधिकता होने से दूध के अतिरिक्त हलवाहे जानवर बहुत से मिल जाते।

मानव मात्र के हृदय में आहार-निद्रा-भय-मैथुन नामक चार प्रवृत्तियों की प्रबलता है। भोजन के बाद ही मैथुन का स्थान है। आधुनिक काल का शिष्ट जन दिखावटी तौर पर उस प्रवृत्ति पर थोड़ी-बहुत लगाम कसने का प्रयत्न करता है। परन्तु संवेगी और भावुक होने के कारण आदिम मानव में नियंत्रण की शक्ति की कमी थी। प्राचीन समाज में बाँझ-पन अभिशाप समझा जाता था। संयमी समाज-द्रोही माना जाता था। आदिम मानव पशुओं की तरह अपनी जननेन्द्रिय के लिए लज्जा-संकोच

नहीं करते थे, न उसका उचित उपयोग करने से ही वे सकुचाते थे। अतः ऐसा लगता है लिंग को इस सर्वग्रासी प्रवृत्ति का साकार प्रतीक तथा प्रजनन का एकमात्र कारण मानकर वे उसे पूजने लगे। इस प्रकार लिंग पूजन का आधार्मिक उद्देश्य सृष्टि-तत्त्व से संबद्ध था। आगे आदिम मानव सूर्य भगवान् को पूजने लगा, यतः वह अपने प्रकाश के द्वारा उपज बढ़ाने के अतिरिक्त विश्व-ब्रह्मांड की रग-रग में नव-जीवन का संचार करता है। अंत में उसने वही भावना विश्व-वृष्टि परम पुरुष की ओर प्रेरित की, जो सूर्य-चन्द्र-ग्रह-नक्षत्र के भी सृजनहार हैं।

आदिम मानव आबादी बढ़ाने पर तुला हुआ था। संभवतः इसी सिलसिले में वह सृष्टि-तत्त्व के प्रमुख उपादान, लिंग और योनि की उपासना करने लगा था। आवश्यकता की पूर्ति हो जाने पर इस प्रथा में कुछ हेर-फेर करना चाहिए था। परन्तु ऐसा न करने से कालान्तर में इस प्रथा में बुराई समायी और बहुत से देशों में धर्म की ओट में भेद-विचार-हीन व्यभिचार का नंगा नाच होने लगा।

अंत में यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि आधुनिक काल के कुछ पाश्चात्य मनीषियों को सूझने लगा है कि धार्मिक भावना की उत्पत्ति प्रारंभिक दशा में रति-क्रिया से हुई थी। तदनुसार कुछ आदिम जन-जातियों के धार्मिक कृत्यों की छान-बीन करके उन्होंने सिद्ध किया है कि किसी-किसी धार्मिक क्रिया की परिपाटी सुरत की रीति-भाँति से मिलती-जुलती है। कम से कम उत्कट कामना, एकाग्रता, तन्मयता, रहस्यवाद, समरसता, हृत्कम्प, एक दूसरे में चिरकाल लीन रहने की विकट वासना, उल्लास प्रमुख मानसिक भाव दोनों में सामान्यतः पाये जाते हैं। इयान ब्लॉक का कहना है कि बहुत से विषयों में धार्मिक भावना सुरत के साथ सामंजस्य रखती है। शाश्वत कामना, नित्यता का बोध, जीवन की गूढ़तम प्रहेलिका में विलीन हो जाना, प्रिय के आलिङ्गन में अपनी सत्ता भुला देना, लोकाचार के बंधन से परे हो जाना—ये भाव धार्मिक विचार और रति क्रिया दोनों में सामान्यतः पाये जाते हैं। (सेक्स लाइफ ऑफ़ अवर टाइम)।

नीचे दिये हुए उद्धरणों से विदित होगा कि तांत्रिकों ने इसका अनुभव बहुत दिन पहले किया था। शक्ति-संगम तंत्र के तारा-खंड में कहा गया है कि पुरुष के स्त्री के साथ संगत होने से जो सुख, उल्लास और समरसता का बोध होता है, उसी का नाम मुक्ति है।

और एक प्रसंग में उसी ग्रंथ में कहा गया है कि रति-क्रिया के समय जो सुख मिलता है, उसी का नाम ब्रह्मानन्द है।

कौल तंत्र का कथन है कि शक्ति-पूजन के नौ फूल हैं। उनके नाम क्रम से आलिंगन, चुम्बन....इत्यादि हैं।

ऐसा लगता है कि ऊपर दिये हुए उद्धरणों का संबंध-मुक्ति कामी 'वीर' साधकों से था। किन्तु पाखंडियों ने इनका दुरुपयोग किया।

ऊपर लिंग-पूजन की प्रथा जिस रीति से प्राचीन पृथ्वी की आदिम जन-जातियों में निकली थी, उसके बारे में पाश्चात्य विद्वानों ने जो-जो सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं, उनका विहंगावलोकन किया गया। संभव है किसी-किसी जन-जातियों में इस प्रकार लिंग-पूजन की प्रथा का विकास हुआ हो। परन्तु सभी के लिए ये सिद्धान्त लागू नहीं किये जा सकते। अपने जनक-जननी के साथ संघर्ष, ऊर्ध्व-लिंग देवता, लिंग और योनि का प्रतीक क्रम से ऊर्ध्वमुखी और अधोमुखी त्रिकोण, आनुष्ठानिक रीति का संघर्ष, चक्र की बैठक आदि पर ध्यान देते हुए ऐसा लगता है कि प्रारंभ में आदर्श इतना कलुषित नहीं था, जैसा यूनानी लेखकों ने वर्णन किया है। ऐसी दशा में सृष्टि-तत्त्व के रहस्य का वर्णन हमारे प्राचीन ग्रंथों में जिस रीति से किया गया है, उसका विवरण देना अप्रासंगिक न होगा।

लिंग शब्द का आधार्मिक अर्थ है चिह्न वा प्रतीक। जैसे वैरागी साधु-संत लोग सामान्यतः भगवा रंग का पहनावा पहनते हैं; प्राचीन काल में ब्रह्मचारियों का चिह्न था शिखा-कच्छ-मृगछाला-दण्ड-कमण्डलु। अतः जिस प्रकाश्य चिह्न के धारण करने से देखने वालों को पता चल जाय कि अमुक मनुष्य फलाने आश्रम, मत, पंथ वा श्रेणी का सदस्य है, वही लिंग है। आजकल का विरला वा वरदी से बहुत कुछ मिलता-जुलता है।

लिंग प्रत्यक्ष वा व्यक्त चिह्न है। इसके अतिरिक्त एक और तत्त्व है जो अव्यक्त वा अस्पष्ट रूप में रहता है। इसका नाम अलिंग है। जैसे भगवा-धारी संन्यासी के भीतर छिपा हुआ है उसकी वैराग्य की भावना। ब्राह्मण के जनेऊ की आड़ में निहित है उसका त्याग, तितिक्षा, शुचिता, संयम प्रमुख गुण तो लिंग बाहरी तथा दिखावटी चिह्न है और अलिङ्ग आंतरिक वा आत्मा की प्रेरणा है।

सृष्टि प्रकरण के आदिकल्प में केवल प्रकाश ही प्रकाश था। इसकी नित्यता और सनातनत्व पर ध्यान देते हुए कुछ लोग उसे अनादि शिव मानते हैं। उस प्रकाश से शक्ति का अविर्भाव हुआ। अतः अनादि प्रकाश का अलिङ्ग या अव्यक्त शक्ति। फिर प्रकाश का प्रतिरूप और शक्ति के संघर्ष से ज्योति वा लिङ्ग का उद्भव हुआ। प्रकाश का व्यक्त रूप यह ज्योति अनन्त तेजो-राशि का ज्वलंत अंश था। धरती इस तेजी वा लिंग का आधार या योनि हुई। इन दोनों के संघर्ष से क्रमशः नाद, वर्ण आदि की सृष्टि हुई। यह ईसाइयों के त्रिदेव के सिद्धांत से बहुत कुछ मिलता-जुलता है।

ज्योति वा लिंग और धरित्री के संघर्ष के बिना यदि सृष्टि की रचना सम्भव नहीं थी, तो शिव-शक्ति के एकीकरण के बिना मुक्ति नहीं हो सकती। द्वैत-भाव रहते मुक्ति नहीं हो सकती। मुक्ति के लिए अद्वैत भाव अपेक्षित है। शिव-शक्ति के साम्य भाव का नाम स्थिति है। पुनः लिंग और पृथ्वी के संघर्ष के समय जब लिंगांश जोर करता है, तब लय होता है, और जब आधारान्श वा पृथ्वी जोर पकड़ती है, तब सृष्टि होती है। दोनों का सन्तुलन होने से स्थिति होती है। स्कंद पुराण में आकाश को लिंग और पृथ्वी उसकी पीठिका वा आधार मानी गयी है। साथ ही कहा गया है कि यतः सभी देवता इसी में लीन वा एकीभूत हो जाते हैं, इसलिए इसका नाम लिंग पड़ा।

कालान्तर में इस तेज वा ज्योति का प्रतीक वैदिककाल में साम्प्रदायिक यज्ञ कुण्ड और आगे गौरीपट्ट युक्त शिवलिंग हुआ। महानिर्वाण तन्त्र का कथन है कि मूल प्रकृति युक्त परब्रह्म का प्रतीक गौरीपट्ट युक्त शिव लिंग है।

वैदिक साहित्य में भी यत्र-तत्र इस सिद्धांत की मान्यता मिली है कि पुरुष और शक्ति वा शची के संघर्ष से ही सृष्टि-तत्त्व का क्रम चल पड़ा। संहिताओं में शक्ति वा प्रकृति के लिए प्रारम्भ में मा और आगे वाक् शब्द, और पुरुष के लिए मास्पति का उपयोग हुआ है।^१ अथर्व वेद में प्रजापति को परमेष्ठिन् और वाक् को देवी परमेष्ठिनी कहा गया है।^२ काठक में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि ब्रह्मा प्रजापति ने वाग्देवी का संसर्ग किया। फलतः देवी गर्भवती हो गयी^३ बाद वाग्देवी 'सुमति देने वाली' माता सरस्वती हो गयी^४। बृहदारण्यक उपनिषद् में मनस् प्रजापति का रूपांतर हो गया। उन्होंने वाक् के साथ सहवास किया। इससे सृष्टि की रचना हुई^५।

यज्ञ-हवन का आधारीक सिद्धांत यह था कि मिथुनीकरण (संघर्ष) से ही लौकिक तथा आध्यात्मिक सुख-शांति मिल सकती है। शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि रति-क्रिया अग्निहोत्र के समान है^६ और भी कहा गया है कि मिथुनीकरण पावन है^७ उसी ब्राह्मण में इडा नाम की एक स्त्री कहती है कि यदि तुम यज्ञ के प्रसङ्ग में मेरा उपयोग करो तो सब प्रकार का कल्याण होने वाला है^८ ऐतरेय ब्राह्मण में श्रद्धा के साथ सत्य का मैथुन सर्वोत्तम माना गया है।^९ महाभारत वामदेव्य प्रमुख यज्ञों के अवसर पर मंत्रोच्चारण^{१०} करते हुए आनुष्ठानिक रीति से मैथुन करने की प्रथा थी^{११}। बृहदारण्यक उपनिषद् में रति-क्रिया के साथ हवन की तुलना की गयी है।^{१२}

१ ऋग्वेद, १।२२।१०; २।३१।४; अथर्व ७।२१।२; १६।१०।६ इत्यादि।

२ ११।१।३; ३ १२।५; ४ ऋग्वेद, १।३।११;

५ १।२।४; १।४।१७; ६ ११।६।२।१०; ७ ३।२।१।२;

८ १।८।१।६; ९ ७।२।६; १० ऋग्वेद, १।८।१।४; १०।८।१।३७;

११ छान्दोग्य उप० २।१३।१-२; कात्यायन श्रौत० १३।४२; आपस्तम्बीय गृह्य०

३।८।१०; गौतम गृह्य० २।१।६; ६-१० इत्यादि। १२ ६।४।३;

अन्यान्य विषयों की तरह इस दिशा में भी वैदिक विधि-विधान तांत्रिक रीति-नीति के साथ मिलता-जुलता है। पुरुष स्त्री को फुरसत के समय का खिलौना न मान कर जगन्माता का अवतार मानता है और स्त्री भी पुरुष को परम पुरुष का स्फुलिंग मानने लगती है। इस दशा में दोनों की रति-क्रिया में आत्मा की आत्मा में धुलमिल जाने की माँकी मिलती है। इसमें कामना की उद्दाम ताड़ना और प्रवृत्ति की दुर्निवार उत्तेजना नहीं होती। इसके विपरीत दोनों आनन्द की लीला-तरङ्ग पर तैरते रहते हैं।

प्राचीन काल में हमारे देश में आश्रम-प्रथा प्रचलित थी। इसके अनुसार ब्रह्मचारियों की रहन-सहन की परिपाटी और निरन्तर अभ्यास के द्वारा वीर्य को स्तंभित वा रोकने तथा स्वाध्यायादि के द्वारा उसे शोधित करने की शिक्षा दी जाती थी। इसके अनन्तर वे गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हो सकते थे। उसी ढङ्ग पर तांत्रिकों ने साधक के जीवन को तीन स्तरों में विभक्त किया था पशु, वीर और दिव्य। प्रारम्भिक दशा में नौसिखिये पशु को निरन्तर कठोर समय का अभ्यास कर बिंदु को स्थिर और जप-तप के द्वारा उसका शोधन करना पड़ता था। कालान्तर में जब उसके बिंदु में स्थिरता आ जाती, तब वह वीर कहलाता था। जिसने वीर्य को स्तंभित कर आयत्त कर लिया हो, वही वीर है। वीर के स्तर पर पहुँचते ही साधक दिव्यावस्था प्राप्त करने के पीछे पड़ जाता। इसके लिए शक्ति वा साधिन का होना अनिवार्य था, जो उसके रुँधे हुए वीर्य को संचालित कर सके। इस प्रसङ्ग में स्मरणीय है कि शक्ति भी साधक के स्तर तक पहुँची हुई पद्मिनी जाति की होती थी। अतः दोनों का जो मिलन होता था, उसमें अरमान वा लालसा की बू-बास नहीं होती थी। कवि चण्डीदास के शब्दों में—'रजकिनी प्रेम, निकषित हेम, काम गन्ध नाहि ताय!' एक की आत्मा क्रमशः दूसरे में बिल-कुल समा जाती थी और झैत बोध मिट जाता। काम शास्त्र के अनुसार इस दशा का नाम समरत है। इस आध्यात्मिक संघर्ष से साधक और साधिका दोनों को विमल आनन्द का अनुभव होता था। इसी का नाम दिव्य भाव है।

संध्या के प्रसङ्ग में रुद्रोपस्थान नामक प्रकरण में रुद्र भगवान् की मूर्ति की जो कल्पना की गयी है, उसमें उन्हें ऊर्ध्वलिंग और विरुपाक्ष कहा गया है। इसका सीधा सादा अर्थ यह है कि भगवान् का अक्ष (लिंग) विरूप (ऊर्ध्वमुखी) है, और वह कपाल के बीच में स्थित ब्रह्म-योनि के साथ सङ्गत होने के लिए ऊपर की ओर चढ़ा हुआ है। इस दशा में ब्रह्म-योनि नीचे उतर आती है। स्मरणीय है कि बेबीलोन के बेल मेरोडाक, मिस्र के सेत्, इस-रायल के मोलक, रोम के प्रियापस् प्रमुख देवता भी ऊर्ध्वलिंग थे। परन्तु उन-उन जातियों के आगे ऐतिहासिक काल में कोई उच्च आदर्शनहीं रह गये थे। उन दिनों दुर्बल मानव ने कल्पना-शक्ति के सहारे अपने साँचे में ढाल कर उन्हें बना लिया था। अतः देवता होने पर भी वे माटी की मूरत बन गये थे। उनकी रग-रंग में मानव जाति की कमजोरियाँ समायी हुई थीं।

यही कारण है कि जिससे प्राचीन संसार के कोने-कोने में लोग धर्म के नाम पर भेद विचार-हीन व्यभिचार में लोट पोट करते थे। किन्तु सदा से आदर्श ऊँचा होने के कारण भारतीयों की नैतिकता पर कभी ठेस न पहुँचने पायी।

उसकी व्यापकता

प्राचीन पृथ्वी में लिंग-पूजन की व्यापकता का विवरण सुन कर हमें आश्चर्य करना पड़ता है। प्राचीन भारत में मोहिजोदङ्को और इङ्गप्पा की अनार्य जन-जातियाँ लिंग और योनि दोनों की अर्चा करती थीं। प्रारम्भिक दशा में वैदिक काल के आर्यों ने 'शिश्नदेवाः' कह कर उनकी खिल्ली उड़ाई थी। परन्तु क्रमशः उन्होंने भी इस प्रथा को अपनाया। तैत्तिरीय आरण्यक से विदित होता है कि प्रति दिन संध्या-वंदनादि करते समय वे शंभु भगवान् का ध्यान करते थे^१। सामविधान ब्राह्मण का कहना है कि भगवान् वृषभ-बाहन हैं^२। शतपथ ब्राह्मण का कहना है कि भगवान् की

अष्ट मूर्तियाँ हैं ।^१ अफगानिस्तान, अरब, पश्चिमी एशिया, मेसोपोटेमिया, स्याम, भूमध्यसागर के पूर्वी द्वीपों में, मिस्र, यूनान, रोम, ब्रिटेन, यहाँ तक कि प्रागैतिहासिक मेक्सिको और पेरू में सृजनहार के रूप में लिंग की अर्चा होती थी ।

भिन्न-भिन्न देशों में लिंग और योनि के समावेश का प्रतीक भी अलग-अलग प्रकार का होता था । बेबीलोनिया के शमस-सूर्य-देवता, इश्टार स्वर्ग राज्य की महादेवी, नेबो-ज्योतिष शास्त्र के अधिष्ठाता, तम्मूज-इश्टार के प्रेमिक-कृषि-देवता प्रमुख अधिकतर देव-देवियाँ हाथ में योनि के प्रतीक चूड़ी लिये रहती थीं । प्राचीन मिस्र में देव-देवियों के हाथ में लिंग योनि के संयोजन का प्रतीक 'अंख' होता था । अंख का आकार इस प्रकार होता था—चूड़ी के साथ एक क्रूस जुड़ा हुआ रहता था । चूड़ी योनि की प्रतीक थी और क्रूस लिंग का । आइसिस् तथा मा वा मुत की मूर्ति की छाती उभरी हुई होती थी और हाथ में अंख होता था । करणक के सेति देवता उद्धर्ष-लिंग होते थे । प्राचीन मिस्र और मेक्सिको के एजटेकों के देव-मंदिरों की नीतों पर लिंग-मूर्ति के सजग चित्र उरेहे जाते थे ।

यहाँ कुतूहली पाठकों को बतला देने की आवश्यकता है कि जिस क्रूस की मर्यादा बनाये रखने के लिए ईसाई धर्म के अनुयायी मर मिट जाने को तैयार हो जाते हैं, प्रागैतिहासिक काल में वही क्रूस लिंग का प्रतीक था । पाश्चात्य देश की कुछ आदिम जन-जातियाँ कहीं-कहीं एक गोल खम्भा खड़ा कर उसकी अगल-बगल में दो सिल्लियाँ लोटा देती थीं । खम्भा लिंग का प्रतीक था और दोनों पटिया अंडकोश मानी जाती थीं । दर्शकों को वह उलटी "टी" (T) जैसी भाती थी । इसी प्रतीक को उलट कर ईसाइयों का क्रूस बना । सामान्यतः इसे "टाऊक्रूस", कहा जाता है । इसी प्रकार के क्रूस पर मसीह बाँधे गये थे । क्रूस के ऊपरी भाग में जो टुकड़ा निकला हुआ रहता है, वह बाद में जोड़ा गया ।

प्राचीन मिश्र में लिंग और योनि का प्रतीक त्रिकोण था। जब कोण ऊपर होता तब वह लिंग का प्रतीक माना जाता और जब कोण नीचे होता तब वह योनि का प्रतीक बन जाता। कुछ लोगों का कहना है कि मिश्र के महान् पिरामिड सृजनहार तथा जीवन-दाता सेति के सम्मान में बनाये गये थे। हमारे देश में तांत्रिक ग्रन्थों में कहीं-कहीं योनि का प्रतीक त्रिकोण माना गया है। मिश्र और चीन में कमल-कली लिंग की प्रतीक मानी जाती थी। हमारे देश में देव-देवियों के पूजन के प्रसङ्ग में कमल के उपयोग का यत्र-तत्र उल्लेख है। परन्तु कहीं भी इस प्रकार का इङ्कित नहीं किया गया है।

पाश्चात्य देशों में त्रिशूल का भी उपयोग होता था। बीच वाली नोक लिंग मानी जाती और अगल-बगल की नोकें अंडकोश। इसके विपरीत कुछ लोगों का अनुमान है कि त्रिशूल योनि का प्रतीक है। बीच की नोक योनि की चीर है तथा आस-पास की दोनों के जाँघ और कमर के जोड़ की प्रतीक हैं। प्राचीन मेक्सिको में त्रिशूल उपज वा योनि का प्रतीक माना जाता था। पाश्चात्य कला में फ्ल्यूइड-लिस् और लिलि का आकार त्रिशूल की तरह है। हमारे देश में शिव भगवान् का एक नाम शूलपाणि है और वे सदैव त्रिशूल लिए हुए रहते हैं। नैषध-चरित काव्य तथा किसी-किसी तांत्रिक ग्रन्थ में योनि की तुलना पीपल की पत्ती से की गयी है।

प्राचीन यूनान में प्यान प्रारम्भिक दशा में उपज तथा दोर के अधिष्ठाता देवता माने जाते थे। आगे वे संगीत और ललित कला के अधिष्ठाता देवता बन गये। यूनान में उनका नाम फालस् और रोम में प्रियापस् पड़ा। सामान्यतः उसकी मूर्ति एक खम्भा होती थी। ऊपर जन्तु की तरह एक मुँह तथा सामने उर्ध्व-लिंग होता था। इस प्रसङ्ग में प्राचीन रोम की सर्व-मान्य एक प्रथा का उल्लेख न करना असङ्गत होगा। कन्या अतुमती होते ही वह बरजोरी प्रियापस् के मन्दिर में ले जायी जाती थी। वहाँ पुरोहितानियों की देख रेख में पहला सङ्गम उसे उर्ध्वलिंग प्रियापस् की मूर्ति से करना पड़ता था। इस संस्कार के बाद कन्या भरपूर महिला मानी जाती थी।

यूनानी एफ्रोडाइट का नाम रोम में वीनस् पड़ा। उसका प्रतीक भी

एक खम्भा था। ऊपर मुख होता था और बीच में योनि। वीनस् की तुलना हमारे देश की रति के साथ की जा सकती है।

इङ्गलैण्ड में कहीं-कहीं 'स्टोन हेन्ज' दिखाई देते हैं। ये सब प्रागैतिहासिक काल के माने जाते हैं। ये पत्थरों के बने हुए तोरणों के घेरे हैं जिनके बीच में एक भागी खम्भा होता है। पेरू में भी इसी प्रकार के घेरे देखने में आते हैं। ये योनि द्वारा घिरे हुए लिंग के प्रतीक हैं। मिस्र के आने में सृजनहार सूर्य भगवान् के सम्मान में २० फुट ऊँचा ठोस पत्थर का बना हुआ एक खम्भा है। उसी देश में किसी-किसी मन्दिर के आंगन में बड़ा और छोटा दो खम्भे खड़े कर दिये गये हैं। बड़ा पुँ-देवता का तीक और छोटा उसकी शक्ति का प्रतीक माना जाता है। फिनीशिया, फिलिस्तीन प्रमुख प्राचीन देशों में देव-देवी के सम्मान में खम्भा वा पेड़ का तना खड़ा कर देने की प्रथा थी। हमारे देश में भी बहुत से मन्दिरों के आँगन में इस प्रकार की लाटें देखने में आती हैं। परन्तु या तो वे ध्वज-स्तम्भ हैं अथवा जय स्तम्भ।

प्राचीनों की विलक्षणता इसमें थी कि वे शरीर से सम्बन्धित किसी अङ्ग-प्रत्यङ्ग का उचित उपयोग करने वा उसे स्पष्ट शब्दों में वा चित्र द्वारा व्यक्त करने में सकुचाते नहीं थे। उनका विश्वास था कि रति-क्रिया से संबंध विषयों में संकोच करना अस्वाभाविक है। सृष्टि-तत्त्व से सम्बन्धित अङ्ग मानव मात्र के शरीर के साथ संलग्न है और सब कोई यथावसर उसका उपयोग भी करते हैं। अतः ऐसे साधारण विषय की पुस्तकों में चर्चा करने वा चित्र खींच या पत्थर पर नक्काशी करके स्पष्ट करते समय वे कदाचित् आगा-पीछा करते। इसमें उनका औरों को बहकाने का निब्र उद्देश्य नहीं होता था। हमारे देश में पूरी के जगन्नाथ जी के मन्दिर की भीत पर की नक्काशी कुरुचिपूर्ण मानी जाती है। परन्तु वैसे ही सजग चित्र मिस्र के मन्दिरों और समाधि-भवनो, ईरान के महलों तथा प्रागैतिहासिक मेक्सिको के मन्दिरों की भीत पर भी देखने में आते हैं।

इसलिए प्राचीन पृथ्वी के धार्मिक विश्वास की छान-बीन करते समय हमें नीचेलिखी हुई बातें सदैव ध्यान में रखना चाहिए—

(अ) भिन्न-भिन्न देशों में लोक-समाज का संघटन तब तक व्यवस्थित नहीं हो पाया था। कहीं कहीं तो विवाह का बन्धन नाम मात्र का था।

(आ) अपने-अपने समाज में प्रचलित रीति-भाँति के अनुसार उन्होंने अपने देवताओं के चरित्र तथा उनके समाज की कल्पना करती थी। दूसरे शब्दों में लोक-धर्म बहुधा आदि-रस पर आश्रित था।

(इ) आधुनिक काल की बनावटी सुरुचि को वे न मानते थे।

(ई) आगे जब धर्म में तत्वज्ञान की गम्भीर बातों का समावेश हुआ तब तक लोक धर्म-की रीति-रस्म बिलकुल ठप्प नहीं हो गयी।

उपर्युक्त बातों का ध्यान रखने से प्राचीन समाज और उसके धर्म-विश्वास की विशिष्टताएँ हमें खलेंगी नहीं।

शक्ति-उपासना की व्यापकता—

हम लोग मोहिंजोदड़ो और हड़प्पा में मिले हुए शिव-शक्ति को उपासना के सजग प्रमाणों देख कर चकित रह जाते हैं। किन्तु शक्ति-पूजन की प्रथा का प्रचार बड़ा व्यापक था। सुमेर में देवी का नाम मामा था; काले समुद्र के दक्षिण, पाएटस्प्रान्त में यूनानी लोग उसे माकहते थे। उसी महादेवी का आरमीनिया में एनेटिस; ईरान में अनहित, साइलीशिया में एति, फ्रीजिया में सीबिल, यूनान में एफ्रोडाइट, रोम में वीनस्, मिस्र में आइसिस, फिनीशिया में एटरगेटिस, इजरायेल में आशटोरेथ और साइप्रस द्वीप में मेलिटो पड़ा। बेबीलोनिया में देवी का नाम इश्टार पड़ा। थोड़े में जहाँ-जहाँ भूमध्य सागर वाली जाति के पूर्वज लोग बस गये, वहाँ देवी को पूजने की प्रथा चल पड़ी। कहा जाता है कि 'एकोऽहं बहुस्यामि' इस प्रकार का विचार कर देवी ने एक पुत्र उत्पन्न किया जो कालान्तर में उसका 'शिव' बन गया। भिन्न-भिन्न देशों में उसका अलग-अलग नाम पड़ा। फ्रीजिया में एटिस, बेबीलोन में तम्मुज़, यूनान में एडोनिस् मिस्र में ओसिरिस

इत्यादि। देवी का पति प्रति वर्ष ग्रीष्म ऋतु के आते ही मर जाता। तब लोग मारे शोक के छाती पीटते हुए मातम करते थे। फिर बरसात आते ही वह जी जाता। तब लोगों के आनन्द का बार-बार नहीं रहने पाता। वे मनमानी रीति से उत्सव मनाते। देवी सृजनहारिणी के रूप में देव-नर-पशुओं की सृष्टि करती, स्वर्ग राज्य की महारानी के रूप में शासन करती और उपज की अधिष्ठात्री देवी के रूप में संसार का पालन-पोषण करती। देवी सिंह की सवारी करती और कबूतर, फाख्ता, हिरन, बकरे आदि उसके प्रिय जन्तु थे। जाग्रोस (इलाम में) से मंदिर की भीत पर इश्टार की सिंहवाहनी मूर्ति खुदी हुई मिली है जिसमें देवी गिरे हुए एक शत्रु को भाले से बीच रही हैं। क्रीट में भी सिंह-वाहनी मूर्ति मिली है। इस-रायेल में देवी की मूर्ति के आगे धूप और लोहवान जलाये जाते तथा सुरा और रोटी का भोग चढ़ाया जाता। गिलगामेश महाकाव्य का कहना है कि देवी इश्टार के कई प्रेमिक थे।

बेबीलोन और असीरिया की कुछ देव-देवियाँ—

ऊपर प्रसंगतः बेलमेरोडाक, और, इश्टार प्रमुख कुछ देव-देवियों का विवरण दिया जा चुका है। कहने की आवश्यकता नहीं सृष्टि-तत्त्व से संबंधित ये सब देवता मुख्यतः बल वीर्य और ओज के प्रतीक थे। इनमें बेबीलोन के बेलमेरोडाक के बारे में कहा गया है कि वह समुद्र-देवता ईया का पुत्र था। उसने प्रलय काल की महादेवी, तियामत का वध करके नीले आकाश और श्यामल धरती की सृष्टि की; ग्रह-नक्षत्र और शमशु (सूर्य)-सिन् (चन्द्र) को अपने-अपने स्थान पर पधराया, खेती बारी करने और फल-फूल उगाने के विधि-विधान बताये और अन्न तथा पेड़-पौधे उत्पन्न किये। मेरोडाक के बाद ही तम्मूज़ की बारी आती है। वह मेरोडाक का भाई था। बेलिट-शेरी उसकी बहन थी। इश्टार उसकी माँ और शक्ति भी थी। वह प्रति वर्ष जाड़े और तूफान के दैत्यों का सामना किया करता था। मानव बन कर उसने खेती-बारी करना और पेड़-पौधे उगाना सिखाया। इश्टार ने जब उसे धोखा दिया, तब मारे शोक के वह

मर गया। देवी उसके पीछे-पीछे नरक में गयी तथा मान कर उसे लौटा लायी। उपज के देवता को हैसियत से यह कथा रूपक मात्र है। फसल काटने के साथ-साथ उसका देहान्त होता, फिर रोपने-बोने के समय वह जी उठता। कामदेव के रूप में देवदार का कुंज उसका प्रिय आवास था। कबूतर उसके वाहन थे। नेब्रो मेरोडाक का पुत्र था। संस्कृति और ज्ञान का अधिष्ठाता देवता माना जाता था। लेखक और कलाकार उसे पूजते थे। कलखी में श्रदाद निरारी ने उसका एक मंदिर बनवाया था। बोरसिप्पा में तम्मुज़ की तरह वह अपनी माँ का पति माना जाता था। उसकी शक्ति तश्मित थी। वह प्रार्थना और प्रेम की अधिष्ठात्री देवी मानी जाती थी। निपूर का एन्लील पवन देवता था। अनु अघर का और ईया समुद्र-देवता था। बेल ने मानव जाति की सृष्टि की थी।

ई-सेगिला—

बेबीलोन में बेलमेरोडाक के मंदिर का नाम ई-सेगिला था। मन्दिर के चारों ओर मोटी चहार-दिवारी थी। कुल फाटक ठोस पीतल के बने हुए थे। आंगन के बीचोबीच आठ-तल्ला ऊँची एक मीनार थी। ऊपर के खंड पर चढ़ने के लिए बाहर से घूमती हुई सीढ़ी गयी थी। चौथे मंजिल पर चढ़ने वालों के दम लेने के लिए विश्रामागार था। वहाँ आसनादि रखे हुए थे। धुर ऊपर सजा हुआ सुन्दर मन्दिर था। उसमें कामदार विशाल पलंग और छोटा-सी मेज़ थी। रात को देवता देश की सर्व-श्रेष्ठ सुन्दरी के साथ वहीं लेटते थे। छँटाई का काम देवता स्वयं करते थे। आंगन के एक बगल में मन्दिर था। उसमें सोने के बने हुए सिंहासन पर सोने की बनी हुई मेरोडाक की मूर्ति बिराजती थी। गर्भ-गृह के बाहर सोने से मढ़ी हुई दो वेदियाँ थीं। एक पर दुध-मुँहे बच्चे चढ़ाये जाते थे और दूसरे पर नाना प्रकार के चौपाये। इसी वेदी पर उत्सवों के अवसर पर लोहबान जलाया जाता था। हिरोडोटस् का कहना है कि साइरस के समय इस मन्दिर में १२ हाथ ऊँची ठोस सोने की बनी हुई एक मूर्ति थी। मूर्तियों को बहुमूल्य गहने पहनाये जाते थे। दर्शनार्थी सदैव रुपये-पैसे चढ़ाते थे। मूर्ति की सेवा

टहल करने के लिये देवदासियाँ होती थीं। वे जीवन भर ब्रह्मचर्य का पालन करती थीं।

प्रयोगात्मक अनुष्ठान

ऊपर कहा जा चुका है कि सृष्टि-रहस्य प्राचीनों की समझ से परे था। मुख्यतः इसलिए वे लिंग और योनि की साकार मूर्ति बना कर उन्हें पूजने लगे। इस प्रसंग में प्राचीन पृथ्वी के जिन-जिन भागों में शक्ति-पूजन की प्रथा चल पड़ी थी, उन-उन देशों में ऐसे कुछ विचित्र अनुष्ठान चल निकले जिनके औचित्य के बारे में आधुनिक काल के लोगों के मन में कुछ खटका उत्पन्न होना स्वाभाविक है। परन्तु ऐसा लगता है कि इस पंथ के अनुयायी इस प्रथा को व्रत की दृष्टि देखते थे। अतः प्रारंभिक दशा में संभवतः उनकी भावना कलुषित न थी। फिर लिंग-योनि-पूजन का यह प्रयोगात्मक अनुष्ठान वा बहिरंग माना जा सकता है। किन्तु कालान्तर में लोक-धर्म के अनुयायी इस प्रथा में बुराइयाँ समायीं। व्रत-धारिणियों की भावना कलुषित हो गयी। तब यह प्रथा धर्म की ओट में व्याभिचार को बढ़ावा देने लगी। परन्तु ऐसा होना बिलकुल स्वाभाविक था। कोई भी रीति-रस्म बहुत दिनों तक चालू रहे तो उसमें बुराइयों का समाना स्वाभाविक है। किन्तु इसका परिणाम बड़ा भयंकर हुआ। कालान्तर में समूची जाति का नामो-निशान तक मिट गया।

हिरोडोटस् (ईसा पूर्व ४४०) का कथन है कि बेबीलोन की प्रत्येक रमणी के लिए जीवन में एक बार मेलिता देवी के मंदिर में जाकर किसी परदेशी के साथ संसर्ग करना अनिवार्य था। सम्पन्न घर की महिलाएँ परदे वाली गाड़ी में बैठ कर अनगिनत दास-दासियों के साथ वहाँ पहुँचती थीं। वे मंदिर के आंगन में बैठ कर परदेशी आगन्तुकों की बाट जोहती थीं और निम्न श्रेणी की स्त्रियाँ माथे पर अंजीर की पत्तियों का बना हुआ मुकुट पहन कर मंदिर से सटे हुए भू-भाग पर बैठी हुई परदेशियों का आसरा देखती थीं।

परदेशी लोग सौन्दर्य के पागली बन कर वहाँ रमते फिरते थे। जब कोई रमणी किसी आगन्तुक पुरुष को नज़र में जँच जाती थी, वह महामाई

का नाम लेकर उसकी गोद में कुछ शुल्क फेंक देता था। व्रतधारिणी मोल भाव नहीं करती थी। उसे जो कुछ भी मिल जाता था, उसे स्वीकार कर लेना पड़ता था। शुल्क मिल जाने पर वह नारी परदेशी पुरुष के साथ निकटस्थ देवदार के बन में गुम हो जाती। किन्तु वहाँ से लौटने के बाद वे एक दूसरे से अलग हो जाते और लाखों रुपये खर्चने पर भी उस रमणी के दर्शन नहीं मिलते थे। जब तक व्रत की समाप्ति नहीं होती थी, तब तक कोई भी व्रतधारिणी घर नहीं लौटती थी। ऐसी दशा में जो स्त्रियाँ मनोरमा होती थीं, उन्हें शीघ्र ही छुट्टी मिल जाती थी। काली-कलूटियों को दीर्घ काल तक आसरा देखना पड़ता था।

हिरोडोटस् के दो सौ वर्ष पहले पैगंबर बरूच ने संत जिरोमिया के साथ बेबीलोन में यह दृश्य देखा था। उसने धागे से लपेटी हुई रमणियों को मंदिर को जाने वाली सड़क पर परदेशियों की बाट जोहते हुए सुगंधित पदार्थ जलाते देखा था।^१

धागा उसके व्रत-बंधन का प्रतीक था। परदेशी आगन्तुक ही उसे बंधन से छुड़ा सकता था। आगन्तुक धागा थाम कर व्रतधारिणी को अपने साथ ले जाता था। ईसा पूर्व पहली शती में स्ट्राबो ने भी इस प्रथा की चर्चा की है।

कालान्तर में धर्म के नाम पर इस दुर्नीति ने समग्र बेबीलोन के नैतिक वातावरण को दूषित कर दिया। फलतः ईसा पूर्व ५३६ में जब ईरानियों ने बेबीलोन पर चढ़ाई कर दी तब उनकी गहरी हार हुई। ईरानियों ने बेबीलोन की बड़ी बड़ी इमारतें, नगर की चहार-दीवारी प्रभृति तोड़-फोड़ कर मिट्टी में मिला दी। तथापि बदचलनी खंडहरों की ओट में फूलती फलती रही। दो सौ वर्ष के बाद सिकन्दर वहाँ पहुँचा। वह बेबीलोन में प्रचलित दुर्नीति का नंगा नृत्य देख कर चकित हो गया था। निदान आनंदातिरेक के कारण वहीं उसकी मृत्यु भी हुई (ईसा पूर्व ३२३)।

सिकन्दर का साथी कर्टियस लिखता है—“बेबीलोनिया के निवासी बड़े रसिक होते हैं। मौज लूटने तथा काम-कला में उन्हें कोई भी जाति पा नहीं सकती। पैसा लेकर बाप बेटी को और पति पत्नी को गाहकों के हाथ सौंपने से सकुचाते नहीं। वे भारी पियङ्कड़ और व्यभिचारी होते हैं। ऊँचे घराने की महिलाएँ भोज में प्रारंभिक दशा में अतीव सहम-संकोच के साथ अनजान पुरुषों से बरतती थीं। किन्तु जैसे-जैसे घनिष्ठता होती जाती थी, वैसे-वैसे मुख्यतः सुरा के प्रभाव से, धीरे-धीरे लजा-संकोच ताक पर रख तन-मन से आनंद मनाने लगती थीं।”

नव वर्ष का महोत्सव

प्राचीन बेबीलोन में समारोह के साथ नव वर्ष का उत्सव मनाया जाता था। बेबीलोन और बोरसिप्पा की सब देव-देवियाँ उस दिन एकत्र हो बेलमेरोडाक के मंदिर में बधाई देने जाती थीं। इस उपलक्ष्य में धूम-धाम के साथ जन-यात्रा निकाली जाती थी। ऐसे समारोह में शासक अवश्य उपस्थित रहता था।

अक्रितु उत्सव

प्राचीन बेबीलोन में यह महोत्सव निरंतर ११ दिन तक मनाया जाता था। शासक इसमें सक्रिय भाग लिया करता था। चौथे दिन मेरोडाक की मूर्ति के सामने वह अपनी त्रुटियाँ बखानता। इस पर उरिगल्लु वा महापुरोहित उसके गालों पर थप्पड़ जमाता। राजा रोने लगता। फिर आंगन में जाकर शासक ४० सरकंडों के बोझ में आग लगाता। इसी समय एक वृषभ बलि चढ़ाया जाता था। पाँचवें दिन समारोह के साथ अक्रितु की जन-यात्रा निकाली जाती थी। देवता नाव पर सवार होकर एजूर का प्रार्थना भवन में जाता था। फिर जलूस उसी रास्ते से लौट आता था।

बेबीलोन को केन्द्र मान कर महामाई का पंथ मिस्र से पंजाब और सिंध तक फैल गया। ऊपर कहा जा चुका है कि भिन्न-भिन्न देश में महादेवी

का अलग नाम पड़ा। कहीं-कहीं रीति-भाँति में भी कुछ परिवर्तन हुए। किन्तु धर्म के नाम पर व्यभिचार ज्यों का त्यों बना रहा।^१

आरमीनिया

आरमीनिया में महामाई का नाम एनेटिस पड़ा। मंदिर के चारों ओर खुले मैदान पड़े हुए थे। वहाँ स्त्री और पुरुष दोनों जाति के मानव पर-देशी प्रीतियों का आसरा देखते रहते थे। माता-पिता की मन्नत के अनुसार सम्पन्न कुल के किशोर और युवतियाँ वहाँ स्वल्पकाल वा दीर्घकाल रह कर धर्म के नाम पर वेश्यावृत्ति करती थीं। स्ट्राबो का कहना है कि इससे सामाजिक निन्दा नहीं होती और जो युवती जितने अधिक दिन वहाँ बिताती थी, विवाह के बाजार में उसकी माँग उतनी अधिक होती थी।

फिनीशिया

फिनीशिया में देवी का नाम एसटार्ट पड़ा था। इसकी मूर्ति में दोनों लिंगों का समावेश किया गया था। पूजा चढ़ाने के बहाने स्त्री-पुरुष रात को टायर, सिडोन, हेलियोपोलिस प्रमुख नगरों के मंदिरों में एकत्र हो चक्र में सम्मिलित होते थे। ऐसे अवसरों पर पुरुष लोग स्त्री बनते और स्त्रियाँ पुरुष बनती थीं। चक्र की कार्यवाही पुरोहितों की देख-रेख में विधि विधान के अनुसार निबाही जाती थी। उस समय मंदिर के आंगन में जोरों से बाजे बजाये जाते थे, जिससे हुल्लड़बाजी की आवाज बाहर न सुनायी दे। इस प्रकार धर्म के नाम पर वहाँ व्यभिचार होता था। फलतः मंदिरों में छोटे-बड़े अनाथ बच्चों के दस्ते दिखाई देने लगे। इसके अतिरिक्त यूसीवियस् का कहना है कि फिनीशिया के निवासी पैसा लेकर कुमारी कन्याओं को परदेशियों के हाथ सौंपते थे। निदान चौथी शती में सम्राट् कान्स्टान्टाइन ने हेलिपोलिस प्रमुख नगरों के कई देव मंदिरों को ढहा दिया।

^१ मुख्यतः ला क्रॉय के इस्त्वार द' ला प्रोस्तिट्यूसियों, डा: वाळ के सेक्म और सेक्स्-वर्शिप पर आधारित। दूखौर के गॉडस ऑफ जेनेरेशन और कुनर के हिस्ट्री ऑफ फालिक् वरशिप्

लूकियान नाम के दूसरे प्राचीन लेखक ने स्याम के हेलियोपोलिस नगर में स्थित मन्दिर का रोचक वर्णन किया है। यह मंदिर परम पावन माना जाता था। अतः दूर-दूर से यात्री लोग वहाँ एकत्र होते थे और वे बहुमूल्य वस्तु चढ़ाते थे। इसलिए उस मंदिर में बहुत सा धन जमा हो गया था। अरब, केयाडोशिया, सिसिली, फिनीसिया और असीरिया प्रमुख देशों से भेंट-नजर के अतिरिक्त कर मिलता था। कहा जाता है एग्रीज़ ने यह मंदिर बनवाया था। रीआ ने उसे बधिया बना दिया था। गर्भ-गृह में दो अतिकायलिंग विराजते थे। ऊँचाई में वे १७० फुट थे। लिंग पर शिला-लेख खुदा हुआ था—“वाक्चस् ने अपनी सास जूनों के सम्मान में ये मूर्तियाँ स्थापित कीं। लिंग की चोटी पर एक पुरोहित उपस्थित रहता था। दर्शनार्थी यात्रियों का विश्वास था कि वह परमेश्वर से बातचीत करता था। इन लिंगों के अतिरिक्त मंदिर में बहुत-सी छोटी-छोटी मूर्तियाँ पधरायी गयी थीं। शरीर के अनुपात में इनके लिंग का आकार बड़ा था।

साइप्रस्

फिनीशिया के साथ संबद्ध होने के कारण महादेवी का दौर-दौरा साइप्रस् द्वीप पर भी स्थापित हो गया। शीघ्र ही देवी जी के सम्मान में बीस बड़े-बड़े मंदिर बने। इनमें पाफोस और एमोथेएटी के मंदिरों के नाम विश्व-विख्यात थे। इन सब मंदिरों में निर्बाध व्यभिचार होते थे। दूसरी शती में जस्टीनियन लिखता है कि समुद्र के किनारे सुन्दरी कन्या और युवतियाँ हाथ में हाथ बाँध कर परदेशी प्रीतमों की बाटजोहती हुई रमती फिरती थीं। पाफोस में देवी की योनि मूर्ति का पूजन होता था और एमोथेएटी में उभय-लिंग-वाली मूर्ति पूजी जाती थी। मंदिर के बगल में निराला जंगल था। वहीं रात को चक्र की बैठक होती थी। साइप्रस को केन्द्र मान कर इस पंथ का प्रचार भूमध्य सागर के बहुत से द्वीपों और यूनान तथा इटली में हुआ।

कारथेज

कारथेज में देवी के मंदिर का नाम ‘कुमारी कन्याओं का खेमा’ था। वास्तव में वह निरा वेश्यालय था। वहाँ कुमारी कन्याएँ शरीर-दान

देकर विवाह का यौतुक जुटाने के लिये भेजी जाती थीं। कमाई की रकम के अनुसार कन्या का वर जुटता था। मंदिर के चारों ओर छोटे छोटे तंबू खड़े कर कारथेज की कन्याएँ धन कमाती थीं। वहाँ इतनी भीड़ लगी रहती थी कि बहुतेरियों का शीघ्र घर लौटना संभव नहीं होता था। सामान्यतः देवी के मंदिर पहाड़ और ऊँचे टीलों पर बनाये जाते थे, जिससे जहाजी पुरुषों को वे अनायास दिखाई पड़ें। संत आँगस्टाइन का कथन है कि विवाह के पहले इसी देवी के सम्मान में कारथेज की कुमारियाँ अपनी दैहिक पवित्रता की बलि चढ़ाती थीं।

स्याम

स्याम के त्रिबलास नगर में प्रति वर्ष समारोह के साथ एडोनिस् की मृत्यु और पुनर्जन्म का उत्सव मनाया जाता था। वहाँ इस्रायेल, फिनीशिया, पार्थिया, लीडिया प्रमुख देशों की अनगिनत नर-नारियाँ एकत्र होती थीं। इस उत्सव के सिलसिले में स्त्रियों को या तो मुण्डन करवाना पड़ता था वा दैहिक शुचिता से हाथ धोना पड़ता था। रोते-गाते और एक दूसरे को चपतिया कर किंवा छोटे-छोटे डंडों से मार कर मातम करते हुए एडोनिस् की मृत्यु-तिथि की वर्ष-गाँठ मनायी जाती थी। इसके अनन्तर देवता का पुनर्जन्म का उत्सव मनाया जाता था। इस अवसर पर एडोनिस् की लिंग मूर्ति दिखाई जाती थी। बाद में जो जुलूस निकाला जाता था, उसमें हो-हल्ला करती हुई मस्त जनता महाकाव्य एक लिंग मूर्ति ढोकर ले जाती थी। इसी समय दर्शनार्थी स्त्रियों को अपना केशपाश वा चरित्र की बलि चढ़ानी पड़ती थी। ऐसी स्त्रियाँ जो मुंडन नहीं करवाना चाहती थीं, वे मंदिर के संलग्न बाजार में जा बैठती थीं। बाजार में केवल परदेशी और अनजान पुरुष ही जा सकते थे। ये स्त्रियाँ दिन भर की कमाई मंदिर में चढ़ा देती थीं। इन दोनों उत्सवों के मनाने की तिथियों पर ध्यान देते हुए कुछ आधुनिक लेखकों ने सम्मति प्रकट की है कि इस रीति से प्राचीन पृथ्वी में गर्मी के दिनों उपज के अंतर्धान और वर्षाकाल में उसके फिर से आविर्भाव की घटनाएँ मनायी जाती थीं। थोड़े में एशिया कोचक में

जहाँ-जहाँ देवी के मंदिर थे, धर्म के नाम पर इस प्रकार के व्यभिचार में भिन्न-भिन्न जाति के स्त्री-पुरुष लोट-पोट करते थे।

फिलिस्तीन—

पैगम्बर मूसा के आविर्भाव के पहले फिलिस्तीन के यहूदी समाज की नैतिक दशा बहुत गिरी हुई थी। सोडम के रहने वाले लॉट के घर दो अतिथि आये हुए थे। ग्रामीण जनता ने दृष्ट किया कि उन्हें हमारे सामने उपस्थित करो। इस पर लॉट ने अपनी कुमारी कन्याओं को उनके हाथ सौंप कर अतिथियों की जान बचायी थी। उसी प्रकार उनके समाज में वेश्यावृत्ति भी प्रचलित थी। उदाहरण के लिए जूदा और उसकी पुत्र-बधू तामार की घटना प्रस्तुत की जा सकती है^१ उन दिनों पश्य-स्त्रियाँ चौराहे पर धूँध काढ़ कर गाइकों की बाट जोहती थीं। तामार ने धोखा देकर एक बकरी का बच्चा मूल्य स्वरूप लेकर ससुर से संसर्ग किया था (ईसा पूर्व २१००)। बाईबिल में पश्य-स्त्रियों का उल्लेख प्रायः हुआ है। ये अभागिनियाँ सड़कों के किनारे या तो बुरके का उपयोग कर कुल अंग ढाँक कर बैठी रहती थीं, अथवा नाम मात्र के पहनावे पहन कर सुगंधित पदार्थ जलाते हुए नाचती गाती थीं। इनमें अधिकतम स्त्रियाँ विदेशिनी होती थीं। मूसा ने यहूदी स्त्रियों को वेश्यावृत्ति करने से रोका था। इसलिए परदेशी वेश्याओं के लिए नगरों में घुसना संभव नहीं था। आगे चल कर सुलेमान ने उन्हें नगरों में बसने की आज्ञा दी थी।

जब तक यहूदियों को मिस्र में निर्वासितों का जीवन व्यतीत करना पड़ा, तब तक वे भेद-विचार हीन व्यभिचार में लोट-पोट करते रहे। ऐसी दशा में मूसा ने उन्हें फिलिस्तीन को लौटा लाया और यहूदी समाज का फिर से संगठन किया। इसी प्रसंग में उसने सिनाई पहाड़ की चोटी पर से जोहोवा की आज्ञा सुनायी थी। इन आज्ञाओं की दुहाई देते हुए उसने यहूदियों की दुर्नीति पर रोक थाम की। उसने कठोर दंड देकर

अगम्यागमन, अनियमित यौन सम्बन्ध, कन्या-विक्रय, अस्वाभाविक यौन सम्बन्ध, वेश्या-वृत्ति आदि दुराचारों पर नियंत्रण लगा दिया^१। इसी प्रसंग में उसने स्वगोत्र में विवाह करने तथा श्रुतमती स्त्रियों से संसर्ग करने पर भी प्रतिबंध लगा दिया। अंतिम नियम के उल्लंघन करने वालों को मौत की सजा तक दी जाती थी।

उपर्युक्त-नियमादि रच कर मूसा ने केवल यहूदी समाज की नैतिक अधोगति ही रोकने का प्रयास नहीं किया, परन्तु मोआब, मीडियन, आमोन, कनान प्रमुख पर जातियों के संपर्क में आने से यहूदी लोग जो मोलक, बाल-पियोर प्रभृति मिथ्या-देवताओं को पूजने लगे थे और इस प्रसंग में वे जो धर्म के नाम पर व्यभिचार में लोट-पोट करते थे, उसे भी बंद कर दिया। ऊँचे स्वर में उसने आज्ञा दी—“मोलक की मूर्ति के साथ बदचलनी कर जो शक्तिव्यय करे, उसे मृत्यु दंड दिया जाय”। इसके अतिरिक्त उसने आज्ञा दी—“परमात्मा के मंदिर में बार व्रजिताओं की कमाई का पैसा तथा भाड़े पर कुत्ते देने की आमदनी कदापि न चढ़ायी जाय।” लिंग-पूजन के प्रसंग में मोआब की ललनाएँ पहले लिंग-मूर्ति के साथ बदचलनी करतीं, फिर वे इसरायल के निवासियों को बहकाया करतीं थीं संत जीरोम का कहना है कि बाल पियोर के मंदिर में स्त्रियाँ पुजारिन का काम करती थीं। वे बहुधा देवदासियों की तरह होती थीं।

मोलक

मोलक और बाल-पियोर दोनों मोआब और मीडियन समुदाय वालों के आराध्य देवता थे। मोलक की मूर्ति पीतल की बनती थी। उसका शरीर मनुष्य जैसा होता था किन्तु उसका मुख बछड़े जैसा होता था। दोनों भुजाएँ फैला कर वह खड़ा रहता था। उसके पेट में सात मुख या छेद होते थे। इन मुखों के सहारे वह चढ़ाये हुए कबूतर, बकरी के बच्चे, भेड़, बछड़े, बैल और मानव-शिशु का भोग खाता था। मूर्ति के नीचे सदैव आग जलती

रहती थी। उसके मुँह या पेट के छेद में कोई वस्तु ठूस देने से वह तुरन्त नीचे जलती हुई आग में गिर जाती थी। बलि-पशु चढ़ाये जाने के साथ-साथ पुरोहित जोरों से बाजा बजाते थे जिससे पशुओं के कराहने का शब्द सुनाई न दे ! भोग चढ़ाने के उपरान्त उस पंथ के अनुयायी मूर्ति के साथ बदचलनी करते थे। उत्सवादि के उपलक्ष्य में कुमारी कन्याएँ शुचिता और शालीनता का बलि चढ़ातीं। लेवि के संततिवालों ने ३००० नंगे-धड़ंगे पूजकों का सफाया किया था। किंग्स से पता चलता है कि सोडोम की स्त्रियाँ घर में देवालय की लिंग-मूर्ति के लिए ओढ़नी बुनती थीं^१।

बाल-पियोर

इसरायेल में मोलक-पंथियों की संख्या अधिक नहीं थी। किन्तु बाल-पियोर का पूजन सर्वत्र होता था। प्रारम्भिक दशा में बाल-पियोर मोआब और मीउ समुदायवालों का जातीय देवता था। कालान्तर में इसरायल में इस पंथ का व्यापक प्रचार हुआ। सामान्यतः लिंग मूर्ति के पूजन द्वारा बाल-पियोर की उपासना करने की रीति थी। कभी-कभी सिर पर पहनावे लपेट कर देवता की कल्पित मूर्ति नंगी पधरायी जाती थी। मंदिर के समीप कुंज-वन होते थे। रात को वहाँ चक्र की बैठक होती थी। मंदिर के सेवक अधिकतर मुँछ-मुंडे रूपवान नव-युवक होते थे। उनके हाव भाव स्त्रियों की भाँति होते थे। बाइबिल में उनका नाम “दीक्षित” पड़ा है। चक्र की बैठक में वे सक्रिय भाग लेते थे तथा कमाई का धन मंदिर की सेवा में देते थे। इन सेवकों के अतिरिक्त मंदिर में शिक्षित कुत्ते भी होते थे। वे भाड़े पर दिये जाते थे। इन मंदिरों में धर्म के नाम पर खुल्लमखुल्ला व्याभिचार होता था। कभी-कभी धार्मिक क्रियाकांड के प्रसंग में पुरोहित और सेवकों के दस्ते सुरापान कर एक दूसरे से छुरों से लड़ते थे। कालान्तर में दीक्षित सेवकों की सेवा से यहूदियों का जी घबरा गया, तब मंदिर की आय बनाये रखने

^१ किंग्स (२) २३।७;

के लिए परदेसी दीक्षिता स्त्रियाँ रखने की प्रथा चल निकली। बाल-पियोर के पूजने की रीति ठप हो जाने के बाद ये स्त्रियाँ वेश्यावृत्ति करने लगीं।

यहूदियों ने मोआब समुदाय की स्त्रियों से बाल-पियोर का पूजन सीखा था। दीक्षा संस्कार में कोई भ्रष्ट नहीं थी। मोआब जाति की रमणियों की नखरेबाजी में आकर जब कोई यहूदी उनके खेमे में घुस पड़ता, तभी वे भट छाती में रखी हुई देवता की लिंग मूर्ति निकाल लेती और कामुक यहूदी को उसके सामने नंगे खड़े हो जाने को कहती। यहीं पर दीक्षा पद्धति समाप्त होती थी। इस बात को ध्यान में रखते हुए मीड जाति पर विजय प्राप्त करने के अनन्तर मूसा ने मोआब जाति की बहुत सी बंदिनी स्त्रियों को तलवार के घाट उतारा था।

थोड़े में इसरायेल के निवासी इस पंथ के कट्टर अनुयायी थे। पहले-पहल जीहोबा ने उन्हें बाल-पियोर को पूजने की मनाही की थी। किन्तु कान में तेल डाल कर वे बैठे रहे। आगे जेरेमिया, इजेकियेल प्रमुख पैगम्बरों ने लिंग-पूजन प्रथा की बड़ी निन्दा की। फिर भी इसरायेल वालों के कानी पर जूँ तक न रेंगा। तब परमेश्वर की आज्ञा से मूसा ने २४००० इसरायल और मीड वालों का सफाया किया। किन्तु तलवार के घाट उतार कर कब किसने धार्मिक संस्कार को मिटा दिया है? संत जीरोम, होशिया प्रमुख पैगम्बरों का कहना है कि इसरायेल वाले बहुत दिनों तक पुरानी लत पर डटे रहे।

प्रारम्भ ही से यहूदियों के जातीय चरित्र में त्रुटि यह थी कि वे संयत बिलकुल नहीं थे। प्रख्यात जन-नायक तक अपनी प्रवृत्तियों पर रोक थाम करने की आवश्यकता का अनुभव नहीं करते थे। इब्राहीम की धर्म-पत्नी साराह की वयस जब १२० वर्ष थी, तब उसका एक पुत्र जन्मा। स्वयं मूसा ने सौ वर्ष पार करने के उपरान्त एक विधर्मी इथियोपियन तरुणी को रख लिया था। उसकी बहन ने आपत्ति की थी। फलतः वह कोढ़ी हो गयी। जेफ़था की माँ पण्य-स्त्री थी। इस पाप का प्रायश्चित्त करने के लिए जेफ़था ने एकलौती बेटी को किसी मंदिर की देवदासी बना दिया। सामसन

और दलीला की कहानी बहुतों को मालूम होगी। दलीला एक बार नारी थी। सामसन् उसके प्रेम-जाल में फँस गया फिर उसी दलीला ने जब फिलिस्तीन वालों से घूस लेकर सामसन् का बाल मुँड़ा दिया, तब ईश्वर की कृपा से सामसन् वंचित रहा। निदान दलीला ने भी उसे त्याग दिया। वेश्यासक्त होने के अतिरिक्त यहूदी लोग घर में रखेलियाँ भी रख लेते थे। इब्राहीम की कई रखेलियाँ थीं। गिडियोन के ७० जायज पुत्र थे। इनके अतिरिक्त उसे एक पुत्र एक रखेली से प्राप्त हुआ था। इफ्रियम् के निवासी लेवाइट (पुरोहित) की रखेली पर बारंबार बलात्कार कर बेन्जामिन् समुदाय के लोगों ने उसे मार डाला। इस पर इसरायेल वालों से बेन्जामिन् समुदाय की लड़ाई छिड़ी। इस लड़ाई में बेन्जामिन् वालों की गहरी हार हुई। वृद्धावस्था में शासक दाऊद ने एक तरुणी को रख लिया था। सुलेमान “विज्ञ” होते हुए भी ७०० पत्नियों के अतिरिक्त ३०० रखेलियाँ रखे हुए था। ये सब रमणियाँ मोआब, आमोन, सिडन आदि भिन्न-भिन्न जन-जातियों की थीं। बाइबिल से पता चलता है कि बुढ़ापे में सुलेमान इन रखेलियों की बातों में आकर अनेक मिथ्या देवताओं को पूजने लगा था।

थोड़े में, ईसा मसीह के आविर्भाव के पहले यहूदी जाति के लोग दुर्नीति और भ्रष्टाचार की कीच में बिलबिला रहे थे। सड़कों पर पण्य-स्त्रियों के खेलों के ताँते देख पड़ते थे। गृहस्थों के घर में रखेलियों के दस्ते थे। सर्वोपरि मोलक, चेमोश और बाल-पियोर को पूजने के बहाने वे देवालयों में व्यभिचार करते थे। सुलेमान के बनाये हुए मंदिर में बाजारू स्त्रियों की भीड़ लगी रहती थी। मसीह ने वहाँ से सराफ और कबूतर बेचने वालों को निकाल बाहर किया था। मसीह ने पतिता स्त्रियों से सदैव सहानुभूति और प्रेम का बरताव किया। भ्रष्टा सामरिटन रमणी से उसने दया का बरताव किया तथा मेरी मॉडलीन का उद्धार किया। आगे चल कर मेरी पतिता रमणियों की अधिष्ठात्री देवी बनी, यतः दुराचार के गम्भीर खड्ड में पड़े रहने पर भी उसने अपनी कृतियों के द्वारा स्वर्ग तक पहुँचने का पथ दिखाया था।

इसके पहले फिलिस्तीन में पैगंबर मूसा ने सिनाई पहाड़ की चोटी

पर से भ्रष्टाचारी यहूदियों पर आने वाले दैवी क्रोध और दैवी न्याय की धमकी दी थी। लोग उससे भयभीत हो गये थे। इसके विपरीत मसीह ने उन्हें प्रेम, दया और सहानुभूति का पाठ पढ़ाया। उन्होंने कहा “अपने पड़ोसी से सहानुभूति का बरताव करो: परमात्मा से प्रेम करो।” इसी वाणी के प्रचार के लिए परमेश्वर ने अवतार लिया, अपने कन्धों पर सहर्ष शरणागतों के पाप का बोझ उठा लिया तथा उन्हें मुक्ति देने के लिए निरपराध होते हुए भी स्वयं क्रूस पर बाँधे जाने की यातना भोगी। तभी से मसीह पाश्चात्य देशों की मुग्ध जनता की निगाह में हमारे देश के महाप्रभु चैतन्य की भाँति “प्रेम के ठाकुर” बने।

एमेज़ोनिया-लीडिया

पूर्वी दिशा में पार्थिया, एमेज़ोनिया, मीडिया प्रमुख देशों की भी यही दशा थी। एमेज़ोनिया में देवी का नाम आरटिमीज़ पड़ा था। आरटिमीज़ शब्द का अर्थ “साध्वी”। फिर भी पूजन-पद्धति में किसी प्रकार का हेर फेर नहीं होने पाया। किन्तु लीडिया की रग रग में विलास-व्यसन का विष समाया हुआ था। कहा जाता है कि पहले पहल लीडिया वालों ने जुआ और गेंद खेलने की परिपाटी का आविष्कार किया था। उन्हें इसका बड़ा गुमान था। इसलिये वे दिन-रात जुए की चर्चा किया करते थे। उन्होंने कई सूरों का भी आविष्कार किया था। यूनानियों ने उन्हें अपनाया था। फिर स्वभाव वे बड़े विलास-प्रिय थे। आश्चर्य नहीं शीघ्र ही समग्र जाति बदचलनी की शिकार बनी। वहाँ भी महामायी पंथ का भारी प्रचार था। हिरोडोटस् के अनुसार कुमारी दशा में यौतुक जुटाने के बहाने कन्याएँ कमाना शुरू करतीं और विवाह के बाद भी वे कमाई चालू रखतीं। पति बहुधा स्त्रैण होते थे। इसलिये चुपचाप सब कुछ हजम कर जाते थे। ऐसा लगता है कि लीडिया की वार-वनिताओं की आय खासी थी। शासक क्रीसस् के पिता अलियाटीज़ के मरने पर उसके समाधि-मंदिर के बनाने में जितनी रकम लगी थी, उसका तिहाई भाग पण्य-स्त्रियों ने दिया था। शेष

व्यापारी और कारीगरों ने दिया था। उस मंदिर बारे में कहा जाता है कि वह अनुपम था।

ईरान

ऊपर कहा जा चुका है कि ईसा पूर्व ५३६ में ईरान के शाह साइरस ने पुरोहितों को हाथ में करके बेबीलोन पर अधिकार कर लिया। इसके पहले उसने असीरिया जीता था। प्राचीन काल में ईरानी साम्राज्य का विस्तार व्यापक था। पूर्व में सिंध से लेकर यूनान की सीमा तक और उत्तर में डान्यूब से लेकर मिस्र तक के सारे भू-भाग के एक-छत्र शासक ईरान के शाह थे। साम्राज्य का संघटन भी अच्छा था। एक छोर से दूसरे छोर तक आने जाने के लिए सड़कें थीं, डाक का प्रबंध था, दूर-दूर के शासक लोग मन माना नहीं कर सकते थे। थोड़े में “ईरानी शान्ति” तथाकथित “रोमक-शान्ति” की पूर्वज थी। इस साम्राज्य का संस्थापक साइरस था।

साइरस अपने को ईरानियों के पितृ-पुरुष अख्मानीश का वंशज मानता था। इसलिये इतिहास में उसके स्थापित वंश का नाम अकमीनी पड़ा है। प्रारंभिक दशा में वह इलाम के अनशान् प्रान्त का शासक था। आगे वह मीडस् के शासक एस्टिएजिस् को हरा कर मीडिया और ईरान का सर्वेसर्वा बन बैठा (ईसा पूर्व ५५८)। इसके बाद उसने लीडिया जीत कर बेबीलोन पर धावा बोल दिया। उस समय नेबुकदनज़र का बेटा बेलशज़र एक भारी भोज में सम्मिलित होकर सुरापान करने में जुटा हुआ था। उसी रात वह हत्यारों का आखेट बना। बेबीलोन पर अधिकार करके साइरस ने पुरोहितों को मना लिया (ईसा पूर्व ५३६)। बाद में औपचारिक रूप से उसने मेरोडाक का हाथ थामा और क्रमशः वह चारों दिशाओं का एकछत्र सम्राट् बना।

क़रालिनसन्-फ़ाईव ग्रेट मनाकीज़; सिकसथ ग्रेट ओरियण्टल मनाकी; बारनर-फिरदौसी का शाहनामा; बहला ज़ोरोमास्ट्रियन् सिबिलिज़ेशन् इत्यादि पर आधारित।

साइरस के बेटे काम बिसेज़ (ईसा पूर्व ५२६) ने मिस्र पर चढ़ाई करके बहुत सा भाग जीत लिया । उसने सगी बहन को ब्याहा था । पुत्रादि न रहने के कारण दारा प्रथम नामक एक मीउ को गद्दी मिली (ईसा पूर्व ५२१) दारा के शासन काल में साम्राज्य का विस्तार बहुत बढ़ गया । सिन्ध नदी साम्राज्य की पूर्वी सीमा थी । उसी ने पहले पहल यूनान और दक्षिणी रूस पर चढ़ाई कर दी थी । दारा ने कामबिसेज़ की विधवा से विवाह किया था । उसने ईरानी धर्म-मत पर बेबीलोन का जो प्रभाव पड़ा था, उसे मिटा दिया ।

यदि सच पूछिये तो विराट् ईरानी साम्राज्य का उचित रीति से संघटन करने का श्रेय दारा का था । सारे साम्राज्य को उसने लगभग बीस सूबों में बाँटे । सूबेदार क्षत्रप कहलाता था । क्षत्रप लोग अधिकतर सम्राट् के नातेदार होते थे । प्रत्येक सूबे के तीन प्रधान अधिकारी-क्षत्रप, सेनापति और संचालक के अधिकार बराबर होते और वे एक दूसरे की कार्यवाही पर दृष्टि रखते थे । तीनों की नियुक्ति सम्राट् करता था । इनके अतिरिक्त सेना के साथ राजकुमार लोग सूबों का दौरा करते फिरते थे । भिन्न-भिन्न प्रान्तों की जनता की रीति-रस्म-से छेड़-छाड़ नहीं की गयी । नयी सड़कें बनीं, घोड़ों का डाक बैठाया गया, सड़कों के किनारे-किनारे डाक चौकी और सराएँ बनीं, नदियों पर पुल बने और बीच-बीच में थाने स्थापित किये गये । दारा ने सूसा, परसिपोलिस प्रमुख नगरों में भव्य राजभवन बनवाये और नख्स-इ-रस्तम में समूचे चट्टान को काट कर अपना समाधि-भवन बनवाया ।

दारा का पुत्र जर्कसीज़ (४८६-४६६ ईसा पूर्व) ने यूनान पर चढ़ाई कर दी । किन्तु कई स्थानों में उसकी हार हुई । वह बड़ा लम्पट था । किसी साध्वी स्त्री पर बलात्कार करने के लिए जर्कसीज़ की हत्या कर दी गयी । इसी समय से राजभवन में भ्रष्टाचार का नंगा नाच चलने लगा । राज-कुमारी अमीतिस मनमानी करती फिरती थी । उसे रोकने वाला कोई न था । सुयोग मिलते ही हीजड़ों ने जोर बाँधा । १४० वर्ष तक यही क्रम जारी

रहा। षडयंत्र, हत्या, बध, चालबाजी, बेइमानी और धूर्तता का बार बार नहीं रहने पाया। केन्द्र में गड़बड़ी को सुविधा लेकर प्रान्तीय क्षत्रपों ने बिद्रोह का झंडा फहरा दिया।

दारा द्वितीय (४२४-४०५ ईसा पूर्व) ने अपनी बूआ पेरिसाटिस से विवाह किया था। आर्टाज़र्कसीज़ (४०५-३५६ ईसा पूर्व) ने अपनी बेटी अतोसा से विवाह किया था। इन दिनों ईरान के शाहयूनान के अंतरराष्ट्रीय झगड़ों के सालिस माने गये। दारा तृतीय (३३८-३३१ ईसा पूर्व) को सिकन्दर महान् का सामना करना पड़ा। उसकी कई बार हार हुई। उसकी माँ-बहन-धर्म पत्नी-बच्चे सब के सब कैद कर लिये गये तथा सारा राज्य हाथ से निकल गया। दारा भी कुछ दिनों तक मारा-मारा फिरने लगा, फिर इस संसार से चल बसा।

सिकन्दर के मरने पर प्राचीन ईरानी साम्राज्य का बहुत सा भाग लेकर एक नये साम्राज्य का संघटन हुआ। इतिहास में इसका नाम सेल्यु-किउ साम्राज्य पड़ा है। ईसा पूर्व की अंतिम शती में उक्त साम्राज्य पर पार्थिय राज-वंश का अधिकार हो गया। निदान २२६ ई० में आर्टाज़र्कसीज़ ने फिर से विशुद्ध ईरानी राजवंश की स्थापना की। इतिहास में उसका नाम ससनीद वंश पड़ा है। विदेशी पार्थियों के शासन काल में ईरानी धर्म की बड़ी दुर्गति हुई थी। अग्नि-मंदिरों की आग बुझा दी गयी थी। सूर्य-चंद्र, मृत-शासकों तथा पूर्वजों की मूर्तियाँ पूजी जा रही थीं, मुर्दे जलाये जा रहे थे तथा अहुर-मज़दा और अहरिमन की पूछताछ तक न रहने पायी।

ईरानी धर्म मत का, जिसका ऊपर नाम ज़ोरोयास्ट्रिय मत है, यह आधार्मिक सिद्धान्त है कि संसार में सदैव भले और बुरे-दो विरोधी तत्वों की खींचातानी चल रही है। भले का स्रोत अहुर मज़दा वा ओर मज़्द हैं और बुराई का उकसाने वाला अंगरो मैन्युस् वा अहरिमन् नाम का शैतान है। दोनों अपने अपने दल-बल के साथ निरंतर एक दूसरे से लड़ रहे हैं। मानव का धर्म है कि वह अपने क्रिया-कर्म और चाल-चलन के द्वारा सदैव ओर मज़्द के हाथ मजबूत बनावे, तथा किसी भी दशा में अहरिमन् की

बातों में न आवे । जैसे-जैसे लोग कुकृत्य करते हैं, वैसे-वैसे वे शैतान के जाल में फँसते जाते हैं ।

आर्टाज़र्कसीज़ ने प्रारंभिक दशा में धार्मिक सुधार द्वारा ईरानियों के हृदय में एकता की भावना जागरित करने की चेष्टा की । आर्टाज़र्कसीज़ ने मूर्ति पूजन की प्रथा बंद करवा दी । मूर्तियाँ चकनाचूर कर दी गयीं । ईरानी अग्नि-मंदिरों में फिर से पवित्र अग्नि की स्थापना की गयी । ज़ेन्दा-अवस्ता का संकलन करवाया गया और उस पर टीका-टिप्पणी लिखवायी गयी । प्राचीन ईरानी मूर्ति-पूजा नहीं करते थे । आर्टाज़र्कसीज़ ने पहले पहल अहुर मज़दा की मूर्ति पूजने की प्रथा चालू की । तब से भीतों पर खुदे हुए चित्रों में यत्र तत्र अहुर मज़दा की मूर्तियाँ देखने में आती हैं । ऐसा लगता है कि अहुर मज़दा शासक मंडली के अधिष्ठाता देवता माने जाते थे । जनता सामान्यतः मिथ्रा (सूर्य भगवान्) और महादेवी अनहित को मानती थी । प्रति दिन तीन बार मिथ्रा की उपासना की जाती थी । प्रारंभिक दशा में मिथ्रा का प्रतीक एक वृत्त था । आगे उसकी मूर्ति पूजी जाने लगी । ईरान में सूर्य भगवान् को मनाने के लिये घोड़ों की बलि चढ़ायी जाती थी । भविष्य पुराण में ईरानी ढंग पर सूर्य-पूजन तथा ईरानी पुरोहित, मर्गों की रीति नीति का विशद वर्णन हुआ है । अरब वालों ने मूलस्थानपुर (मुलतान) में जो सूर्य-मंदिर देखा था वह ईरानी ढाँचे पर बना हुआ था । इनके अतिरिक्त विवाह के देवता ऐर्यनम, खेतीबारी के देवता बहुमनो, अग्नि-देवता अशवहिस्त, जल-देवता हौर वतत्, वित्रहा, तिस्त्रय इत्यादि भी माने जाते थे ।

देवियों में अरमैती अहुर मज़दा की पुत्री थीं । वह धरित्री-देवी तथा शुचिता की देवी थी । इस्फन्दरमत् पवित्रता की मूर्ति थी । किन्तु लोक-प्रियता में देवी अनहित सबको मात कर देती थी । ऊपर कहा जा चुका है कि बेबीलोन के साथ सीधा संपर्क स्थापित हो जाने पर ईरान के धर्म मत पर बेबीलोन वालों की छाप पड़ने लगी । अहुर मज़दा बेल मेरोडाक तथा अशुर से अभिन्न माने गये और देवी अनहित बेबीलोन की महामायी

ईश्टार, नीना इत्यादि की अवतार बन गयी। आर्टाज़र्कसीज़ स्वयं महा-मायी पंथ का कट्टर अनुयायी था। आर्टाज़र्कसीज़ द्वितीय (३७६-८३ ई०) ने पहले पहल देवी की मूर्ति पधरायी थी। शीघ्र ही सूसा, पर्सिपोलिस, एक-बताना, दमश्क प्रमुख नगरों में देवी जी के मंदिर बने। इस पंथ के पुरोहित अलग होते थे। इनकी देखरेख में रहस्य-पूजन, चक्र की बैठक प्रभृति होती थी। भीत पर खुदे हुए चित्रों में रमणोद्यत एक पुरुष का चित्र भी देखने में आता है। कहने की आवश्यकता नहीं ऐसे चित्र इस पंथ के व्यापक प्रचार के द्योतक हैं।

प्राचीन ईरानी धर्ममत के अनुसार मानव मात्र के तीन कर्त्तव्य है— पूजा-पाठ, खेतीबारी और शुचिता। पूजा-पाठ के प्रसंग में वह अहुर मज़दा को सच्चा ईश्वर माने, प्रार्थना करे, गाथा दोहरावे, बलि चढ़ावे और ज़श्न करने के सिलसिले में होम करे। पहले पहल ईरानी धर्म मत ने ही खेती बारी को धार्मिक कृत्य माना। शुचिता दो प्रकार की बतायी गयी है— नैतिक और वैध। नैतिक शुचिता के अंतर्गत सचाई, न्याय, पवित्रता और सदाचार हैं और वैध शुचिता स्त्रियपतेज-मरुत् को दूषित न करना मानी गयी है। आत्मा की अविनश्वरता मानी गयी है। मृत्यु होने पर पुण्यात्मा स्वर्ग को सिधारते हैं और पापी अहरिमन् के राज्य, नरक में जाते हैं। जीते जी मानव को अहुर मज़दा का अनुयायी बनना चाहिए और अहरिमन के फेर में न पड़ना चाहिए।

आर्टाज़र्कसीज़ का पुत्र सपोर प्रथम (२६० ई०) भारी लड़का था। उसने स्याम पर चढ़ाई करके एन्टिओक पर अधिकार कर लिया और रोम के सम्राट वालेरियन् को बंदी बनाया। इसके बाद ईरान के शासक लोग ३०० वर्ष तक पूर्वी रोमन साम्राज्य के शासकों का लोहा लेते गये। आगे यह युद्ध बहुधा धर्म-युद्ध बन गया। ईरान के शाह जोरोयास्ट्रिय धर्म मत के संरक्षक बन कर ईसाई मत के अनुयायी कुस्तुनतुनिया के रोमन सम्राटों से लड़ते गये। एशिया कोचक तहस-नहस हो गया, खेती बारी चौपट हो गयी और हरे भरे नगर श्मशान से भयंकर बन गये। निदान ४२२ ई० में दोनों

में समझौता हो गया जिसके अनुसार दोनों ने एक दूसरे के धर्म-मत को मान्यता दी ।

खुसरो प्रथम (५३१-७९ ई०) जैसा वीर योद्धा था वैसा ही सफल सुधारक भी था । उसने सेना-विभाग का नये सिरे से संघटन किया, खेती-बारी को प्रोत्साहन दिया, विद्वानों और कलाकारों की पृष्ठ-पोषकता की तथा धार्मिक और सामाजिक सुधार किये ।

इन्हीं दिनों मज़दक नामक तथाकथित एक पैगम्बर ने साम्यवाद की वाणी का प्रचार कर ईरान के आरपार बड़ी हलचल मचा दी थी । मज़दक प्रारंभ में ईरानी धर्ममत का प्रधान पुरोहित था और वह परसिपोलिस् का निवासी था । वह कहता फिरता था कि सम्पत्ति का समान बँटवारा होना चाहिए । सुन्दरी रमणियों पर किसी का एकाधिकार होना नहीं चाहिए । सम्पत्ति और व्याह-शादी बनावटी वस्तु है । ईश्वर की इच्छा यह कभी नहीं थी कि अधिकतर लोग भूखों मरें और इने गिने लोग सुख-विलास में लोट पोट करते रहे । ऐसी दशा में यदि स्वाभाविक अधिकार जतलाने के लिए बल का भी उपयोग किया जाय तो अबैध नहीं । परदारिकता, अग्रगम्यगमन, चोरी प्रभृति अपराध नहीं । इन कृत्यों के द्वारा निःस्व लोग अपना-अपना स्वाभाविक अधिकार जतलाते हैं । इस प्रकार की खोटी-खरी शिक्षा के साथ-साथ मज़दक ने जीव-दया, निरामिष भोजन (शाकाहार), रहन-सहन में सादगी, उपासनादि पर बल दिया । आश्चर्य नहीं, थोड़े ही दिनों में वह बड़ा लोक-प्रिय बन गया । उसके अधिकतर अनुयायी मन-मौजी युवक-युवतियाँ, विलासी और अभाव-ग्रस्त दरिद्र बने । इस प्रकार के चेलों की सहायता से उसने सारे ईरान में तहलका मचा दिया । दिखावट के लिए शाह कोवद (४८७-५३१ ई०) भी उसका चेला बन गया । किन्तु उसने मज़दक के धर्म-मत को राज-धर्म बनाने से अस्वीकार कर दिया । निदान खुसरो ने इस आन्दोलन को दबा दिया । ईरान की जन-संख्या बढ़ाने के उद्देश्य से खुसरो ने कुमारी कन्याओं तथा विधवाओं को विवाह करने के लिए प्रोत्साहन दिया । राष्ट्र की ओर से दहेज के रूप में रुपये दिये जाते थे

तथा बच्चों की शिक्षा और हाथ के काम सिखाने का प्रबन्ध राष्ट्र की ओर से किया गया ।

खुसरो का पोता खुसरो द्वितीय ५६० ई० में शाह बना । वह भारी लड़ाका था । वह कई बार सेना समेत कुस्तुनतुनिया पर जा धमका था । स्याम और इजरायेल जीता और मिस्र पर भी चढ़ाई कर दी । सम्राट् हेराक्लियस् ने उसे नीचा दिखाया (६२७ ई०) । दूसरे साल खुसरो हत्यारे का आखेट बना । ६३६ ई० में ईरान पर खलीफा अबु-बकर का अधिकार हो गया । अन्तिम शाह इज्जदिगर्द भाग निकला । निरन्तर युद्ध ने साम्राज्य की जड़ हिला दी ।

प्राचीन आर्य जाति के बारे में कहा जाता है कि वह रोबीली, तथा शारीरिक, मानसिक और नैतिक शक्तियों की खान थी । ईरानी शाखा के आर्यों में इन सब गुणों की कमी थी । प्रारंभ में वे कुर्द और तातारों की तरह उजड़ु पहाड़ी थे । फिर भी आकृति-प्रकृति के वे सौम्य, भव्य, गठीले और सीधे सादे थे । परिश्रमी और बहादुर होने के कारण वे बराबर यूनान और रोमवालों का लोहा लेते गये । किन्तु अक़्मीयन् युग के अन्तिम भाग में प्रभुसत्ता के होने और निरन्तर धनागम के कारण उनके जातीय चरित्र में हेर-फेर हुआ । वे विलासी बन गये, लड़ाई-भिड़ाई से मुँह मोड़ने लगे तथा उनकी जातीयता की भावना पर बट्टा लगा । फलतः ५५० वर्ष तक के दासत्व की साँकल में जकड़ गये । इससे वे और भी गिर गये । शारीरिक अवनति के साथ-साथ जातीय चरित्र बिगड़ा, मानसिक शक्ति घटने के साथ-साथ कला-कौशल चौपट हुआ; चाल-चलन गँवारु बन गया, रुचि में विकृति आ गयी और उनकी संस्कृति और सभ्यता मिट्टी में मिल गयी ।

प्राचीन ईरानी धर्म-मत में लोगों को बहकाने वाली बातें बिलकुल न थीं । दो बार बाहरी तत्वों के आ जाने से आदिम धर्म-मत की पवित्रता को कुछ धक्का पहुँचा । इनमें बेबीलोन से संसर्ग स्थापित होने से महामायी मत का प्रचार और मज़दक के चलाये हुए साम्यवाद के संदेश ने निःसंदेह अनगिनत ईरानियों को दुर्नीति की ओर खींचा था । फिर अन्यान्य जातियों

के साथ मेल-जोल जैसे-जैसे बढ़ता गया, वैसे-वैसे वे उनके अवगुणों को अपनाते गये। इनमें लीडिया, मीडिया, यूनान और रोम प्रधान थे। ईरानियों का चरित्र बिगाड़ने में प्रत्येक ने महत्त्वपूर्ण भाग लिया।

मीडस्

लीडिया में प्रचलित बदचलनी का विवरण ऊपर हो चुका है। मीडिया के लोग बड़े भोजन-विलासी होते थे। भोजन करते समय वे अनेक प्रकार के मांस, शाक-सब्जी और चटनी आदि का उपयोग करते थे। ऐसे अवसरों पर नृत्य-गीत के साथ बेखटके सुरापान करने की प्रथा थी। शासक सदैव सुरापान करके रखनी और नर्त्तकियों का संग किया करता था। राजा की देखा-देखी सामंत लोग भी विलास-व्यसन में लोट-पोट करते थे। वे आँखों में सुरमा लगाते और मुँह पर रंग पोतते थे। उन दिनों मीडिया में नकली केश पहनने की चाल थी।

स्ट्राबो का कहना है कि सम्पन्न लोगों की कम से कम पाँच स्त्रियाँ होती थीं। इनके अतिरिक्त बहुत-सी रखेलियाँ भी होती थीं। फिर हीजड़ों की गिनती कौन कर सकता था? टीशियस् का कथन है कि मीडिया वाले अगम्यागमन तक करते थे, और जानथस् का कहना है कि समाज में ऐसी स्त्रियों की कमी नहीं थी, जिनके एक से अधिक पति होते थे।

मीडिया के लोग माजी मत के अनुयायी थे। प्रारंभ में इस मत का प्रचार अज़रबैजान, आरमीनिया, कुर्दिस्तान प्रमुख प्रान्तों में हुआ था। माजी मत के मानने वाले पंचतत्त्व को पूजते थे। वे मंदिर बना कर अग्नि-देवता का पूजन करते। इस प्रकार वे प्रकृति के उपासक थे। मीडिलोग मूर्ति-पूजन नहीं करते और न मानव के सद्धर्मी देवताओं के अस्तित्व ही में विश्वास करते थे।

प्राचीन ईरानी समाज में ऐसी कुछ रीति-रस्में प्रचलित थीं जो हमारी आँखों में खटकती हैं। समाज में बहु-विवाह की प्रथा प्रचलित थी। संपन्न व्यक्ति ब्याही हुई स्त्रियों के अतिरिक्त रखेलियाँ रख लेते थे। इस प्रथा का व्यापक प्रचार था। शासक के हरम में हजारों की संख्या में नाचने-गाने

वाली रखेलियाँ पाली-पोसी जाती थीं। अरबेला के युद्ध के बाद सिकन्दर के सेनापति पारमियो ने दारा के शिविर में इस प्रकार की ३२६ स्त्रियाँ, २७७ रसोइए, ४६ बाल सँवारने वाली और ४० गंधियों को पकड़ लिया था। युद्ध क्षेत्र में स्त्रियों को ले जाने का यह परिणाम था। खसरो द्वितीय की ३००० रखेलियाँ थीं। इनकी सेवा टइल के लिए १२,००० दास-दासियाँ थीं। प्रधान बेगम की उपाधि सुलताना थी। सगे-प्यारों में प्रायः वैवाहिक संबन्ध जोड़ा जाता था। भाई-बहन से विवाह कर लेता। कामबीसेज़ ने सगी बहन से विवाह किया था। अगम्यागमन से ईरानी हिचकते नहीं थे। भगिनी-दूषण और मातृ-गमन मामूली बात थी। यशस्तिलक में भी इसका उल्लेख है।^१ प्राचीन ईरानी समाज में परदे की रीति-रिवाज बहुत कठोर नहीं थी। सजातीय संसर्ग का बहुत प्रचार था बेन्दियाद में इस प्रथा की बड़ी निन्दा की गयी है। कहा गया है कि अहरिमन् ने इस प्रथा को चालू किया था तथा इस पाप का प्रायश्चित्त नहीं।

उत्सवादि—

सद-उत्सव—अग्नि का आविष्कार करने के बाद राजा हयोश्यंघ ने इस उत्सव को चालू किया था। प्रतिवर्ष कई दिनों तक समारोह के साथ यह उत्सव मनाया जाता है। रात को अग्नि-मंदिर दीयों से सजाया जाता है।

नव-वर्ष—उत्तरायण के दिनों जब सूर्य मेष राशि में पैठता है, तब कई दिनों तक यह उत्सव मनाया जाता है। इस प्रसंग में धार्मिक कृत्यादि, पान-भोजन और हो-हल्ला किया जाता है।

मिहरगन्—जब अनायों की अधीनता से आयों को छुटकारा मिला, तब उस महत्त्व पूर्ण घटना की स्मृति में यह उत्सव मनाने की रीति चला निकली। राजा थ्रूटाओना ने पहले यह प्रचलित की थी। यह उत्सव ३० दिन तक चालू रहता था। इस प्रसंग में मेला लगता था, जिसमें शासक भी सम्मिलित होता था।

^१मातृगामिन्ः पारसिकाः ।

इनके अतिरिक्त कई देवोत्सव, मृत्यु-वार्षिकी, ऋतु-परिवर्तन तथा जातीय जीवन की मुख्य-मुख्य घटनाएँ उत्सव के रूप में मनाया जाता है। उत्सवों के दिन लोग काम-धंधा नहीं करते और छुट्टी मनाते हैं। देहाती लोग नगरों में चले आते हैं। समारोह के साथ धार्मिक कृत्यादि, पंगत प्रभृति कई दिनों तक चलती रहती है। अंतिम दिनों में खेल-कूद, दौड़-धूप, कुश्ती इत्यादि होती है।

ऋतु-परिवर्तन से संबद्ध उत्सव—साल भर में छह ऐसे उत्सव मनाये जाते हैं। प्राचीन काल में इन उत्सवों में सबकी उपस्थिति अनिवार्य थी। खर्चा निभाने के लिए सब कोई चंदा देते थे। प्रत्येक उत्सव पाँच दिन तक चालू रहता था। प्रारंभ में पुरोहित लोग धार्मिक कृत्यादि करते थे। अंत में सामूहिक भोजन होता था।

मिथूरा उत्सव—दक्षिणायन की समरात्रि के समय छह दिन तक मनाया जाता था। राजा थूटाओना ने पहले पहल यह उत्सव चालू किया था।

जलोत्सव—पर्याप्त जल प्राप्त करने के लिए यह उत्सव मनाया जाता था। मैनुचिथू ने पहले पहल यह उत्सव मनाया था। फिर जल-देवी अनहित के सम्मान में आवोन महीने में दूसरा जलोत्सव होता था।

मनोरंजन के साधन—

ईरान के शासक लोग वास्तु-विद्या के बड़े प्रेमी थे। अभी तक परसि-पोलिस्, सूसा, सर्विस्तान, फीरूज़ाबाद, टेसीफोन, मशीता प्रमुख नगरों में उनके बनाये हुए महलों के टूटे-फूटे खंडहर देखने में आते हैं। कहीं-कहीं समूचा राजमहल ज्यों का त्यों खड़ा है। इनके विशाल कमरे छोटे-छोटे खंभों, मेहराब वाले ताक, कार्निस् और कामदार डोरियों से सजे हुए हैं। भीतरी भाग चूने के काम, रंगावट और गिलट से शोभित हैं। खिड़की, कपाट और ताकों के चारों ओर वे बेल बूटी के काम हैं।

प्राचीन ईरान में मूर्ति-निर्माण कला की चर्चा होती थी। अभी

तक इधर उधर कुछ मूर्तियाँ देखने में आती हैं। इनमें सलग चट्टान को काट कर सपोर प्रथम की २० फुट ऊँची मूर्ति की सब कोई सराहना करते हैं।

ऐसा लगता है कि प्राचीन ईरान में चित्रकारी की चर्चा कम होती थी। कम से कम अभी तक कोई निदर्शन नहीं मिला। चित्रकारी के स्थान में ईरान के लोग भीतों पर चित्र खोद देते अथवा चूने से उभरे हुए चित्र बनाते थे। ऐसे कुछ चित्र अभी तक देखने में आते हैं। परन्तु वे सब अधिकतर भद्दे और कुरूप हैं। भीत पर खुदे हुए एक विशाल चित्र में दिखाया गया है कि शाहंशाह सापोर के आगे रोम का सम्राट् वालेरियन् घुटने टेक कर आत्म-समर्पण कर रहा है। कुल मूर्तियाँ मानव की स्वाभाविक ऊँचाई की तीन गुनी हैं। शापुर के एक चित्र में दर्शाया गया है कि सापोर के आगे रोम से आये हुए कुछ दूत भेंट प्रस्तुत कर रहे हैं। बरहन् चतुर्थ (३८८-६६ ई०) चित्तेरों को प्रोत्साहन देता था। इनके अतिरिक्त परसिपोलिस् के नख्श-इ- रस्तम, फीरुज़ाबाद, शापुर प्रभृति के महलों की भीत पर युद्ध के कई दृश्य खुदे हुए हैं।

पशु-युद्ध—

साइरस के पुत्र कामबिसेज़ के बारे में एक कहानी सुनने में आती है। उसने अपने सगे भाई स्मरडीज़ को षडयंत्र रचने के अपराध में मरवा डाला। दुखी माता ने इस पर आत्महत्या कर ली। फिर शाह ने सगी बहन से विवाह कर लिया। एक दिन शाह और सुलताना एक साथ बैठ कर पशु-युद्ध निहार रहे थे। सिंह के साथ कुत्ते की लड़ाई हो रही थी। भरसक प्रयास करने पर भी कुत्ता सिंह के आगे दबता ही जाता था। अखाड़े से कुछ दूर उस कुत्ते का भाई ध्यान लगा कर यह युद्ध देख रहा था। निदान जब सिंह कुत्ते को ले ही बीतने वाला था, तब उसका भाई बरजोरी बंधन तोड़ कर अखाड़े के भीतर कूद पड़ा और दोनों कुत्तों ने मिल कर सिंह का वध कर दिया। यह तमाशा देख कर कामबिसेज़ खिल-खिलाकर हँसने लगा, किन्तु सुलताना बिलख-बिलख कर रोने लगी। पूछे जाने पर वह बोली—“जानवरों में भी जिस आतृ-प्रेम की कमी नहीं, कितने दुख की

बात है कि मानव उसे बिलकुल मिटा दे सकता है !” उत्तर सुन कर शाह झेंप कर अपना सा मुँह लेकर रह गया ।

सुरापान

कहा जाता है कि यिम् राजा ने सुरा का आविष्कार किया था । यिम् अहुर मज़दा का पैगम्बर था । ज़श्न वा यज्ञ करते समय बड़ी श्रद्धा के साथ प्राचीन ईरान के पुरोहित लोग हज्रोम वा सोम पान करते थे । दो प्रकार के मद्य बनते थे—मधु और हुरा वा सुरा । पंगत के अवसर पर सुरा का उपयोग होता था । शाहनामा के अनुसार राजभवन में प्रीतिभोज, खेल कूद की प्रतियोगिता, आखेट तथा मन-बहलाव के जमावड़ों में सुरा का बहुत उपयोग होता था । ऐसे अवसरों पर साज सजावट कर प्याले भरने वाले छोकरे खाली प्याले भरते फिरते थे । सुरा या तां पानी मिला कर अथवा रूखी पी जाती थी । रुस्तम प्याला भरने वाले को पानी न मिलाने का निर्देश देता है । प्याले लाल, स्फटिक, संगमरमर इत्यादि के बनते थे । ससनीद काल में भोजन करते समय सामान्यतः सुरापान करने की प्रथा थी । उत्सवों के दिनों वार-वार नहीं रहने पाता । अधिकतर पुरानी सुरा पीने की चाल थी ।

जुआ

अकमीयन काल में शाह लोगों बेगमों किंवा सगे-संबंधियों के साथ प्रायः जुआ खेलते थे । हजार अशर्कियाँ, दास-दासियाँ और हिजड़े बाजी पर रखे जाते थे ।

आखेट

भीत पर खुदे हुए चित्रों से प्राचीन काल में जिस रीति से ईरान में शिकार खेला जाता था, उसके रंग-ढंग का पता चलता है । एक चित्र में दिखाया गया है कि खुसरो जंगली सूअर और हिरनों का पीछा कर रहा है । शाह के पीछे पीछे १२ बुड़सवार दौड़ रहे हैं । तख्त-ई-बोस्ता के चित्र में शाह के अतिरिक्त कुछ हाथी और १०/१२ पैदल हैं । आखेट के समय गवैये-बजवैये लोग अपनी कला प्रदर्शित कर शिकारियों का मन बहलाते थे ।

सूअरों का शिकार करते समय हाथियों से हंकवों का काम लिया जाता था। इनके अतिरिक्त कुछ लोग थपोड़ी पीट पीट कर जानवरों को चारों ओर से घेर कर शिकारी के सामने लाते थे। शिकार किये हुए सूअर राज-भवन में भेजे जाते थे।

बाज़ के द्वारा भी शिकार की प्रथा थी। इस विभाग की देख रेख करने के लिए एक विशेष कर्मचारी होता था। उसकी उपाधि सरदार-इ-शिकरे-बाज़ थी।

गीत-वाद्य

वाद्य-मंत्रों में बीन्, सींग, ढोलक, खंजरी और बांसुरी का उपयोग होता था। कभी कभी एकतान वाद्य भी किया जाता था। इसमें २०।२५ बीन्कार तक भाग लेते थे। गाने-बजाने वालों को अलग वेदी पर बैठाया जाता था।

खेल-कूद

शाहनामा का कथन है कि उत्सवों के अवसर पर दौड़ की प्रति-योगिता, घुड़ दौड़, कुश्ती, माला फेंकना, पत्थर फेंकना, तैराकी, धनुर्विद्या में पारदर्शिता और पोलो का खेल होता था। ईरान में पोलो बड़ा लोक-प्रिय खेल था। यहां तक कि महिलाएँ भी इस खेल में कार्यतः भाग लेती थीं। निज़ामी का कहना है कि खुसरो परवेज़ की सुलताना शिरीन बराबर पोलो खेलती थीं। उच्चकुल की महिलाएँ धनुर्विद्या और माला चलाने में भी कुशल होती थीं।

खुसरो नौशेखाँ के राज्यकाल में भारत से चतुरंग वा शतरंज ईरान में पहुँचा। चतुरंग के बारे में एक मजेदार कहानी सुनने में आती है। कहा जाता है कि दीवसारम् नामक एक भारतीय सामंत राजा ने नियत करके साथ यह खेल ईरान भेजा था। साथ ही उसने चुनौती दी थी कि ईरान के दरबारी या तो यह खेल खेल कर नियत कर अपनायें और यदि कहीं वे हार गये तो शाह को उतनी रकम राजा को देनी होगी। कहा जाता है खुसरो के प्रधान वज़ीर अनायास बाज़ी मार ले गया।

ईरान में आकर्षक क्रीड़ा का नाम बिन-इ-अरतखशिर पड़ा। यह खेल लकड़ी के बने हुए फलक पर ३० गोटियों से खेला जाता था। गोटियाँ आगे और अगल बगल हटायी-बढ़ायी जाती थीं तथा मारी भी जाती थीं। जब तक एक पक्ष की कुल गोटियाँ मारी न जाती थीं, तब तक खेल चालू रहता था।

किस्से-कहानी

इन्हीं दिनों प्राचीन पहलवी भाषा में संस्कृत पंचतंत्र का अनुवाद हुआ था। मूल पहलवी ग्रंथ आजकल मिलता नहीं। परन्तु इसका सीरिया-क् (स्याम देश की भाषा) और अरबी अनुवाद अभी तक देखने में आता है। सीरियाक अनुवाद का नाम “कलीलग और दमनग” और अरबी में “कलीलह और दिमनह” पड़ा है। सीरियाक में ५७० ई० के लगभग अनुवाद हुआ था और अरबी में ७६० ई० के लगभग। मध्य काल में “कलीलग और दमनग” का भाषान्तर यूरोप की कई भाषाओं में हुआ। यूरोप में उसका नाम “बिदपई वा पिलपे की कहानियाँ” पड़ा। पंचतंत्र की विशिष्टता यह है कि मूल कहानी की ठठरी में बहुत सी छोटी-बड़ी कहानियाँ खपा दी गयी हैं। आगे इसकी देखा देखी “आख्य रजनी” प्रमुख ग्रंथों की रचना हुई।

जशन और जलसे

समय समय पर गृहस्थों के घर में जशन और जलसे होते थे। ऐसे जमघटों में नर्तकी के अर्थ-पूर्ण हाव-भाव, शिराजी की उग्र गंध और कुरुचि-पूर्ण संगीत के आगे स्त्रियों का पर्दा फाश हो जाता, घूँघट अपने आप नीचे गिर जाता और लज्जा-संकोच हवा हो जाता। तब घर के सदस्य और निमंत्रित अतिथियों की वय, लिंग और श्रेणी का व्यवधान आनंद के भंवर में घुल मिलकर मिट जाता और निर्वाध भेद-विचारहीन व्यभिचार होने लगता। रात रात भर जशन चालू रहते थे। पौ फटने पर नशे में चूर और व्याभिचार से क्लान्त हो कर स्त्री-पुरुष हाथी-दांत और चाँदी के बने हुए पलंगों पर दुलक पड़ते थे। उपयुक्त विवरण मेक्रोवियस का है। प्लूटार्क

इस उक्ति का समर्थन करते हुए लिखता है कि “पार्थीय लोगों का अनुकरण करने में ईरानी बड़े तत्पर हैं। आँखें बंद कर वे नृत्य-गीत और सुरापान के व्यसनो में जुट जाते हैं।”

मिस्र

इतिहास के लेखक की दृष्टि में प्राचीनता के विचार से सुमेर और बेबीलोन से यद कोई पाश्चात्य देश टकर ले पावे, तो वह है मिस्र। असीरिया वालों ने पहले पहल इस देश का नाम “मुसर” रखा, हिब्रू लोग इसे “मिजराइन” कहते थे, आगे अरब वालों ने इसका नाम “मसर” दिया। प्राचीन मिस्र का क्रमबद्ध इतिहास लगभग ईसा पूर्व ३००० से आरंभ होता है, और खलीफा ओमर के राज्यकाल में जब उसे अरब वाले उड़ा ले गये (६४२ ई०) तब वह समाप्त होता है। इस लंबे समय के बीच मिस्र ने भाग्य-परिवर्तन के बड़े बड़े खेल देखे। दलबल समेत कितने बिजयी वीरों ने उसके एक छोर से दूसरे छोर तक कुछ दिनों के लिये तहलका मचा दिया। किन्तु मिस्र ने उनके प्रति तटस्थता की नीति अपनायी। बारी बारी से आक्रमणकारियों की लहरें टकराती गयीं, परन्तु मिस्र का आधार्मिक सिद्धान्त, उसकी प्राचीन संस्कृति, बहुत दिनों तक ज्यों की त्यों बनी रही। उसमें विशेष कुछ फेर बदल न होने पाया।

प्राचीन मिस्र के इतिहास को कई छोटे छोटे पर्वों में विभक्त किया जा सकता है। प्रागैतिहासिक थिनाईट युग (ईसा पूर्व ३०००-२७८०) में दो राज-वंशों ने शासन किया। प्राचीन पर्व (ईसा पूर्व २७८०-२०००) में तीसरे से छठे, चार राजवंश हो गये। मध्यकाल (ईसा पूर्व २०००-१६५०) का पहला राजवंश बारहवां था। छठे से ग्यारहवें राजवंश का इतिहास

* मेर्बेजी- मीप्स एण्ड लीजेण्डस्; मोरेट-नाईल एण्ड ईजिपशियन् सिविलिजेशन; मरसर ईजिपशियन् रिलिजन; केम्ब्रिज एन्शेन्ट हिस्ट्री; एडलफ अरमान लाइफ इन एन्शेन्ट ईजिप्ट; मास्पेरो-पापुलर स्टोरीज़ आफ एन्शेन्ट ईजिप्ट इत्यादि पर आधारित।

उपलब्ध नहीं। फिर तेरहवें से सतरहवें राजवंश का इतिहास भी मिलता नहीं। ईसा पूर्व १६५० के लगभग मिस्र पर हिक्सोस नामक एक पंच-मेल जाति ने चढ़ाई कर दी। निदान सतरहवें राजवंश के अहमोज (१) ने उन्हें मार भगाया (ईसा पूर्व १५५५)।

१८ वें राजवंश से साम्राज्यवाद के युग का प्रारंभ होता है। २१ वें राजवंश का नींव डालनेवाला हेरिहोर नामक एक पुरोहित था। २२ वें २५ वें राजवंश के शासक मुख्यतः विदेशी थे। २६ वें राजवंश (ईसा पूर्व ६६३-५२५) के शासकों ने मिस्र का प्राचीन गौरव लौटा लाने का भरसक प्रयत्न किया। ईसा पूर्व ५२५ में ईरान के शाह कामबिसेज़ ने मिस्र जीता। २७ वां राजवंश ईरानियों का था। आर्टाज़र्कसीज़ (३) के शासन काल में मिस्र स्वतंत्र हो गया। २८ वें से ३० वें राजवंश के सब शासक मिस्री थे। ईसा पूर्व ३४१ में ईरानियों ने फिर उसे जीता। निदान ईसा पूर्व ३३२ में मिस्र सिकन्दर का हाथ लगा। सिकन्दर के उत्तराधिकारी यूनानी टालेमी राजवंश के शासकों ने ईसा पूर्व ३० तक राज्य किया। इन दिनों मिस्र के बीते हुए सुनहरे दिन फिर से लौट आये। इसके बाद मिस्र रोम साम्राज्य में सम्मिलित हो गया। ६४२ ई० में अरब वालों का उस पर अधिकार हो गया।

प्राचीन मिस्र का इतिहास लिखते समय नियत तिथियों पर बल न देकर राजवंशों का उल्लेख करने की रीति है। थिनाईट काल का पहला शासक मिनेज़ (ईसा पूर्व ३०००) था। वह अपने को होरस् का वंशधर मानता था। मिस्र में शासक लोग नर-रूपी होरस् माने जाते थे। प्रारंभ में मिनेज़ केवल उत्तरी भाग का शासक था; आगे उसने दक्षिणी भाग को भी जीता। उसने थिनिस् को राजधानी बनाया। थिनिस् एबिडोस के पास ही था। एबिडोस ओसिरिस् का प्रधान स्थान था। मिनेज़ ने मेम्फिस नगर बसाया। वह प्टाह का स्थानक बना। बगल ही में हेलिओपोलिस् नामक विद्या-केन्द्र था। तीसरे राजवंश के शासन-काल में वहां के विद्वानों ने वैज्ञानिक ढंग से पंचांग का संकलन किया था। मिनेज़ का विवाह लीबिया की राजकुमारी से हुआ था। इस

प्रकार होरस् जन-जाति के साथ लीबिया वाले घुल मिल गये। तभी से उनके त्रिदेव ओसिरिस, नीथ और होरस् बने। नीथ आइसिस की रूपान्तर मानी गयी। मिनेज़ के मरने पर अह को गद्दी मिली। उसने कई एक नहरें खुदवायी थीं। देन् के शासन काल में फायूम प्रान्त की उन्नति की गयी। जंगल काट कर बस्तियाँ बसायी गयी, नहरें निकाली गयीं और खेती बारी को प्रोत्साहन दिया गया। थोड़े ही दिनों में वह प्रान्त हरा भरा बन गया।

तीसरे राजवंश का पहला शासक जोसर था। वह जैसा वीर योद्धा था, वैसा ही भारी निर्माता था। उसी ने सक्करह का स्टेप् पिरामिड बनवाया था। उसका सचिव इमूहोटेप था जो कुशल वैद्य और निपुण स्थपति था। आगे वह मिस्रियों का एक देवता बन गया। स्नफेरु बड़ा उत्साही शासक था। उसने सिनाई पहाड़ की तलहटी में स्थित ताँबे की खानें जीतीं। लेबानोन से देवदारु की लड़की मँगवा कर उसने जहाज बनवाये जो क्रीट और स्याम देश के साथ व्यापार करते थे। नुबीया प्रान्त की गड़बड़ी दबाने के बाद उसने एशियाई जन-जातियों का आक्रमण रोकने के लिए सीमा पर कई गढ़ बनवाये। उसने कई मन्दिरों के अतिरिक्त दो पिरामिड बनवाये। इन में मीडम् का पिरामिड प्रसिद्ध है।

खूफू महान् ने चौथे राजवंश की नींव रखी। उसका बनाया हुआ गिज़ोह का परामिड अनुपम माना जाता है। इसके अतिरिक्त खूफू ने तीन और पिरामिड बनवाये थे। खूफू का पुत्र खफ़रा था। खफ़रे और उसके बेटे मेनकन ने दो अलग पिरामिड बनवाये थे।

अमेनेम्-हेट (१) से बारहवें राजवंश का आरंभ होता है। वह प्रारंभ में मेन्टु होटेप का वज़ीर था। कठोरता की नीति अपना कर उसने उपद्रवी सामंतों को दबाया। उसीने पहले पहल अमोन को पूजने की प्रथा चालू की थी। इसके साथ साथ वह ओसिरिस, प्टाह और वास्त देवी को भी मानता था। उसने उद्योग-धंधे बढ़ाये, खेती-बारी को प्रोत्साहन दिया और पुरोहितों को हाथ में करके सामंत प्रथा का अंत कर दिया।

इस प्रकार केन्द्रीय सरकार को शक्तिमान् बनाकर अमेनेम्-हेटने देश

के भीतरी भागों में शान्ति स्थापित की। चोर-डाकू कुचल दिये गये, खेती-बारी को प्रोत्साहन मिला, व्यापार की वृद्धि हुई, नहरें निकाली गयीं और अकाल से टक्कर लेने के लिये अनाज सरञ्चित किया गया। उधर सामंत शाही के विलुप्त होने के कारण धन का वितरण उचित ढंग से होने लगा।

अमेनेम्-हेट (३) इसी राजवंश का छठा शासक था। वह बड़ा कार्य-कुशल और प्रजा-पालक शासक था। उसे फायूम प्रान्त का विस्तीर्ण दल-दल छान कर ७५० मील क्षेत्र-फल को मीरिस भील बनवायी। सिनाई प्रान्त के ताँबे की खदान के पास एक नयी बस्ती बसाई गयी। एवीडोस में ओसिरिस और करणक में आमोन के विशाल मन्दिर बने। मीरिस भील के समीप उसने प्रकांड एक भूल-भूलैयाँ बनवायी थी। हिरोडोटस् ने इसका विशद वर्णन किया है। उसका कहना है कि यूनान की कोई भी इमारत इसकी बराबरी नहीं कर सकती। इसके १२ प्रशस्त आंगन थे, जो ऊपर से ढंके हुए थे। अगल-बगल विशाल चार-दिवारी थी। इसमें तीन हजार कमरे थे। इनकी छत और फर्श संगमरमर के बने हुए थे और भीतों पर नाना प्रकार की नक्काशी के काम थे। भूल भूलैयाँ के एक छोर में फारो का बनाया हुआ एक भव्य पिरामिड था। हिरोडोटस् की सम्मति है कि पथ-प्रदर्शक न रहने से न तो कोई इसमें घुस सकता और न कोई बाहर ही निकल सकता। बारहवें राजवंश की अंतिम शासक सेवेक-नफ्रु-रा थी। वह अमेनेम्-हेट (३) की पुत्री थी।

बारहवाँ राज-वंश २०० वर्ष तक चालू रहा। इस काल में आध्यात्मिक और सांस्कृतिक चहल-पहल बहुत थी। कला-कौशल की विशिष्टता यह थी कि वे प्रिय-दर्शन, सुष्ठु, भव्य और रचि-संगत थे। राजधानी थीबस् थी। इन्हीं दिनों घड़ियालों के देवता सेबेक को पूजने की प्रथा-चल निकली। फायूम प्रान्त में मगर-नगर उसका केन्द्र बना। वह धरती माता नीथ का “पुत्र-पति” था। थीवस् में उसकी एक मूर्ति मिली है। इसका मुँह मगर जैसा है। इसी समय यूसर्ट देवी का भी आविर्भाव हुआ। वह आईसिस् और नीथ की अवतार मानी गयी। अमेनेम्-हेट और सेनुसर्ट के

पिरामिडों में सुन्दर सुन्दर गहने मिले हैं। इनकी बनावट अनुपम है। इन दिनों काव्य साहित्य के अतिरिक्त कथा-साहित्य की रचना हुई। मिस्री कवि लोग एक ही शब्द को भिन्न-भिन्न अर्थ में उपयोग करने में बड़ा रस लेते थे। सब विषयों पर विचार कर ऐतिहासिकों ने इस युग का नाम स्वर्ण-काल दिया है।

लगभग ई० पू० १७८८ में तेरहवें राजवंश का आरंभ हुआ। ईसा पूर्व १६५० के लगभग हिकसोस जाति ने मिस्र पर चढ़ाई कर दी। धीरे धीरे सारा देश पर उनका अधिकार हो गया। केवल थीबस् उनका लोहा लेता गया। निदान सतरहवें राजवंश के अंतिम शासक अहमोस प्रथम ने उनको निकाल बाहर किया। तेरहवें से सतरहवें राज वंश के शासन-काल का इतिहास उपलब्ध नहीं। अतः मिस्र के इतिहास का यह दूसरा अंधेर खाता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि हिकसोस पंच-मेल जाति था। इनमें कुछ उपजातियाँ तो मातृ-प्रधान थीं और कुछ पितृ-प्रधान। इन जातियों के सम्मेलन का सजग प्रतीक कपाडोशिया और साइलीशिया के चट्टानों पर खुदे हुए कुछ चित्र हैं, जिनमें महामाथी के साथ जगत्-पिता के विवाह का दृश्य खुदा हुआ है। ऐसा लगता है कि इन मिली जुली जातियों पर हिटाईट लोगों की तूती बोलती थी। हिटाईट जाति का आराध्य देवता पम्पास वा एटिस् (पिता) मिस्र में पहुँचते ही सुतेख बन गया। प्रारंभ में वह आकाश-देवता था। वह आँधी-तूफान की सृष्टि करता। आगे वह रण-देवता बना। उसके माथे पर बकरे के सींग थे। ये सृष्टि-तत्त्व के प्रतीक थे। हिकसोस लोगों का प्रमुख देवता सुतेख बना। इटशेप्सुट आह भरते हुए कहती है कि “उन्होंने मंदिर ढहा दिये और रा (सूर्य) भगवान की पूछ-ताछ न रहने पायी”। कहा जाता है कि मिस्र में पहले पहल घोड़ों का उपयोग हिटाईटों ने किया था। विदेशियों का शासन होने पर भी देश में शान्ति थी। व्यापार और खेती-बारी को प्रोत्साहन मिला तथा इयानियास जैसे प्रगति-शील शासक भी हो गये।

अठारहवें राजवंश के सिंहासनारूढ़ होने (ईसा पूर्व १५५५) के साथ साथ साम्राज्यवाद का आरम्भ होता है। इन दिनों मिस्र की गिनती संसार की सार्वभौम शक्तियों में होने लगी। थोथमीज़ प्रथम ने न्यूबिया जीत कर स्याम पर चढ़ाई कर दी। इससे बृहत्तर मिस्र का विस्तार “सूर्य की गति के ओर-छोर”—अर्थात् नील से फरार तक—हो गया। उसने दुष्टों का दमन कर और कदाचार का अंत कर देश के आर पार शान्ति स्थापित की। उसके मरने पर महारानी हट्शेपसुट् को गद्दी मिली। वह उसकी पुत्री थी। वह अतीव कुशल और अनुभवी शासक निकली। यहाँ तक कि लोग उसे होरस् का स्त्री-अवतार मानते थे। दरबार करते समय वह नकली दाढ़ी पहन लेती थी। उसने पुराने मंदिरों की मरम्मत करवायी, दर-अल-बहरी का विशाल मंदिर बनवाया और करणक मंदिर में दो लाटें स्थापित कीं।

थोथमीज़ तृतीय ने स्याम के उपद्रवियों को कुचल दिया। फिनीशिया की तट-भूमि पर चढ़ाई करके उसे तहस-नहस कर दिया तथा हिटाईट और मिटानी उपजातियों को नीचा दिखाया। दूर दूर के देशों से भेंट-नज़र और कर आने लगे। व्यापार का प्रसार हुआ। साइप्रस, क्रीट और फिनीशिया के साथ व्यापारिक संबंध स्थापित हुआ। शासक स्वयं कलाकार था। अवकाश मिलते ही वह फूलदानियाँ पर सुन्दर सुन्दर चित्र उरेहा करता था। वह आमोन, रा, प्टाह, हाथोर प्रमुख देव-देवियों को मानता था। ईसा पूर्व १४४७ में वह परलोक सिधारा।

आमेनहोटेप तृतीय (ईसा पूर्व १४११-१३७५) की साज-सजावट और चमक-दमक के लिए इतिहास-कारों ने “महिमावान्” की उपाधि दी है। उसके शासनकाल में अखंड शान्ति विराजती थी। राजा आखेट का बड़ा प्रेमी था। उसने १०२ सिंह और अनगिनत जंगली पशुओं को मारा था। ऊपर कहा जा चुका है कि वह साज-सिंंगार और तड़क भड़क का भारी भूखा था। थीब्स में नील नदी के किनारे उसने एक विशाल महल बनवाया था। उसकी भीतों पर सजग चित्र बने हुए थे। महल के चारों ओर विस्तीर्ण बगीचे थे जो शोभा-संपदा में नन्दन-कानन को भी मात कर देते थे। बगल

में ही एक लम्बी चौड़ी झील थी। कभी कभी आमेन्होटेप सपत्नीक उसमें नौका-बिहार के लिये चला जाता था। रानी की सहेलियाँ डाँड़ खेते हुए गीत गाती थीं और डूबते हुए सूर्य की सुनहरी किरणों ईश्वर के आशीर्वाद की तरह उनके मुख मंडल को जगमगाती रहती थीं। महारानी टाई बड़ी विदुषी और बुद्धिमती थी। यद्यपि वह राजघराने की नहीं थी, फिर भी वह पटरानी बनायी गयी थी। सरकारी दस्तावेजों में प्रायः दोनों के नाम एक साथ पाये जाते हैं। महारानी विद्वान् दार्शनिकों का संग करती थीं। धीरे-धीरे वह हेतुवादी और यथार्थवादी बन गयी। इस लिये आमोन के दकियानूसी पुरोहितों से उसकी बनती नहीं थी। महारानी की पृष्ठपोषकता मिलते ही कलाकार गतानुगतिक ढंग छोड़ कर प्रकृति का अनुकरण करने लगे। आमेन्होटेप के अंतिम दिन सुखमय न थे। कई साल तक वह अस्वस्थ रहा। टाई देवी राज-कार्य संभालती रहीं। संभवतः इन्हीं दिनों रानी ने आमोन के पुरोहितों का राजनीतिक प्रभाव मिटाने के लिये ठोस कदम उठाया था।

आमेन्होटेप के मरने पर उसका एक मात्र पुत्र आमेन्होटेप चतुर्थ को गद्दी मिली (ईसा पूर्व १३७५)। तब वह १४ वर्ष का किशोर था। उसका विवाह मितानी-राज तुषरत की पुत्री तुदुहिन्ना से हुआ था। उसी ने पहले पहल सेद्-उत्सव चालू किया था। वह भारी आदर्शवादी सुधारक था और सदैव अपने प्रतिद्वंद्वियों से लोहा लेता गया। उसने मूर्ति-पूजन और बहु देवता की अर्चा छोड़कर एटोन वा सूर्य भगवान् की उपासना करने पर बल दिया। इसलिये आमोन के दकियानूसी पुरोहितों से उसका मेल न बैठा। राजधानी थीबस् से हटा कर उसने अखेनटोन (आजकल तेल-एल-अमरना) बनाया। इसी समय उसने अखेनटोन की उपाधि ले ली। नयी राजधानी को उसने शानदार महलों और भव्य मंदिरों से खूब सजाया। वह सूर्य भगवान् का चित्र पूजता था। इससे निकलती हुई किरणों के छोर पर हाथों की पंक्ति थी। उसके कहने का आशय यह था कि सूर्य भगवान् हमारे पिता और माता दोनों हैं। पिता के रूप में वह जीवों का सर्जन करते और माता के रूप में वह सारे संसार का पालन-पोषण करते हैं।

परन्तु यह पंथ पुराना ही था। अखेनाटोन का श्रेय इतना है कि उसने फिर से उसे चालू किया। उसने अहिंसा मत को अपनाया था। स्याम प्रमुख दूर दूर के प्रान्तों में उपद्रव होते रहे। शासक ने उन्हें दबाने का प्रयत्न नहीं किया। फिर भी मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि अखेनाटोन के शासन-काल में शान्ति थी। ऐसा लगता है कि जब उसने एटोन पंथ को सार्व-जनीन बनाने की चेष्टा की, तब पुरोहितों के उकसाने से जनता बिगड़ खड़ी हुई। इस गड़बड़ी के बीच वह आदर्शवादी नरेश इह लोक से चल बसा (ईसा पूर्व १३४६)। तब उसकी आयु कुल ३० वर्ष थी।

अठारहवें राजवंश का अंतिम शासक होरेम हेब था। उसने दूर-दूर के सूत्रों में शान्ति स्थापित की तथा प्राचीन पंथी अमोन की पुरोहित-मंडली को मना लिया।

२५० वर्ष तक अठारहवाँ राजवंश चलता रहा। बहुतों का कहना है कि अखेनाटोन के धामक सुधारों के कारण साम्राज्य का पाया हिल उठा। रामेसिस् प्रथम से उन्नीसवें राजवंश का आरंभ हुआ। उसका पुत्र सेति प्रथम कुशल योद्धा था। उसने न्युबिया, तथा स्याम तक अपना दबदबा स्थापित किया और हिटाईटों को पछाड़ा। सेति ने पुराने मंदिरों की मरम्मत करवायी, एबोडोस में ओसिरिस का मंदिर और थीवस् में खंभेदार सभा-गृह प्रभृति बनवाये। ईसा पूर्व १२६२ में वह परलोक सिधारा। उसका पुत्र रामेसिस् द्वितीय था। उसने ६७ वर्ष तक शासन किया। हिटाईटों को कई बार हरा कर उसने फिनीशिया और फिलिस्तीन जीता। ईसा पूर्व १२७१ में उसने हिटाईट-राज से संधि कर ली और उसकी बेटी को ब्याहा। न्युबिया पर मिस्र का रोब-दाब भली भाँति जमाया और बहुत से मंदिर बनवाये। वह आइसिस्, नीथ प्रमुख देवियों को पूजता था। उसका हरम नाना देश की सुन्दरी रमणियों से ठसाठस भरा रहता था। उसको इस बात का भारी अभिमान था कि उसके सौ बेटे और बहुतेरी बेटियाँ थीं। ईसा पूर्व १२४३ में उसका दम छूटा। रामेसिस् के मरने पर सेति मेना-प्टाह को गद्दी मिली। उसके राज्य काल में विदेशी सेन्याध्यक्षों की बहुत चलने

लगी। उसके मरने के बाद चारों ओर गड़बड़ी फैल गयी और अकाल तथा महामारी ने देश को छा लिया।

बीसवें राजवंश के शासन-काल में अमोन-रा के पुरोहितों की खूब चलने लगी। वे वज़ीर, न्यायाधीश, कोषाध्यक्ष प्रभृति कुल उच्च पद दबा बैठे। निदान ईसा पूर्व ११६० में महापुरोहित हेरि होर रामेसिस् द्वादश को गद्दी पर से हटा कर स्वयं शासक बन बैठा। फिर चारों ओर अँधेर मच गया; डाकुओं की टुकाड़ियाँ लूट पाट करती फिरती थीं; सम्राध-मंदिरों पर छापा मार कर वे कीमती साज-सामान पर हाथ साफ करने लगे, धोखेबाज कर्मचारी लोग उनके साथ जुट गये। नयी कोई भी इमारत नहीं बनी, पुरानी की मरम्मत तक नहीं की गयी।

बाईसवें राजवंश के शासक लीबिया देश के निवासी थे। २०० वर्ष तक वे शासन करते रहे। शेषोंक पहला शासक था। उसने देश के आर पार शान्ति स्थापित की। इस्रायेल के “महामहिम” शासक सुलेमान के साथ पुत्री का विवाह कर उसने डेल्टा प्रान्त को सुरक्षित बनाया। स्वयं टानिस के पुरोहित-राज की बेटी का पाणि ग्रहण कर उसने पुरोहित वर्ग को वश में कर लिया। शेषोंक ने बुवास्टिस् को राजधानी बनाया। बिस्ली-मुखी वास्त उसकी अधिष्ठात्री देवी बनी। इस्रायेल की भीतरी गड़बड़ी की सुविधा लेकर उसने फिलिस्तीन पर चढ़ाई कर दी तथा जरुसलेम को खूब लूटा।

पचीसवें राज-वंश वाले इथियोपिया के रहने वाले थे। पहले शासक शबाका ने मिस्र के आर पार अपना दौर दौरा स्थापित किया था। अंतिम शासक तहरका को हरा कर असीरिया के नरेश अशूर-बनि-पल ने मिस्र जीता (ईसा पूर्व ६५५)। थीबस् लूटा गया और मिस्री देव-देवी गुम हो गयीं। मिस्र असीरिय साम्राज्य का एक प्रान्त बन गया। निदान असीरिया के आपसी झगड़ों से लाभ उठाते हुए और मीडस् वालों को आगे बढ़ते देख सामंतेक ने मिस्र की स्वतंत्रता घोषित की। असीरिया वाले निकाल बाहर कर दिये गये। इन दिनों साईस राजधानी था और नीथ महादेवी

बनी। सामटेक ने तहरका को एक बेटी से विवाह कर सैत युग का आरंभ किया।

इन दिनों मिस्र का प्राचीन गौरव लौटा लाने का भगीरथ प्रयत्न हुआ। सिकन्दर ने सामटेक को सेरापिऊम नामक विशाल मंदिर बनाया। उसमें ओसिरिस का प्रतीक वृषभ का पूजन होता था। सेरापिऊम में शिष्ट मंडल का भारी जमावड़ा होता था। आइसिस् पंथ का फिर से प्रसार हुआ। प्राचीन सब कुछ पावन माना गया। सामटेक ५४ वर्ष तक शासन करता रहा। उसके उत्तराधिकारी नेको ने मीडस् वालों को असीरिया पर अधिकार जमाते देख कर तुरंत फिलिस्तीन को दबोच लिया। परन्तु नेबुकदनज़र ने उसे मार भगाया। नेको ने जहाजी बेड़ा बनवाया और फिनीशिया के निवासियों को अफ्रीका महाद्वीप का चक्कर लगाने के लिये भेजा। वे लाल-समुद्र से रवाना हुए थे और तीन साल के बाद मोरक्को का जलडमरू मध्य पार करके घर लौटे। इस पर सब का विश्वास हो गया कि अफ्रीका महाद्वीप समुद्र से घिरा हुआ है।

सैत वंश के अंतिम शासक एप्रीज़ को हटाकर अमेसिस सिंहासनारूढ़ हुआ (ई० पू० ५६८)। वह निरंतर चैन की बांसुरी बजाता फिरता था। उस ने साईस में नीथ और मेम्फिस में आइसिस के भव्य मंदिर बनवाये। इनके अतिरिक्त प्टाह के मंदिर के आंगन में ७५ फुट ऊँची एक विशाल मूर्ति स्थापित की। उसके अगल-बगल २० फुट ऊँची दो मूर्तियाँ थीं। वह यूनानियों का बहुत पक्षपात करता था। इसलिये अमेसिस लोक-प्रिय न था। उसके दम छूटते ही ईरान के शाह कामबीसेज़ ने मिस्र पर हमला कर दिया (ईसा पूर्व ५२५)। आर्टाज़र्कसीज़ तृतीय के शासन-काल में मिस्र स्वतंत्र हो गया। ईरान के शाह सताईसवें राजवंश के माने जाते हैं। अठाईसवें से तीसवें राजवंश के सब शासक मिस्री थे। ईसा पूर्व ३३२ में सिकन्दर ने मिस्र पर चढ़ाई कर दी। तभी से टालेमी नामक यूनानी राजवंश मिस्र पर शासन करता रहा। ईसा पूर्व ३० में मिस्र पर रोम वालों का अधिकार हो गया। ६४२ ई० में अरब वाले उसे उड़ा ले गये।

इस प्रकार लगभग चार हजार वर्ष तक प्राचीन मिस्र भाग्य-परिवर्तन के सभी पहलुओं का प्रत्यक्ष अनुभव करता रहा। किन्तु उस देश के निवासियों का जातीय चरित्र बिगाड़ने में साम्राज्यवाद का काल तथा यूनान और रोम वालों की पराधीनता के युग का भारी हाथ था। साम्राज्यवाद के दिनों में मिस्र के सम्पन्न लोग सुख-विलास की सुक्रीमल शय्या पर लोट-पोट करते रहे। इसका प्रधान कारण व्यापार के द्वारा और कर के रूप में देश-विदेश से प्रचुर धनागम था। प्राकृतिक साधनों का विकासन, महल-मंदिर प्रभृति बनवाने की धुन और एशिया महाद्वीप के साथ व्यापारिक संबंध स्थापित हो जाने के कारण बेरोज़गारी दूर हो गयी, उद्योग-धंधों का व्यापक प्रसार हुआ तथा समाज में व्यापारी श्रेणी का आविर्भाव हुआ। इस काल के समाधि मंदिरों में चित्रित दृश्यों में प्राचीन काल की सोधी सादी जीवन-यात्रा की झांकी नहीं मिलती। इसके विपरीत प्रायः कीमती वस्त्र पहने और विविध प्रकार के आभूषणों से मढ़े हुए जनवासे की चाल से कदम गिनकर चलते हुए दरबारी दिखाई देते हैं। घर घर में सुख-विलास की सामग्री ठसाठस भरी पड़ी थी। सदैव नृत्य-गीत, सुरापान और हो-हल्ला चलता रहा।

बड़े बड़े नगरों में धनिक वर्ग आकाश को छूने वाले महलों में रहते थे एवं वे प्रायः मित्रों को भोज देते थे। साज-सजावट कर मित्र लोग गाड़ी पर सवार हो और नौकर-चाकरों की पलटन लेकर नियत समय पर वहाँ पहुँच जाते। जब तक अतिथियों का आगमन होता रहता था, तब तक वे एक दूसरे से या तो गप्-शप् करते अथवा किराये के गंधर्वों के नृत्य-गीत का रस लेते थे। निमंत्रित सज्जनों के पहुँचते ही पुरुष और महिलाएँ कुर्सी पर बैठ जातीं। ईशारा मिलते ही नंगी-धड़ंगी दासियाँ फल-फूल, तोड़े, सुगंधि पदार्थ, माला और सुरा ले आती थी। पान-पात्र स्फटिक, काँच, चाँदी और सोने के बनते थे। उन पर नक्काशी का काम होता था। किसी किसी पर रत्न जड़े हुए रहते थे।

भोजन के समय नाना प्रकार के मांस, मछली, पक्षि-मांस, शाक,

फल और मिठाई परोसी जाती थीं। मांस में बैल, बकरे और हिरन, कई प्रकार की मछली और चिड़ियों में हंस, वत्तक प्रभृति का उपयोग होता था। सूअर और भेड़ का गोشت और केंचुए प्रभृति खाने की चाल नहीं थी।

मेम्फाईट काल (तीसरे से आठवें राजवंश) में भी राज-भोग की परिपाटी खासी थी। भोजन करने के पहले शासक पहनावे बदलता, औपचारिक रूप से हाथ-मुँह धोता और साज-सजावट करता था। फिर वह मेज के आगे बैठ जाता। पहले चटाई पर बैठने की प्रथा थी। १४ खानों में सादी और मीठी रोटियाँ रखी रहती थीं। तब प्याज लाया जाता था। प्रारंभ में बैल, बकरे और हिरन के मांस परोसे जाते, फिर हंस, वत्तक प्रभृति पाँच प्रकार के पक्षि-मांस सामने रखा जाता। चार प्रकार के पेय होते थे—दूध, हलकी सुरा, अंगूर का रस और उग्र सुरा। अंत में मीठी रोटी, भाजी और अचार-मुरब्बा आदि परोसा जाता था। देवताओं की तरह राजा भी दिन में पाँच बार भोजन करता था। वह निरंतर सुरापान करता। देवताओं की तरह वह भूख-प्यास से परे था। “पाक साफ जो भी वस्तु अधर देता, धरती पर उगता और नील उत्पन्न करती सब कुछ का उपयोग शासक जीवित रहने के लिये किया करता था”।

भोजन की सामग्री या तो छोटे-छोटे मेज पर रखे जाते थे वा अपनी अपनी स्थिति के अनुसार आमंत्रित लोग कतार लगा कर भोजन करने बैठते थे। दासियाँ भोजन परोसती थीं। उंगलियों के सहारे भोजन किया जाता था। रसा उठाने के लिये चमच और मांस आदि काटने के लिये चाकू का उपयोग होता था। भोजन करने के पहले और बाद हाथ धोने और कुल्ला करने की प्रथा थी।

भोजनादि से निबटने के बाद सुरापान की बैठक होती थी। इसी समय पियक्कड़ों के सामने से एक ममी वा गुड़िया घुमायी जाती थी। साथ ही गंधर्व लोग “बीन्कार का गीत” गाने लगते थे। एक आदमी कहते फिरता था—“मरने के बाद तुम्हारी भी यही दशा होने वाली है। अतः पीते चलो ! मौज करते रहो !”

इसके अनंतर आमोद-प्रमोद की बारी आती थी। जादूगर और बाजीगर खेल दिखाते और नंगी स्त्रियाँ नाचती थीं। दर्शक लोगों का प्याला खाली न जाने पाता। प्रायः लोग बहुत अधिक सुरा पी जाते थे। पुरोहितों के संयम के उपदेशों की सुनवाई न होती। अंत में लड़खड़ाते हुए मतवाले स्वामियों को दास लोग उठाकर घर पहुँचाते थे। मद्यपान करने में स्त्रियाँ भी उतना ही रस लेती थीं। थीबस् के समाधि मंदिरों की भीत पर की चित्रकारी से पता चलता है कि मतवाली महिलाओं को दास-दासियाँ पकड़ कर घर ले जाती थीं और बगल में एक दासी वमन के समय उपयोग के लिये पीकदान लेकर चलती थी।

येन केन उपायेन परायी स्त्री को अपनाने के विषय में मिस्री लोगों की तत्परता चिरंतनी थी। प्राचीन राज्यकाल में विवाहित पत्नी के अतिरिक्त रखेली रखने की प्रथा व्यापक थी। शासक और बड़े लोगों के हरम में नाना जाति और रंग की स्त्रियाँ ठसाठस भरी रहती थीं। शासकों के मरने पर परलोक में सेवा-टहल करने के लिये जीवित स्त्रियाँ समाधियों में गाड़ दी जाती थीं। पिरामिडों में रखे हुए लेखों से पता चलता है कि धुन सवार होने पर शासक पति की बगल से पत्नी उठा कर चल देता।

धनिकों के हरम में विदेशी स्त्रियों की माँग बढ़ गयी। इसका प्रभाव नयी पीढ़ी के युवकों पर पड़ा। वे अधिकतर स्त्री-जनोचित हाव-भाव वाले निकले। स्वभावतः वे लड़ाई भिड़ाई से मुंह मोड़ने लगे। इसलिये सेना-दल में देश-विदेश के सैनिक लिये जाने लगे। इनके हृदय में न तो देश-प्रेम था और न भाव-विचारों की एकरूपता थी। क्रमशः किराये के ये सिपाही काँटे-से अखरने लगे।

सैत काल की महिलाओं के बारे में कहा जाता है कि वे बड़ी प्रगति-शील थीं। थीबस् के समाधि-मंदिरों की चित्रकारी, लोक-प्रिय किस्से-कहानी और चुटकुलों तथा प्रेम-संगीतों से इस बात का थोड़ा बहुत आभास मिलता है। प्रेमिक-प्रेमिकाएँ एक-दूसरे से भाई-बहन का नाता जोड़ती थीं। समाज में अवैध प्रेम की कर्मा न थी। मिस्र के शासक पेगि द्वितीय के विषय में कहा

जाता है कि वह सौ वर्ष तक जीवित रहा। अंतिम दिनों में उसकी आँखों की ज्योति जाती रही। राज-नैयों ने विधान दिया कि किसी पतिव्रता महिला की लघु-शंका द्वारा आँख धोते रहो। सब ठीक हो जायगा। राजा ने दूर और निकट की मैकड़ों स्त्रियों को बुला बुलाकर उनकी लघु-शंका से आँखें धोयी। परन्तु कोई फल न हुआ। अंततः राजोद्यान की मालिन की लघु-शंका से आँख धोने पर उनकी ज्योति लौट आयी। इस घटना के बाद राजा ने मालिन को पटरानी बनाया तथा अपर स्त्रियों को जला मारा।

लेखक अर्ण के उपदेश में कहा गया है कि जब कोई विरहिणी वाला निराले में मिलते ही तुमसे बार बार कहती रहे “मैं सुन्दरी हूँ !” तब उससे दूर रहो। क्या पता, वह तुम्हें किस गड्ढे में ढकेल देगी ? किसी सुन्दरी युवती के मरने पर जब तक लाश सड़ने नहीं लगती थी, तब तक वह परिरक्षणा के लिये अत्तारों के हाथ सौँपी नहीं जाती थी। यतः वे शवों का दुरुपयोग करते थे। हिरोडोटस का कथन है कि मिस्र की स्त्रियाँ प्रतिदिन की जीवन-यात्रा में बड़ी स्वतंत्रता से काम लेती थीं। घर-गृहस्थी के सामान आदि मोल लेने के लिये वे स्वयं बाजार जाती थीं और उनके पति देवता घर में गृहस्थी सम्हालते रहते थे। मेले और त्यौहारों के समय वे बिना रोक टोक रमती फिरती थीं।

इन दिनों जिस रमणी के केश पाश रात के अँधेरे की तरह काले हों, दाँत की पाँति चुंबक की भाँति जगमगाती रहे, कमर पतली और छाती उभरी हुई हो—वही आदर्श सुन्दरी मानी जाती थी।

समाज में सगे भाई-बहनों का विवाह प्रायः हुआ करता था। यह प्रथा किसी को खलती न थी। शू के बेटे रा ने सगी बहन टेफनट से विवाह कर लिया। ओसिरिस और आइसिस् सगे भाई-बहन थे। आगे वे पति-पत्नी बन गये। अठारहवें राजवंश के अहमेज़ प्रथम ने सगी बहन नेफरटरी से विवाह किया; एमेनोफिस् प्रथम ने सगी बहन आहेटेप द्वितीय को ब्याहा था। एमेनोफिस् की रखेली के बेटे थोथमीस ने अपनी बड़ी बहन आहमीज़ से विवाह किया। इनकी देखा देखी यूनानी टालेमी राजवंश के शासक लोग

सगी बहन से वैवाहिक नाता जोड़ने लगे। टालेमी द्वितीय ने सगी बहन आरसिलोस द्वितीय से, टालेमी सप्तम ने क्लियोपेट्रा द्वितीय से और सोटर द्वितीय ने सगी बहन से विवाह किया।

विदेशी रमणी और परदेसी सैनिकों के पीछे-पीछे बहुत-सी नयी-नयी देव-देवियाँ भी इसी समय पिछले दरवाजे से मिस्र में घुस पड़ीं। ये सब अधिकतर युद्ध-विग्रह और सृष्टि-तत्त्व से संबद्ध थीं। देवाँ में बाल, सुतेख और रेशेप प्रधान थे और देवियों में अस्टार्ट, अनथ और कादेश मुख्य थीं। बाल और सुतेख प्राण-वायु से संबद्ध थे और दोनों पुंस्त्व के प्रतीक माने जाते थे। रेशेप विजली के अधिष्ठाता देवता थे। बाद वह युद्ध-देवता बने। उनके एक हाथ में भाला और दूसरे में अंख होता था। उनके टोप पर हिरन का मुंड जड़ दिया जाता था। हिरन के साथ देवी अस्टार्ट का निकट संबंध था। महादेवी अस्टार्ट बड़ी लोक-प्रिय थी। वह आइसिस्, हाथोर, इश्टार, मीलिट्टा और वालाथ की तरह सृष्टि-तत्त्व की प्रतीक मानी जाती थी। वह पहाड़ों पर विराजती और हिरनों का साथ करती। उसका मुँह सिंहिनी जैसा था। थोथमीज़ तृतीय ने थीवस् में देवी का मंदिर बनवाया था। मेमफिस में हिरोडोटस् ने और एक मंदिर देखा था। अनथ सुतेख की धर्म-पत्नी थी। आगे वह युद्ध-देवी बन गयी। उसके एक हाथ में भाला और दूसरे में कुल्हाड़ी वा ढाल होती थी। सेती प्रथम, रामेसिस् तृतीय प्रभृति इस देवी के बड़े भक्त थे। कादेश चंद्रमा की अधिष्ठात्री देवी थी। उसके एक हाथ में कमल-कली और दूसरे में एक जोड़ा साँप होते थे। दोनों सृष्टि-तत्त्व के प्रतीक थे। वह देवताओं की रखेली मानी जाती थी और बाजारूस्त्रियों की अधिष्ठात्री देवी थी। सृष्टि-तत्त्व से घनिष्ठ संबंध होने के कारण यहूदी पैगम्बरों ने उसकी बड़ी निन्दा की है। ऐसा लगता है कि इन देवियों के पूजन के प्रसंग में धर्म की ओट में व्यभिचार का बार-बार नहीं रहने पाया।

साम्राज्यवाद के युग की नैतिकता का बचा खुचा भाग यूनानी और रोमवालों से संपर्क स्थापित होने पर हवा हो गया। टालेमियों के राज्य काल में यद्यपि नाम के लिये प्राचीन मिट्टी धर्म राष्ट्र-धर्म बना, जनता अधिकतर

ओसिरिस और आइसिस् को मानती थी। यूनानी तथा मिस्र के लोगों को सामान्य धार्मिक बंधन में बाँधने के लिये टालेमी सोटर ने सेरापिस् की मूर्ति को पूजने की प्रथा चालू की। प्रारंभ में वह मृतकों तथा उपज का देवता था। आगे वह एडोनिस्, एट्रीज़, डायोनीशस्, बाक्चस्, एरोज़ सरीखे देवताओं का अवतार बन गया। आइसिस् भी एफ्रोडाइट, सीरीज़, मिनर्वा प्रमुख देवियों की रूपान्तर बनी। होरस् एपोलो बना। इन देवताओं के सम्मान में रात के आँवेरे में लुक-छिप कर बीभत्स कृत्यादि होने लगे। डायो-डोरस् का कथन है कि डेनडेरा के मंदिर में देवी हाथोर की रहस्य पूजन-विधि देखने का उसे अवसर प्राप्त हुआ था। वह लिखता है कि पूजा के विधि-विधान बहुधा इल्यूशियन रहस्य (लिंग और योनि पूजन) के अनुष्ठानों से मिलता-जुलता है। रोमन साम्राज्य में खप जाने पर मिस्र के कुल प्राचीन देवता गुम हो गये। फिली के मंदिर में साइज़र देवी आइसिस् का पूजन होता था। नंगी धड़ंगी आइसिस् तब हाथोर और एफ्रोडाइट की अवतार मानी जाती थी। सम्राट् जस्टिनियन् ने इस प्रथा पर पाबंदी लगा दी (५६५ ई०)।

बाजार में पण्य-स्त्रियों की भरमार थी। आवश्यकता होने पर अभि-जात श्रेणी की महिलाएँ भी खुले बाजार बैठकर कमाने में सकुचाती नहीं थीं। हिरोडोटस् ने इस प्रकार के दो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।

रामेसीज़ (ई० पू० २२४४) ने चोर पकड़ने के लिये अपनी बेटी को बारबनिता बनाकर बाजार में बैठाया था। जो भी गाहक उसके पास पहुँचता था, राजकुमारी उससे अपनी कृतियों का वर्णन करने कहती। उसका व्यौरा सुन लेने के बाद वह उसे धता कर देती। निदान एक दिन स्वयं चोर वहाँ पहुँच गया। नियमानुसार राजकुमारी ने उसे अपनी कृतियों का वर्णन करने को कहा। ताव में आकर उसने साफ-साफ कह दिया कि मैंने राजभवन में सेंध लगायी थी। सुनते ही राजकुमारी ने उसे गिरफ्तार करने की चेष्टा की। परन्तु चोर बड़ा चतुर निकला। राजकुमारी के हाथ में किसी मुर्दे का कटा हुआ हाथ थमा कर वह स्वयं भाग निकला। चोर की

बुद्धि की विलक्षणता देख कर फारो प्रसन्न हुआ और बेटी के साथ उसका विवाह कर दिया ।

उसी प्रकार क्रियोप्स (ईसा पूर्व १२००) के बारे में कहा गया है कि एक पिरामिड के बनाने में उसका राजकोश बिलकुल खाली हो गया । ऐसी दशा में उसने अपनी बेटी को वेश्यावृत्ति करने के लिये बाजार में भेज दिया । वह लड़की अपने काम में ऐसी कुशल निकली, कि थोड़े ही दिनों में उसने अपने बाप के उठाये हुए काम का तो पूरा कर ही दिया, साथ ही गाहकों से एक-एक पत्थर बतौर चंदे के लेकर उसने अपने लिये भी एक पिरामिड बनवायी थी ।

हिरोडोटस् की कहानियों में कुछ असंभाव्यता की खनक है । बहुत दिनों तक मिस्र के लोगों की ऐसी धारणा थी कि रोडोपिस् नाम की एक प्रख्यात गणिका ने फ़ारो माइकेरिनस् की स्मृति में एक पिरामिड बनवाई थी । परन्तु हाल के अनुसन्धान से पता चला है कि रोडोपिस् फारो अमेसिस् के शासन-काल (ईसा पूर्व ६००) में थी । रोडोपिस् के प्रेमिकों में से प्रसिद्ध कहानीकार ईसप भी था । बाद वह अमेसिस् की रखेली बनी थी । भाग्य खुल जाने पर भी वह अपने पुराने प्रेमिका चाराक्सस् को बिसारी नहीं । इसलिये यूनानी कवियों ने उसकी सराहना की है ।

टालेमी वंश के शासकों के काल (ईसा पूर्व ३००) में मिस्र की परम्पराओं की खूब चलती थी । प्रारंभ में मिस्र की कुल नामी गणिकाएँ मुरली बजाने वाली थीं । फिलाडेल्फस् की बहुत-सी रखनियाँ थीं । क्लेइन् उसका प्याला भरने वाली थी । किन्तु वह ऐसी सुन्दरी थी कि बादशाह ने उसकी कई मूर्तियाँ बनवाई थीं । इन रखेलियों में से वह स्ट्राटोनिस् को हृदय से चाहता था । उसके मरने पर बादशाह ने एक समाधि-मंदिर बनवाया था । टालेमी फिलोपेटर अगाथोक्लिया के हाथ की कठपुतली बना रहा । वह स्वयं बादशाह के स्थान में शासन की बागडोर संभालती गयी ।

साम्राज्यवाद काल की सामाजिक दशा—सामान्यतः समाज तीन श्रेणियों में विभक्त था । दास-दासी, भूमहीन किसान आदि निम्न श्रेणी के

माने जाते थे। दास-दासियाँ प्रायः परदेशी होती थीं। राज्य तथा मंदिरों के अधिकारियों की गिनती उच्चश्रेणी में होती थी। उन दिनों जमींदार नाम का कोई वर्ग रह नहीं गया था। सारी भूमि राष्ट्र या मंदिरों के पुरोहितों के हाथ में चली गयी थी। भूमि हीन किसान लोग उन्हें जोतते थे। कुल कारीगर और दुकानदार मध्यवर्ती श्रेणी के माने जाते थे। राज-कर्मचारी और पुरोहितों के अतिरिक्त समाज में और भी बहुत-से सम्पन्न व्यक्ति थे। वे अधिकतर व्यापारी होते थे।

भिन्न-भिन्न उद्योगों में बहुत-से श्रमिक काम-धंधा करते थे। श्रमिक लोगे छोटे छोटे दलों में विभक्त थे। इनका प्रधान एक-एक सरदार होता था। पारिश्रमिक के रूप में श्रमिकों को अनाज आदि मिलता था। किन्तु इसकी अदायगी बिल्कुल अनिश्चित थी। ऐसी दशा में मजदूर घर बैठ जाते थे। कभी-कभी दलबद्ध होकर वे अधिकारियों के घर पर चढ़ाई कर देते थे। श्रमिक लोक निजी मकानों में ब्याही पत्नी वा रखेली के साथ रहते, अपनी समाधि बनवाते और थोड़े-बहुत लिखे पढ़े भी होते थे। बड़ों के साथ बात-चीत करते समय शुद्ध भाषा का उपयोग करते थे। ऐसी स्त्रियाँ जो मजदूरी करके पेट पालती थीं, वे प्रायः ब्याह-शादी नहीं करती थीं। अधिकतर वे किसी श्रमिक की रखेली बन कर रहतीं। श्रमिकों की नैतिक दशा गिरी हुई थी। अपरिचित स्त्री देखते ही वे उस पर बलात्कार कर देते। तलाक दी हुई वा प्रोषित-पति का रमणियों की भी कमी नहीं थी। वे गली-कूचों में रमती फिरती थीं।

खेती-बारी और पशुपालन की गिनती महत्त्वपूर्ण उद्योगों में थी। किन्तु लोग किसानों को घृणा की दृष्टि से देखते थे। वह मरते दम तक खटते जाता, किन्तु उसका फल औरों के भोग में आता। कीड़े-मकोड़े, जल-घोड़े, चूहे, टिड्डी और चिड़ियाँ खेत की खड़ी फसल चट कर जातीं; कटाई समाप्त होते ही कर वसूल करने के लिये हबशी दासों के साथ कारिंदा आ धमकता। पहुँचते ही वह लगता मार-धाड़ करने, स्त्री-पुत्रों पर अत्याचार करने, यहाँ तक कि कभी-कभी किसान को नहरों में पछाड़ देता। इस

प्रकार किसानों की बड़ी दुर्गति होती थी। इतना परिश्रम करने के बदले उन्हें गुजारा करने भर अन्न मिलता। लेखकों की स्थिति अच्छी थी।
धर्म

प्राचीन मिस्री धर्म के निम्नलिखित आधार्मिक तत्व थे—

(अ) मिस्र के निवासी बहु देवता के अस्तित्व में विश्वास करते थे।

(आ) वे पर-जन्म में विश्वास करते थे।

(इ) उनका ऐसा विश्वास था कि परमात्मा जड़ और चेतन सभी पदार्थों में बिराजते हैं। कदाचित् वे पशु के आकार में आविर्भूत होते हैं।

(ई) देव-देवियों के भाव-विचार और आवश्यकताएँ मानव की तरह होती हैं।

उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार देव-देवियों की संख्या अनगिनत थी। उनमें से कुछ तो वैयक्तिक, कुछ पारिवारिक, कुछ गोत्रीय, कुछ जन-जातीय, कुछ ग्राम-देवता, कुछ नगर-देवता, और शेष जातीय देवता थे। प्रत्येक देव की शक्ति का होना अनिवार्य था। उनके सिवा कुछ देवता विदेशी थे, कुछ पशु, कुछ प्राचीनकाल के शासक और कुछ विशिष्ट जन-नायक।

सर्वोपरि वज्र का कथन है कि मिस्र के लोग एक परमेश्वर के अस्तित्व में भी विश्वास करते थे। वे अनादि, सनातन, सर्व-नियन्ता परम पुरुष माने जाते थे। कहा जाता था कि उन्होंने देव-देवी, आकाश, चन्द्र-सूर्य-ग्रह-नक्षत्र, पृथ्वी मंडल, मानव, पशु प्रभृति का सर्जन किया है। लोग उन्हें नेटर कहते थे। इनकी प्रतिमा वा चित्र कभी उरेहा नहीं गया और न उनकी मूर्ति की कल्पना ही कभी की गयी।

आधार्मिक सिद्धान्तों का विहंगालोकन करने के बाद कुछ देव-देवियों का परिचय देना असंगत न होगा। सामान्यतः सेत् आदि-देवता, होरस् शासक वर्ग के देवता, ओसिरिस् जन-देवता और री वा रा राष्ट्र देवता माने जाते थे। इनके अतिरिक्त थोथ, अनुविस्, प्टाह, सेवेक, अमून,

सोकर प्रमुख दस देवता और भी थे। एकेश्वरवादी अखेनाटोन एटोन को मानता था। हिरोडोटस् का कहना है कि सृष्टि-तत्व का कारण मान कर बहुत से लोग लिंग-पूजन करते थे।

सेत्—उत्तरी मिस्र का अधिष्ठाता देवता था। मरुभूमि, आँधी-तुफान आदि का नियंता था। नेप्थीज़ और नीत उसकी पत्नियाँ थीं। ओसिरिस् उसका भाई था। अपदेवता था।

होरस्—फारो शासकों का पूर्वज था। सूर्य भगवान् वा आकाश-देवता था। आइसिस् उसकी माँ और हाथोर धर्म-पत्नी थीं। ओसिरिस् का पुत्र था। मिस्र के आर पार उसका पूजन होता था। पहले राज-वंश के शासन काल में भी धूमधाम के साथ उसका पूजन होता था। इस प्रसंग में उत्सव मनाने की रीति थी। जन-यात्रा, नौका-बिहार, धार्मिक संगीत आदि होते थे। उसका प्रतीक बाज था।

ओसिरिस्—अतीव लोक-प्रिय देवता था। मिस्र के कोने-कोने उसका पूजन होता था। गेब का पुत्र था। अतः पृथ्वी-पति और जल-देवता था। नील-पति भी माना जाता था। क्रम से सूर्य-देवता, फिर चन्द्र-देवता बन गया। अनाज और सुरा के उत्पादक के रूप में वह आदि सृजन-हार था। मरने पर भी उसका ओज बना रहा। फिर से जी जाने के बाद वह मृतकों का न्यायाधीश और शासक बना। आगे धर्मराज और न्याय-मूर्ति बन गया। उसकी शान्ति-प्रियता, लोकोपकार, निर्मम हत्या और पुनर्जीवन ने लोगों के मन को बहुत प्रभावित किया। जब वह २५ वर्ष का था, १७ नवम्बर (= हाथोर) के लगभग उसके भाई सेत् ने हंसी-हंसी में उसे लकड़ी के एक संदूक में बन्द कर नील नदी में छोड़ दिया। तैरते तैरते संदूक समुद्र में पहुँच गया। आइसिस् देवी ने बिबलोस में उसका उद्धार किया और वह उसे बूटो में लायी। वहाँ सेत् ने लाश को १४ (वा १६) टुकड़ों में काट कर अपने संगी साथियों में बाँट दिया। आइसिस् ने इन टुकड़ों को एकत्र कर जादू मंत्र के सहारे नवजीवन फूँका। इस प्रकार ओसिरिस् मृत्युञ्जयी बन गया। इस घटना की स्मृति में प्रतिवर्ष एबीडोस में भारी

मेला लगता था। इस प्रसंग में पुरोहित लोग ओसिरिस् के जीवन पर आधारित नाटक खेलते थे। ओसिरिस् के जीवन से संबद्ध घटनाओं से मिश्र के सामान्य जन को बड़ी प्रेरणा मिली। कुचली हुई जनता सदैव सोचा करती कि हम भी मृत्युञ्जयी ओसिरिस् की तरह सदा के लिये जीवित रहेंगे, अविनश्वर ओसिरिस् की तरह हम भी अविनाशी बनेंगे, हम भी ओसिरिस् की भाँति चिरंजीव बनेंगे।

लोक-धर्म के अनुसार सेत् ने अपने भाई ओसिरिस् के शव के ४० टुकड़े किये थे। आइसिस् ने एक एक टुकड़े को खोज निकाला और मंदिर बनाकर पूजा चढ़ायी। केवल उसका लिंग हाथ न लगा। दुखी हो कर देवी ने काठ का लिंग बनाकर कमी की पूर्ति की, और बड़ी श्रद्धा के साथ उस मूर्ति का पूजन किया। तभी से प्राचीन मिश्र में लिंग पूजन की प्रथा चल निकली।

हरमोनथीस और करणक के मंदिरों की भीत पर ओसिरिस् की जो मूर्तियाँ खुदी हुई हैं, उनमें उसके सिर पर एक टोप है, हाथ में चाबुक तथा उसका लिंग बड़ा भारी है। टेन्टीरा में जो मूर्ति भीत पर खुदी हुई है, उसके अनुसार ऊर्ध्व लिंग ओसिरिस् चित लेटा हुआ है।

प्रतिवर्ष वासन्ती सम-रात्रि (मार्च २५) के अवसर पर धूमधाम के साथ सूर्य देवता ओसिरिस् का जन्मोत्सव मनाया जाता था। प्लुटार्क का कथन है कि उस दिन गाजे बाजे के साथ ओसिरिस् की जो मूर्ति निकाली जाती थी, उसके तीन लिंग होते थे। उसी अधिकारी का कहना है कि तीन लिंग इसलिये जोड़े जाते थे जिससे सृष्टि-तत्त्व का क्रम विगड़ने न पावे। हिरोडोटस् का कथन है कि इस जन-यात्रा के साथ और भी बहुत-सी मूर्तियाँ रहती थीं। प्रत्येक का लिंग बड़ा भारी होता था। ओसिरिस् पंथ चौथी शती तक चालू रहा।

री वा रा (सूर्य देवता)—उसका मुख्यावास हेलियोपोलिस था। वहाँ के पुरोहित विद्वत्ता के लिये प्रख्यात थे। इखनाटोनने उसका नाम एटोन दिया था। उस का और एक नाम एटुम था। टेफनट् उसकी धर्म-पत्नी थी।

गेब और नट उसकी पुत्र-पुत्री थीं। प्रलय काल की जल-राशि का नाम नट था। रा देवेन्द्र तथा धर्मराज था। पिरामिड की चोटी और समूचा पिरामिड उसीका प्रतीक था और फोनिक्स उसकी आत्मा थी। चौथे राज-वंश का खफ्रे पहले पहल रा का आत्मज माना गया था। पाँचवें राज वंश के प्रारंभिक तीन शासक उसके कायिक पुत्र थे। आगे रा राष्ट्र देवता बना। हेलियोपोलिस, मेमफ्रिस, बुसिरिस, एवीडोस, थीवस् प्रमुख नगरों में बड़े बड़े मंदिर थे।

थोथ—लेखक तथा पुस्तकालय का अध्यक्ष था। जादू-टोने का जानकार, विज्ञ, सर्वज्ञ और लिपि-कला का आविष्कारक था।

प्टाह—इस शब्द का अर्थ है “पथ प्रशस्त करने वाला” वा “मुंह खोलने वाला”। मिस्री लोगों का यह एक संस्कार था। आकाश-पृथिवी, देवता और चेतन पदार्थों का सृजनहार तथा मृतकों का देवता था।

सेवेक—जल-देवता। उसका बाहन घड़ियाल था। उसका मुंह घड़ियाल की तरह था।

अमून—वायु-देवता। वह हंस की सवारी करता। मुंह मेढ़ा जैसा था।

देवियों में नीट प्रारंभ में आखेट की देवी थी। रा की पुत्री और खनुम् की पत्नी थी। रा अमून और सेवेक की माता थी। वह मातृत्व की प्रतीक थी। इस लिये कालान्तर में आइसिस के साथ घुल मिल गयी। उसका मुख्यावास साइस् था। हिरोडोटस् का कथन है कि गुप्त रीति से उसकी अर्चा की जाती थी।

बुटो—सापों की देवी थी।

नेखवेत्—उत्तरी मिस्र की अधिष्ठात्री देवी थी। रा की पुत्री थी।

आइसिस—मातृत्व और पातिव्रत्य की सजग प्रतीक थी। गेब और नट की पुत्री, ओसिरिस को पत्नी और होरस् की माता थी। सृजन हारिणी के रूप में उसकी अर्चा होती थी। उपज, वर्षा और वायु-देवी थी। कुशल जादुगर थीं। तुरत अपनी मूर्ति बदल सकती थी। गाय उसकी प्रतीक थी। हाथोर उस की अवतार मानी जाती थी। प्रतिवर्ष आइसिस के सम्मान में

उत्सव मानया जाता था। इस प्रसंग में जन-यात्रा, भजन-पूजन, पाठ और रूपक का खेल होता था। ३६४ ई० में रोम में यह उत्सव बंद करवा दिया गया। मिस्र में छठी शती तक चालू रहा।

हाथोर—न्यूविया की सिंहीनी देवी। होरस् उसका पुत्र-पति था। रा और नट की बेटी और अधर की अधिष्ठात्री देवी थी। मातृत्व की मूर्ति मान कर मिस्र के सर्वत्र उसकी अर्चा होती थी।

मात—सचाई, न्याय, विधि और शान्ति की देवी थी। रा की बेटी और थोथ की धर्म-पत्नी थीं।

तेफनट—जल-देवी थी। रा की पुत्री और शु की पत्नी थी।

मूत—सारी सृष्टि की जननी थी। आमून की पत्नी और करणक की नगर-देवी थी।

सेतिस—बाढ़ की देवी थी। रा की पुत्री और खनुम् की पत्नी थी।

परदेशी देव-देवियों में फिनीशिया के बाल, स्याम की अस्टार्ट, अएरगेटिस् तथा कादेश और द्विक्सोस् जाति के सुतेख मुख्य थे।

जीव-जंतुओं में वृष प्याह का, गाय हाथोर और नट का, और सिंह होरस् का सजग प्रतीक माने जाते थे।

हेलिओपोलिस में एपिस साँड़ का पूजन होता था। सृष्टि-तत्त्व का सजग प्रतीक होने के अतिरिक्त खेती-बारी के काम में सहायता देने के लिये लोग उसे बहुत मानते थे। पुरोहित लोग साङ्गम्बर उसके जननेन्द्रिय की अर्चा करते थे। डायोडोरस सिक्ज्युलस का कहना है कि एपिस साँड़ जब मर जाता था, तब समग्र मिस्र के कोने कोने में कुछ विशेष लक्षण वाले साँड़ की खोजाई होती थी। ऐसे साँड़ का पता चलते ही उसके रहने के लिये एक भव्य गोशाला बनायी जाती थी। वहाँ चार महीने तक केवल दूध पिला कर उसका पालन पोषण किया जाता था। इसके बाद गाजे बाजे के साथ वह साँड़ नील नदी के किनारे पर स्थित नीकोपोलिस नगर में लाया जाता था। वहाँ ४० दिन तक नंगी स्त्रियाँ उसकी सेवा-टहल करती रहती थीं। बाद में वह साँड़ नदी के किनारे के साथ ही नदी में डाल दिया जाता था।

साँड़ के अतिरिक्त हिरोडोटस् का कहना है कि मेण्ड्रीज़ नगर में बकरे का पूजन होता था। इसके जननेन्द्रिय की भी साङ्गम्बर अर्चा होती थी। ऐसा लगता है कि इन पशुओं की पूजन पद्धति में शालीमता की कमी थी। मिस्र के सर्वत्र इन जानवरों के लिंग का पूजन होता था। ये लिंग काठ अथवा पत्थर के बनते थे।

मेनीज़ तथा उसके वंशज जितने फारो हो गये, मृत्यु के बाद सब के सब देवता बन गये; स्त्रियों में आहमोज प्रथम और रामेसीज़ की पत्नियाँ देवी बन गयीं। प्रतिभाशाली व्यक्तियों में जोसर का पुरोहित-अमात्य-स्थपति-वैद्य इमहोत्प् और आमोनोफ़िस् तृतीय का बहुदर्शी मंत्री और स्थपति आमोनोफ़िस् मरने के बाद देवता बन गये।

पूजनादि—

प्रत्येक धर्म की प्रारंभिक दशा में आचार और अनुष्ठान की भरमार होती है तथा तत्व-ज्ञान की गंभीर बातों की कमी होती है। तदनुसार मिस्र का प्राचीन धर्म दिखावटी आचार-अनुष्ठान और क्रिया-काण्ड की गठरी मात्र था। फिर भी बुद्धिमान लोग मूर्ति के अंतरात्मा में जो देवता विराजते थे, उन्हीं के आगे माथा नवाते थे। उधर जनता-जनार्दन मूर्ति को परमेश्वर मानकर उसी को पूजते थे।

शासक स्वयं पुरोहित होता था। सामान्यतः शासक की ओर से पुरोहितों की नियुक्ति होती थी। तब संस्कार और प्रायश्चित्तादि के बाद उनका अभिषेक होता था। फिर वे मंदिर में लाये जाते थे। वहाँ वे देवता के गले लगते और प्रसाद खाते थे। अधिकतर पुरोहित वैद्य वा लेखक होते थे। कुछ राज-कर्मचारी भी होते थे। उनसे बेगार और कर नहीं लिया जाता था।

सामान्यतः पुरोहित की पत्नी पुरोहितानी होती थीं। वे उच्च कुल की होती थीं। देवी हाथोर की अर्चा सदैव पुरोहितानी करती थीं। वे मूर्ति के आगे नाचती, गाती और बाजे बजाती थीं। वे देवता की रखेली मानी

जाती थीं। शासक की चहेती पटरानी देवता की पत्नी मानी जाती थी। न्यूविया की राजकुमारियाँ साग्रह मुख्य मुख्य मंदिरों की देवदासी बनती थीं।

जन-यात्रा—

अभिषेक के दिन बाजे-गाजे और तड़क-भड़क के साथ नये फारो का जुलूस निकालने की प्रथा थी। ओपेत के सम्मान में प्रतिवर्ष जो उत्सव मनाया जाता था, उसके प्रसंग में नावों की सवारी निकाली जाती थी।

उत्सव—

सेड् उत्सव—प्रति वर्ष समारोह के साथ हेलियोपोलिस् में मनाया जाता था। इस उत्सव के प्रसंग में शासक ओसिरिस की तरह मृत्यु, पुनर्जीवन तथा अमरता प्राप्त करता था। इससे राजा का स्वास्थ्य बिगड़ने नहीं पाता तथा उसकी शक्ति और कर्मण्यता बनी रहती। अंत में देवदासियों के धार्मिक नृत्य होते थे।

ओपेत का उत्सव—आटुम के सम्मान में करणक और थीबस् में निरन्तर २४ दिन तक मनाया जाता था। इस प्रसंग में जन-यात्रा, नावों की सवारी, आटुम की पत्नी मूत के मंदिर तक नावों का जुलूस प्रभृति निकाले जाते थे। लौटते समय सवारी उसी रास्ते से आती थी।

नव वर्ष का उत्सव—वर्ष समाप्त होने के ५ दिन पहले से यह उत्सव आरंभ होता था। नव वर्ष के पहले दिन मेमफिस् की चहार-दिवारी के चारों ओर जुलूस फेरा लगाता था।

होरस् के सम्मान में हर दूसरे साल एबीडोस से हीराकोनपोलिस् तक सवारी निकाली जाती थी।

ओसिरिस-उत्सव—बुविस्टिस् नगर में जिस दंग से ओसिरिस के सम्मान में प्रति वर्ष महोत्सव मनाया जाता था, हिरोडोटस् ने उसका सजीव विवरण दिया है। वह कहता है कि सब नर-नारी घुल मिल कर नावों पर सवार हो जाती थीं। जब नाव चलने लगती थी, तब भाँक और बाँसुरी

बजाते और तालियाँ पीटते हुए वे सोच्छास नाचते और गाते रहते थे। किसी गाँव या कसबे के निकट आ जाने पर वे नाव को तीर पर लगा देते थे। तब नाव पर बैठी हुई स्त्रियाँ चिल्ला-चिल्लाकर गाँव की स्त्रियों के प्रति बुरी-बुरी गालियाँ बकने लगती थीं। उत्तर में गाँव की स्त्रियाँ गालियों के साथ ताल मेल रखते हुए नाचने लगती थीं। निदान गालियाँ बकते-बकते जब नाव की स्त्रियाँ गरमा जाती थीं, तब वे पहनावा उतार देती थीं। प्रति वर्ष ओसिरिस् के मंदिर में जो मेला लगता था, उसमें सात लाख यात्री एकत्र हो यही सब दृश्य दोहराते थे।

हिरोडोटस् ने ओसिरिस् की देव-यात्रा का और एक विवरण दिया है जो बड़ा रोचक है। उसका कहना है कि इस देव-यात्रा के प्रसंग में पुरोहित लोग सादर ओसिरिस् का प्रतीक, साँड़ की मूर्ति ढो कर ले जाते थे और आइसिस् के पुरोहित गाड़ी में भरकर अन्न और भूसी ले जाते थे। गाड़ी में से निरंतर भूसी गिरती जाती थी। इसका मोटा अर्थ यह था कि साँड़ पुलिंग का साकार मूर्ति है और गाड़ी योनि की। बीज योनि में रह जाता है, जिससे सृष्टि होती है। इसके विपरीत असार और फालतू वस्तु भूसी, मिट्टी के साथ मिल जाती है। उसी प्रकार देवी आइसिस् के जुलूस के साथ देवदासियाँ बड़े प्रेम के साथ रहस्यमय, गुप्त कोश ले जाती थीं। यह कोश खर और तिनके की बनी हुई एक टोकरी होती थी। इसमें गोल और लंबोतरी रोटियाँ रखी रहती थीं जिनके बीच में एक छेद होता था। देवदासियों के पीछे-पीछे धीमी चाल से एक पुरोहितानी छाती से लगा कर सोने का घड़ा ले चलती थी। इस घड़े के भीतर ओसिरिस् की लिंग-मूर्ति रखी रहती थी। ऊपर कहा जा चुका है कि प्राचीन मिस्र में अपने भाई सेत् के द्वारा ओसिरिस् के वध, आइसिस् के शोक और ओसिरिस् के पुनर्जन्म से संबद्ध उत्सवें समारोह के साथ मनाये जाते थे। ओसिरिस् का अलग एक पंथ था। इस पंथ में भरती होने वालों का औपचारिक रूप से दीक्षा-संस्कार होता था। इस प्रसंग में उन्हें ब्रह्मचर्य का पालन करना और चित्त स्थिर रखना पड़ता था। फिर अभिषेक आदि

होते थे। पुरोहित गुह बनकर नौसिखिए “पशुओं” को दीक्षित करता था। हिरोडोटस् ने चक्र की बैठक का आभास भी दिया है।

प्रतिवर्ष बुसिरिस् में समारोह के साथ देवी आइसिस् का महोत्सव मनाया जाता था। हिरोडोटस् का कथन है कि पूजनादि के बाद हजारों की संख्या में पुरुष और स्त्री एकत्र होकर अपने आपको, फिर एक दूसरे को पीटने लगते थे। प्लूटार्क का कथन है कि ओसिरिस् पर जो जो विपत्तियाँ आ पड़ी थीं, उनको नाटक के आकार में प्रस्तुत किया जाता था। साइंस में हिरोडोटस् ने भी ऐसे दृश्य देखे थे।

दीपावलि—ओसिरिस्-उत्सव के प्रसंग में साइंस प्रमुख कुल नगरों में घर घर में रात भर दीये जलाये जाते थे, जिससे ओसिरिस् के हत्यारे सेत् के अनुयायी भूत-प्रेत, नागरिकों के घर से दूर रहें।

चाहे कुछ भी हो, ये सब आचार-अनुष्ठान लोक-धर्म के अंतर्गत थे। १७वें राज-वंश के शासन-काल से शिक्षित संप्रदाय में भाव-शुद्धि होने लगी थी। वे लोकाचार और दिखावटी रीति-नीति को गिनती में नहीं लाते। एक सज्जन कहते हैं—“मानव का हृदय उसका परमेश्वर है। जीते-जी जो कुछ भी मैंने किया, उससे मेरा अंतरात्मा प्रसन्न है! ऐसी दशा में मैं परमेश्वर क्यों न बनूं?”

इन दिनों विवेक को महत्व-पूर्ण स्थान मिला। लोक-धर्म, आचार-अनुष्ठान, जादू और टोना से उसकी पुकार उदात्त मानी गयी। सभी से युक्ति-युक्त और उचित रीति से बरतने की प्रवृत्ति का आविर्भाव हुआ।

देवताओं के प्रति श्रद्धा उपजी। परलोक में आस्था हुई और कयामत के दिन के प्रति लोगों की दृष्टि गड़ी रही। इससे सब के मन में वैयक्तिक दायित्व का ज्ञान उभर आया। इस प्रकार साम्राज्यवाद के युग में भी कुछ लोग आध्यात्मिक उन्नति की ओर बढ़ चले थे।

मनोविनोद के साधन—जादू-टोना

हमारे देश की तरह प्राचीन मिस्र में भी यंत्र-मंत्रों का भारी प्रचार

था। हमारे देश के तांत्रिक साहित्य की तरह प्राचीन मिस्र में भी जादु-टोना से संबद्ध उच्च कोटि का साहित्य था। हमारे देश के तांत्रिक साहित्य में जैसे मारण, उचाटन, वशीकरण, आकर्षण प्रभृति प्रक्रियाएँ थीं, उसी प्रकार प्राचीन मिस्र में बचाव तथा वार करने के लिये, साँप-सिंह-बिच्छू के हमले रोकने के लिये, आत्म-रक्षा तथा यजमान की रक्षा के लिये, तुरत तथा ठहर कर कार्य-रूप देने के लिये, लोगों को मोहित करने के लिये, हृदय में प्रेम वा घृणा की भावना उभारने के लिये, शत्रु को मारने के लिये नाना प्रकार के मंत्र होते थे। जादुगर स्वयं ज्योतिषी होते थे। वे ग्रह-नक्षत्र की गति निरीक्षण करते थे। मोम की पुतली तोड़-फोड़कर शत्रुओं का नाश करते थे। दरबार में जादुगरों का बड़ा आदर-सत्कार होता था। मंत्रि-परिषद् में जादुगर भी सम्मिलित कर लिये जाते थे।

ऐसा लगता है कि मिस्र के जादुगर अपनी विद्या में सिद्धि प्राप्त कर लिये थे। खूफु के शासन-काल में एक जादुगर ने एक भील का आधा पानी उलट कर दूसरे आधे पर धर दिया था। दूसरे ने मोम के बने हुए एक मगर में जान डाल दी थी। देदि नाम के एक जादुगर के बारे में कहा जाता है कि वह जंतुओं का गला काट कर फिर जोड़ दे सकता था।

चित्रकारी

ज्येष्ठ क्षिणी का कहना है कि यूनानियों के छः हजार वर्ष पहले मिस्रियों ने चित्रकारी का आविष्कार किया था। प्राचीन मिस्र में मंदिर-समाधि-भवन-महलों की भीत, हड्डी, लकड़ी तथा धातु पर चित्र उरेहने की चाल थी। यदि सच पूछिये तो प्राचीन मिस्र की लिपि कला चित्रांकन विद्या से बहुत कुछ मिलती जुलती थी। लेखक मात्र चित्रांकन विद्या का पारदर्शी होता था, क्यों कि उसे सदैव चित्रांकन विद्या का अभ्यास करना पड़ता था। प्राचीन मिस्र में चित्रांकन का आदर्श चित्रित पदार्थ में नया जीवन डालना होता था। प्रतिकृति वास्तव को दर्शक के आगे रख देती थी। प्रतिमाएँ सजग मानव वा देवता का हू-बहू अनुकरण होती थी। चित्तेरों तथा मूर्त्ति-न्नाने वालों की धारणा थी कि ऐसा होने ही से मूर्त्ति में

आत्मा समा सकती है; तभी उसमें जान फड़क सकती है। प्राचीन समाधि-भवन की भीतों पर जो चित्र बने हुए हैं उनसे सब अधिकारों से वंचित, सामान्य जन की जीवन-यात्रा पद्धति की झलक प्राप्त होती है। ऐसा लगता है कि उन दिनों वे बड़ों की सेवा-टहल करने के लिये जीते थे। फिर मरने पर उनकी नंगी लाशें, बिना क्रिया-कर्म के, मरुभूमि के बालू में खोस दी जाती थीं। पुनः साम्राज्यवाद के युग में विलासी नागरिकों की जीवन-यात्रा पद्धति का आभास मिलता है। मदिरों के आंगन के चारों ओर जहाँ सब की पहुँच थी, विजय, लूट-पाट की सामग्री, युद्ध के दृश्य, प्रतिष्ठापन से संबद्ध उपचार और अनुष्ठानादि के दृश्य उरेहे जाते थे। दालान में सिंहासन पर बिराजते हुए देवता और पूजनादि के दृश्य बनाये जाते थे। पूजा-मंडप में ४२ नील (जिलों) से देवता को जो उपहार मिलता है, उनके दृश्य और देव-यात्रा के दृश्य खींचे जाते थे। भीतों पर आखेट के दृश्य तथा शासकों का चढ़ावा आदि के दृश्य उरेहे जाते थे। गर्भ-गृह में प्रति दिन के पूजन से संबद्ध दृश्यादि बने रहते थे। पुनः गर्भ-गृह से संलग्न पूरब के कमरे में ओसिरिस् के जीवन-काल की घटनाएँ, सेद् उत्सव, राज्याभिषेक तथा जन्मोत्सव के दृश्य खींचे जाते थे।

राजसी मनोरंजन

शासन-संबंधित चिंता से जब जब शासक का मन अकुला जाता था, तब उसके मनोरंजन के लिये जो जो उपाय किये जाते थे, उसका ब्यौरा मिलता है। पाँचवें राजवंश के शासन-काल में शासक के मनोविनोद के लिये वंशी और बीन बजाकर गायक गीत सुनाता था; पतली कमर वाली नर्त्तकियाँ अथवा मुडान की बावनी स्त्रियाँ अपनी अपनी कला प्रदर्शित करती थीं; कभी जादुगर लोग खेल-तमाशे देखाकर दर्शकों को चकित कर देते थे; कदाचित् गाती हुई स्त्रियों के साथ शासक नौका-बिहार करता।

नाटक

इसमें संदेह नहीं कि पूर्णांग नाटकों का विकास पहले पहल प्राचीन मिस्र में हुआ था। आदिम नाटकों का बचा खुचा भाग जो अभी तक

देखने में आता है, उसकी रचना थिनाइट काल में हुई थी। इसमें नाटक की पात्र-पात्रियों के नाम, दृश्यादि के विवरण, नाटकीय चरित्रों के प्रति निर्देश तथा कथोपकथन, सब कुछ पाये जाते हैं। सब से प्राचीन नाटक मेम्फिस के प्टाह की महिमा का द्योतक है। इसमें कुल पदार्थों की उत्पत्ति का विवरण पाया जाता है। दूसरे नाटक में बारहवें राज-वंश के दूसरे शासक सेसोस्ट्रिस् प्रथम के अभिषेक का वर्णन हुआ है। हिरोडोटस् का कहना है कि साइस में रात में मिस्री लोग नाटक खेलते थे। आगे ओसिरिस् की तरह होरस् और आइसिस् को केन्द्र मान कर रूपकों की रचना हुई। उत्सवों के समय समारोह के साथ नाटक खेले जाते थे।

अभी तक यूरोप के अजायब घरों में प्राचीन मिस्री नाटकों की मूल प्रतियाँ देखने में आती हैं। मेम्फिस में प्टाह के मंदिर में पत्थर पर खुदे हुए नाटक की जो प्रति थी, वह ब्रिटिश म्यूज़ियम में रखी हुई है। यह प्रति पचीसवें राज-वंश के शेबेक के आदेशानुसार पत्थर पर खोदी गयी थी। थ्यीवस् के रामेसियम में पेपीरस् की लपेट में एक नाटक रखा हुआ है जिसमें सेसोस्ट्रिस् प्रथम के राज्याभिषेक का वर्णन है। बर्लिन में सेसोस्ट्रिस् तृतीय के राज-कर्मचारी इखरनोफ्रेट का स्मृति-स्तंभ रखा हुआ है। उस पर भी एक धार्मिक नाटक खुदा हुआ है।

नौका-विहार

बिशुद्ध मनोरंजन के सिलसिले में मिस्र के लोग नावों पर सवार होकर सैर करने जाते थे। ऐसे अवसरों पर स्त्रियाँ गाती हुई डाँड़ खेती थीं। पाँचवें राज-वंश के शासक लोग इस प्रकार के मन बहलाव के साधन में बढ़ा रस लेते थे। आमेनहोटेप तृतीय और महारानी टाई इस रीति से मनोरंजन करते थे। देव-यात्रा के उपलक्ष्य में कभी कभी नावों की सवारी निकाली जाती थी। ओपेत के सम्मान में उत्सव मनाते समय करणक से लक्सोर तक नावों का जुलूस जाता था।

साँड़ों की लड़ाई

प्राचीन मिस्र में मन-बहलाव के लिये साँड़ों की लड़ाई की जाती

थी। समाधि-भवनों के चित्रों से पता चलता है कि किसान लोग पेट में डंडा गड़ा कर साँड़ों को लड़ाने के लिये उकसाते थे। लड़ाने के साँड़ों का एक एक नाम होता था, जैसे वीर, प्रिय, मारक आदि। हारने वाला साँड़ अलग कर दिया जाता था। जीतने वाला साँड़, यदि छोटे सींग वाला होता, तो अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिये उसे लंबे सींग वाले साँड़ से लड़ना पड़ता था। ऐसे अवसरों पर लंबे सींग वाले साँड़ की साज सजावट की जाती थी। उसी प्रकार नर जाति के और और पशुओं को लड़ाने का आयोजन किया जाता था।

नृत्य

भोज के अवसर पर नाच-गान का जलसा अवश्य किया जाता था। इसके सिवा फसल की कटाई के बाद; हाथोर, वास्त प्रमुख देवताओं के श्रृंगार के सिलसिले में और मृतकों के सम्मान में जो भोज दिया जाता था उनमें नर्तकियों का होना अनिवार्य माना जाता था। वेनी हसन के समाधि-मंदिरों में जो चित्र बने हुए हैं, उनसे पता चलता है कि नर्तकियाँ अनेक प्रकार की मुद्राएँ करतीं और हाव-भाव बताती थीं। तीन-चार स्त्रियाँ पीछे बैठ कर गाती रहती थीं। तालियाँ बजाकर ताल दिया जाता था। नर्तकियाँ गेंद खेलते हुए भी नाचती थीं। वे एक साथ तीन-चार गेंदें तक लोकती जाती थीं। साम्राज्यवाद के काल की नृत्य-पद्धति कुछ अधिक रसीली हो गयी। गिज़ेह की पत्थर पर की नक्काशी से पता चलता है कि नर्तकियाँ हवाई साड़ियाँ पहन कर डफली और खँजरी बजाती हुई घूम घूमकर नाचती थीं।

कुश्ती

वेनी हसन समाधि-भवन की भीतों पर कुश्ती लड़ने वाले ३०० जोड़ों के चित्र देखने में आते हैं। इससे पता चलता है कि प्राचीन मिस्र के पहलवानों को आधुनिक काल में प्रचलित कुल दाँव-पेंच भली भाँति आते थे तथा वे उन्हें सदैव काम में लाते थे। कुछ पेशेवर पहलवान भी होते थे। वे इनाम की रकम जीतने के लिये लड़ा करते थे।

जूआ

मदीनेत हाबू के मंदिर की भीत पर बने हुए चित्रों से पता चलता है कि रामेसिस् (३) के हरम की स्त्रियाँ अष्टापद खेलती थीं। साथ ही व्यापक पैमाने पर जूआ खेलने की रीति प्रचलित थी।

बाजीगर लोग नाना प्रकार के खेल दिखाते फिरते थे।

पान-सभा

मिस्री भाषा में पान-सभा का नाम “ताड़ी-घर” था। लोग अपने यहाँ प्रायः ऐसी बैठक करते थे। ऐसी सभाओं में बहुत कम लोग बुलाये जाते थे। एक बार हरम की कुछ स्त्रियों पर आरोप लगाया गया कि उनका चाल-चलन ठीक नहीं। समाचार सुनते ही फारो ने दरबार के तीन अधिकारियों को इस आरोप की जाँच करने की आज्ञा दी। वे स्त्रियाँ बड़ी धूर्त निकलीं। अधिकारियों के मुँह में ताला लगाने के लिये उन्होंने पान-सभा का आयोजन किया। यह बात सुनते ही फारो ने अपराधियों के नाक-कान कटवा दिये।

आखेट

पुरानी पृथिवी के और और देशों के निवासियों की तरह प्राचीन मिस्र की यायावर उप-जातियाँ मुख्यतः शिकार कर और मछलियाँ मारकर पेट पालती थीं। नये पाषाण काल में पालतू कुत्तों के द्वारा वे शिकार खेलते थे। खेती बारी का प्रचलन होने पर कालान्तर में आखेट मनोविनोद का राजसी साधन बन गया। इन दिनों अधिकतर शासक श्रेणी तथा योद्धा लोग शिकार खेलने के लिये जंगलों में पैठते थे। प्राचीन मिस्र में शान्ति काल में शासक प्रायः आखेट खेलने जाया करते थे। मन बहलाव के अतिरिक्त उनका दृष्टि में शिकार का आनुष्ठानिक मूल्य भी था। उनकी धारणा थी कि हाथी, जल घोड़े, सिंह प्रमुख अतिकाय पशुओं की आत्मा में सेतू का निवास है। अतः बड़े बड़े पशुओं का आखेट करना वे धार्मिक कृत्य मानते थे। अठारहवें राजवंश के थोथमीज तृतीय के बारे में कहा गया है कि युद्ध-यात्रा के प्रसंग में वह एक बार फरात के उस पार निकल गया। वहाँ एक दिन उसने

१२० हाथी के झुंड को मार गिराया। हाथियों के अतिरिक्त प्राचीन मिस्र में डोरी के साथ छोटे छोटे भाले बाँध कर जलघोड़ों का शिकार किया जाता था। साइस के समीप दलदली भूखंड में इस प्रकार का आखेट करते हिरोडोट्स और प्लिनो ने देखा था। अठारहवें राज-वंश के शासन-काल में बने हुए किसी समाधि-मन्दिर की भीत पर दीख पड़ता है कि होरस डोरी में बँधे हुए भाल से एक जल-घोड़े पर वार कर रहा है। सिंह का शिकार किस रीति से किया जाता था इसका विवरण कहीं नहीं मिलता। परन्तु अनुमान किया जाता है कि जिस ढंग से अफ्रिका में रहने वाली मसाई प्रमुख जन-जातियाँ अभी तक सिंह का शिकार करती हैं, उसी तरह किया जाता रहा होगा। १०:१५ जवान एक हाथ में भाला और दूसरे में लम्बी चौड़ी ढाल लेकर कतार में, एक के पीछे दूसरा, खड़े हो जाते हैं। सिंह दिखायी देते ही पहला मनुष्य भाले द्वारा उस पर वार करता है। जब सिंह उस पर हमला कर देता है, तब वह ढाल को आड़ में नीचे धरती पर चित लोट जाता है। तब दूसरा मनुष्य सिंह पर आक्रमण करता है। इस प्रकार जब तक सिंह का विनाश न हो तब तक यह युद्ध चालू रहता है। सम्भवतः प्राचीनकाल में भी इसी ढंग से सिंहों का शिकार किया जाता रहा होगा।

चीन*

भौगोलिक दृष्टि से चीन भारत की तरह एक विशाल (यद्यपि अनियमित) त्रिभुज-सा है। इसका आधार प्रशान्त महासागर, काण्ण पामीर पठार, उत्तरी भुजा तुर्किस्तान और साइबेरिया तथा दक्षिणी भुजा तिब्बत और हिन्द-चीन है। धरातल की ढाल पामीर से उतरकर समुद्र की ओर है। भारत की तरह चीन में भी विविध प्रकार की जल-वायु और

*मर्सेल प्रानेट : बिलहेलम् और जोशुआ-हिस्ट्री अफ् चाइनीज़ सिविलि-
ज़ेशन; सौण्डरस: पेजेन्ट अफ् एशिया; सुई ची: रेयो प्राउसेट-चाइनीज़ एम्पायर
इत्यादि पर आधारित।

धरती हैं। गोवी मरुभूमि की ऊसर सपाट भूमि भी है, फिर नदी घाटियों की घनी वस्तियाँ भी हैं। भारत में जैसे गंगा और सिंध नदियों की तलहटी में अनगिनत मानव रहते बसते हैं, उसी प्रकार चीन में पीली नदी और यांगसी नदी की तरेटियों की आबादी बहुत घनी है। वर्षा के लिये चीन भारत की तरह मौसमी हवा पर निर्भर है। भारत की तरह चीन में भी उत्तर और दक्षिण के बीच गहरी सांस्कृतिक खाई है। अंत में यह कहने की आवश्यकता है कि भारत की तरह चीन भी कृषि-प्रधान देश है। स्वभावतः अधिकतर लोग देहाती जीवन व्यतीत करते हैं।

सांस्कृतिक दृष्टि में भी दोनों देश बहुत-सी बातों में एक दूसरे से मिलते जुलते हैं। आधुनिक काल की भारतीय जाति में बहुत-सी छोटी-बड़ी उप-जातियाँ घुल मिल गयी हैं। उसी प्रकार आधुनिक चीनी जाति में चीनीके अतिरिक्त माँचु, मंगोल, तुर्क, तातार, तिब्बती, हूण प्रमुख बहुत सी जन-जातियाँ खप गयी हैं। भारत ने जैसे लगभग समग्र एशिया का गुरु बन कर भिन्न भिन्न देशों को संस्कृति और सभ्यता का पाठ पढ़ाया था, उसी प्रकार चीन ने भी आस-पास की जंगली जन-जातियों को अपनाकर चीनी संस्कृति और सभ्यता का पाठ पढ़ाया। सर्वोपरि भारत की तरह चीन ने भी कभी आक्रमणात्मक नीति नहीं अपनायी। दोनों देशों के इतिहास में डूबने और उतराने के काल बार बार आते गये। तथापि उनकी संस्कृति के आधारिक सिद्धान्त पर किसी प्रकार की ठेस पहुँचने न पायी। सैकड़ों आँधी तूफान आने पर भी वह ज्यों का त्यों बना रहा।

आदिम काल के चीनी लोग संभवतः पीली नदी के किनारे रहते बसते थे और इनके चारों ओर असभ्य जन-जातियों की बस्तियाँ थीं। वहाँ वे जंगलों को जला कर खेती-वारी किया करते थे। मर्सेल ग्रानेट की सम्मति है कि ज्वार-बाजरे की बोने और पूजने वाली पहाड़ी जन-जातियाँ और नदी के किनारे रहने वाली उपजातियाँ जो चावल की खेती करती थीं—इन दोनों की मिलावट से चीनी जाति की उत्पत्ति हुई थी। पहली ने चीनियों को यायावर बनाया और दूसरी ने उनके हृदय में जल-प्रेम

भरा। लक्ष्य करने का विषय यह है कि अभी तक अधिकतर चीनी या तो क्लोपडियों अथवा नावों में रहते हैं, और या तो खेती बारी करते अथवा मछुए हैं।

प्राचीन वैदिक ऋचाओं की तरह शिह-चिंग नामक पुराने काव्य-ग्रंथ में अधिकतर गीत खेती बारी से संबद्ध हैं। इस ग्रन्थ से पता चलता है कि उपज बढ़ाने के लिए चीनी लोग हल और खुरपी का उपयोग करने के अतिरिक्त आनुष्ठानिक नृत्य-गीत भी किया करते थे। इस प्रसंग में तीन आदिम देवताओं का नाम सुनने में आता है। इन्होंने प्राचीन चीनी समाज को संगठित करने में हाथ बँटाया था। शेन्-नुंग दैवी खेतिहर थे। प्रारम्भिक दशा में उन्होंने खेती बारी करने की शिक्षा दी थी। फू-सी ने पशु पालन की शिक्षा दी और उसकी बहन नू-कुआ ने विवाह करने की प्रथा चालू की थी। इनके अतिरिक्त प्राचीन चीनियों का विश्वास था कि हुआँग-टी ने धातु गला कर शस्त्रास्त्र बनाने, शुन् ने चीनी मिट्टी का बरतन बनाने और काव-याओ ने विधान रचने की शिक्षा दी थी। तथा ही-होने सौर संबत्सर प्रचलित किया था।

प्रारंभिक दशा में समाज मातृ-प्रधान था। ईसा पूर्व २००० के लगभग वह क्रमशः पितृ-प्रधान बन गया था। गाँव के बाहर सरिता के किनारे पेड़-पौधों के झुरमुट होते थे। उनमें बड़े बूढ़ों की देख-रेख में नियत समय पर उपज के देवता को पूजा चढ़ायी जाती थी। इस प्रसंग में गाँव भर की युवक-युवतियाँ बाघ और बिल्ली की खाल ओढ़ कर आनुष्ठानिक नृत्य गीत करती थीं। आदिम काल के लोगों की धारणा थी कि उपज का प्रजनन से घनिष्ठ संबंध था। अतः इस सिलसिले में औपचारिक रूप का कार्याक संसर्ग भी हुआ करता था। शिह-चिंग के संग्रह-कर्त्ता कुंग-फूसे ने इस प्रथा की स्पष्ट शब्दों में निन्दा की है।

सब आदिम जन-जातियों की तरह प्राचीन काल के चीनी लोग पितरों को पूजते थे। क्रमशः प्रधान पुरोहित उनका शासक बन बैठा। आगे यह पद पैतृक बन गया। इस प्रकार कालान्तर में धर्म-राज्य की स्थापना

हुई और उसका शासक प्रधान पुरोहित बना। पालि साहित्य में प्रायः “चतु-महाराज” शब्द देखने में आता है। उसी प्रकार चीनी लोगों का विश्वास है कि पौराणिक काल में उनके देश में पाँच बड़े बड़े शासक हो गये। उनके नाम क्रम से हुआंग टी (ईसा पूर्व २६६७), चुआन हाऊ (ईसा पूर्व २५१३), टी-कू (ईसा पूर्व २४३५), याआं (ईसा पूर्व २३५७) और शुन (ईसा पूर्व २२५५) हैं। आगे सिया राज-वंश की स्थापना हुई (ईसा पूर्व २२०५)। इसके पतन के बाद (ईसा पूर्व १७६६) शंग वंश के शासक गद्दी पर बैठे। इस राज-वंश का अंतिम शासक शऊ वा चऊ सिन् (ईसा पूर्व ११५४) बड़ा विलासी निकला। वह रखेली टा-ची के हाथ की कठपुतली था। उसके उकसाने से वह रियाया पर नित्य नया अत्याचार किया करता था। इससे उसके कुल सरदार बिगड़ खड़े हुए। ऐसी दशा में चऊ राज्य के शासक वेन ने उस पर हमला कर दिया। किन्तु अभागे शऊ की किसी ने सहायता न की। निराश होकर उसने अपने महल में आग लगा दी। इस घटना के अनन्तर चऊ वंश वालों को गद्दी मिली (ईसा पूर्व ११२२)।

चऊ वंश (ईसा पूर्व ११२२-२५५)

चऊ राजवंश के सिंहासनारूढ़ होने के साथ साथ चीनी संस्कृति और सभ्यता का शिलान्यास होता है, तथा इस राजवंश के कई शासक सदा के लिये और और शासकों के लिये आदर्श हो गये। इस राजवंश की उत्पत्ति के बारे में एक दन्तकथा सुनायी देती है। कहा जाता है कि पौराणिक काल में किसी सामान्य स्त्री के हृदय में पुत्र जनने की प्रबल वासना हुई। इसके लिये वह निरंतर साधन भजन करती रही। एक दिन अनजाने उसने किसी महान् देवता के पदांक पर पैर धर दिया। उसी से वह गर्भवती हो गयी। नियत समय पर महाराज बाजरे का जन्म हुआ। कालान्तर में महाराज बाजरा खेती बारी में निपुण निकले। कुछ दिनों के बाद सम्राट् शुन ने उन्हें रियाया को कृषि विद्या सिखाने के लिये आमंत्रित किया। आगे वह ताई प्रान्त के अधिराज बना दिये गये। उसके परपोते लिऊ के शासन-काल में आबादी बढ़ जाने के कारण लोग यिन् प्रान्त में

जा बसे। वहाँ जंगली जातियों के उपद्रव से घबरा कर वे पूर्व की ओर बढ़ चले और अंत में ची प्रान्त में बस गये। उन दिनों ताई महाराज का शासन काल था। इस प्रकार ची प्रान्त में बस जाने के कारण कालान्तर में उन लोगों का नाम चऊ पड़ा। वहाँ उन्होंने बहुत-से मंदिर-महल बनवाये और रमणीक बाग-बगीचे लगाये।

ऊपर कहा जा चुका है कि महाराज वेन के हमले का समाचार सुनते ही शंग वंश के अंतिम शासक ने आत्मघात कर दिया। सिंहासनारूढ़ होने के बाद तीन साल तक वेन पूर्वी दिशा के विद्रोही सरदारों को दबाने और जंगली पशुओं को मार भगाने के काम में जुट गया। इस रीति से उसने देश के आर पार शान्ति स्थापित कर दी। शंग काल में ऐसी प्रथा प्रचलित थी कि शासक के मरने के उपरान्त उसके छोटे भाइयों को क्रम से गद्दी मिलती थी। इसके बाद उनके वंशजों को गद्दी मिलती थी। चऊ वंशियों ने इस प्रथा का अंत कर दिया। अब शासक के मरने पर उसके जेठे बेटे को गद्दी मिलने लगी। यह नियम सीधे सन् १६११ तक चालू रहा।

उपर्युक्त नियम के अनुसार वेन के मरने पर उसके ज्येष्ठ पुत्र बू को गद्दी मिली और वेन का छोटा भाई टान (ड्यूक अब चऊ) महामंत्री बना। बाहरी हमलों को रोकने और रियाया की सुख-सुविधा के प्रति दृष्टि रखने के लिये सम्राट् बू ने सामन्त प्रथा प्रचलित की। प्रायः १२०० सामन्तों को सरकार की ओर से भूमि मिली। ये सब अधिकतर या तो शासक के नातेदार अथवा सुयोग्य राजकर्मचारी थे। पाँच श्रेणी के सामन्त होते थे—ड्यूक, मार्क्विस्, अर्ल, भाइकाउन्ट और बारोन। ड्यूक और मार्क्विस् को १०० वर्ग ली की जमींदारी मिली, अर्ल को ७० वर्ग ली और बाइकाउन्ट आदि को ५० वर्ग ली। तीन ली का एक मील होता है। इन सामन्तों के अतिरिक्त प्रत्येक जिले में राजकर्मचारी होते थे। वे अधिकतर शासन संबंधी देखरेख करते थे। सर्वोपरि हर पाँचवें वर्ष सम्राट स्वयं राष्ट्र की यात्रा करता, दिशा-पर्वतों को पूजा चढ़ाता, प्रजा के मुखियों और ग्राम-बृद्धों से मिलता, उनके अभाव और शिकायतों पर ध्यान देता, और लोक-गीत सुनता।

अनाथ और अपाहिजों का भरण-पोषण राष्ट्र की ओर से किया जाता था। थोड़े में शासक गरीब रियाया का माँ-बाप था।

सम्राट् परमेश्वर का प्रतिनिधि था। उसके प्रिय पुत्र के रूप में प्रजा का मुखिया बनकर वह पूजा चढ़ाता। इस प्रकार सम्राट् प्रधान पुरोहित भी था। इन्हीं दिनों ब्यूक टान् की देख रेख में धार्मिक क्रिया-काण्ड का क्रम निश्चित कर दिया गया। धार्मिक कृत्यादि के साथ नृत्य-गीत जोड़ा गया। चीनी लोग परमेश्वर को शांग-टी कहते थे।

हमारे देश के भरत जी की तरह चीन के प्राचीन इतिहास में ब्यूक अब् टान् आदर्श भाई माना जाता है। जब तक सम्राट् बू जीवित रहा, तब तक तन-मन से वह उसकी सेवा करता गया। एक बार कुछ स्वार्थी दरबारियों ने शिकायत की कि टान् षड्यंत्र रच रहा है। इस पर वह दरबार से अलग हो गया। थोड़े ही दिनों में चारों ओर ऋगड़ा फसाद होने लगा और अकाल पड़ा। तब सम्राट् ने स्वयं टान् से अपना पद सँभाल लेने के लिये कहा। और एक बार बू बहुत बीमार पड़ा। जब उसके जीने की कोई आशा न रह गयी, तब ब्यूक ने पितरों से प्रार्थना की थी कि उसके प्राण लेकर वे बू को स्वस्थ कर दें। इस रीति से उसने अपने भाई के प्राण बचाये थे। फिर भी बू बहुत दिन तक शासन न कर पाया। अकाल मृत्यु ने उसे आ घेरा। ऐसी दशा में ब्यूक अपने भाई के नाबालिग बेटे चेंग को गद्दी पर बैठा कर स्वयं राज्य शासन करता गया।

सम्राट् चाव (ईसा पूर्व १०५२) आखेट का बड़ा व्यसनी था। इस प्रसंग में वह बरजोरी रियाया से बेगार का काम लेता और उनके खेत की खड़ी फसल को हानि पहुँचाता था। इसलिये प्रजा उससे बिगड़ खड़ी हुई। अंततः उसने उसे एक छेद-वाली नाव पर बैठाकर डुबा मारा।

पाँचवाँ सम्राट् मू बड़ा घुमकड़ था। कहा जाता है कि वह पश्चिम की ओर दस हजार ली तक बढ़ गया और पश्चिमी दिशा की महामायी के दर्शन किये।

इसके बाद चऊ राजवंश की अवनति होने लगी। सम्राट् यु (ईसा

पूर्व ७८१-७७१) पाव-सी नामक एक रखेली के हाथ की कठपुतली था। कहा जाता है कि उस रमणी को रेशमी वस्त्र फाड़ने का शब्द सुनना अच्छा लगता था। इसलिये उसका मन ब्रह्माने के लिये राज-भवन में प्रतिदिन अनेक थान रेशमी कपड़े फाड़कर चिथड़े-चिथड़े कर दिये जाते थे। एक बार पाव-सी को प्रसन्न करने के लिये सम्राट् ने सामन्तों को धोखा दिया था। इसलिये उसे सिंहासन से हाथ धोना पड़ा। एक दिन किसी कारण वश पाव-सी बहुत रूठ गयी। उसे प्रसन्न करने के लिये सम्राट् ने बड़े-बड़े उपाय किये, फिर भी वह न मानी। निरुपाय होकर सम्राट् ने पहाड़ों की चोटियों पर सांकेतिक आग बालने की आज्ञा दे दी। लौ देखते ही सामन्तों ने सोचा कि जंगली जन-जातियों ने राजधानी पर धावा बोल दिया है। अतः दूर और निकट से वे सेना समेत सज-धज कर राजधानी में आ जुटे। फिर जब असली घटना मालूम हो गयी, तब रौंफ कर वे अपने-अपने इलाके की ओर चल दिये। यह दृश्य देख कर पाव-सी ठठा कर हँस पड़ी। इस घटना के बाद पटरानी के पिता ने कुछ जंगली जातियों के साथ राजधानी पर आक्रमण कर दिया। फिर पहाड़ों पर सांकेतिक आग जलाई गयी। परन्तु इस बार कोई भी सामन्त नहीं आया। सम्राट् मारा गया और पाव-सी गुम हो गयी। यू के निधन के बाद पिंग को गद्दी मिली (ईसा पूर्व ७७१)।

पश्चिम की ओर से जंगली जातियों का दबाव पड़ने के कारण राजधानी फेंग-काव से लोयंग में हटा दी गयी। इसके उपरान्त चऊ-राजवंश को दुर्दिनों का सामना करना पड़ा। सम्राट् का इलाका प्रतिदिन घटने लगा। दरबार की तड़क-भड़क और आनुष्ठानिक कृत्यादि क्रमशः फीके होते गये। उधर सामन्त लोग शक्तिमान् बनते गये। अब वे “राजा” कहलाये जाते थे। वे भारी सेना रख लेते और आपस में छीना-झपटी करते थे। चारों ओर अशान्ति और उपद्रव की हवा जोर से बहने लगी। धन-प्राण सुरक्षित न था। शक्तिमानों के अत्याचार से नीति का बाजार मन्दा पड़ गया। क्रमशः छः बड़े-बड़े सामन्तों को हरा कर चिन् जन-जाति के

लोग प्रबल बन गये (ईसा पूर्व २४६)। प्राचीन चीन का अंतिम दृश्य अतीव दुःखद था।

ऐसा लगता है कि चऊ-वंश के शासन-काल में खेती-बारी और उद्योग-धंधों की बहुत उन्नति हुई थी। २० से ६० वर्ष के प्रत्येक सशक्त पुरुष को राष्ट्र की ओर से भूमि मिलती थी। किसान अपना खेत जोतने के अतिरिक्त सामन्त के खेत में काम करता था। ६० वर्ष पार करने के बाद वह सरकार को अपना खेत लौटा देता था। इसके अतिरिक्त किसान को जमींदार के लिये जंगल, दलदल, समुद्र तथा झील से लकड़ी, सरकंडे, मछली और नमक जुहाना पड़ता और लोमड़ी, जंगली बिल्ली आदि मार कर उनकी खाल भेंट करनी पड़ती थीं। इनसे शीत वस्त्र बनते थे। उनकी स्त्रियाँ जमींदार के घर बेगार का काम-धंधा करती थीं।

उद्योग-धंधों के विकास का परिचय इससे मिलता है कि उन दिनों सात श्रेणी के बढ़ई, पाँच प्रकार के कसेरे-लोहार प्रभृति, पाँच श्रेणी के चमार, पाँच प्रकार के रंगरेज और दो श्रेणी के कुम्हार थे। उद्योग-धंधे मुख्यतः कुटीर-शिल्प के आकार में थे। पिता पुत्र को घरेलू उद्योग-धंधा सिखाता था।

सामन्त लोग अधिकतर नगरों में रहते थे। नागरिक जीवन के सूत्र-पात होते ही शिल्प-कला, चाल-ढाल और रुचि में बहुत कुछ सुधार हुए। इसकी सुविधा लेते हुए व्यापारी श्रेणी का आविर्भाव हुआ। प्रारंभ में तामे के सिक्के, रेशम के लच्छे, सोने के टुकड़े, मोती और रत्न-सब कुछ विनिमय के माध्यम माने जाते थे। इस प्रकार चऊ वंश के शासन-काल में शोभा-सदा और चमक दमक में चीन की अपूर्व उन्नति हुई थी। परन्तु उसकी नांव पोली थी। क्रमशः शासक लोग विलासी और ला-परवाह बनते गये। इसकी सुविधा लेकर सामन्त लोग शक्तिमान् बनते गये। फलतः राज्य भर में अराजकता का नंगा नाच होने लगा।

आश्चर्य का विषय है कि इन गड़बड़ी के दिनों में चीनी साहित्य की नांव पड़ी। मानव-जीवन की अस्थिरता और जटिलता कदाचित् उसकी

कल्पना-शक्ति को विकसित करती है। इन्हीं दिनों आचार्य कॉन्फूशियस् के नैतिक ग्रंथों, मेन्शियस् के सुचिन्तित निबंधों और चुआंग-ज़ू के दार्शनिक लेख आदि की रचना हुई। सर्वांगपरि इसी काल में चीनी कविता की आधार-शिला रखी गयी थी। कॉन्फूशियस् ने इसका रास्ता दिखाया। उसने उत्तरी प्रान्त में प्रचलित प्राचीन कविताओं का संग्रह कर एक अनमोल काव्य-ग्रंथ का संकलन किया। इधर दक्षिणी प्रान्त के कवि चूयुआन ने ली-साओ नामक दुःखद काव्य-ग्रंथ की रचना कर अमर बन गया। चू-युआन चू राज्य का सचिव था। उसने अपने प्रभु को धोखेवाज़ चिन लोगो के बहकावे में न आने की सलाह दी थी। इसलिये वह देश से निकाल बाहर कर दिया गया। अंत में मारे दुःख के कवि डूब मरा। कवि के पीठ फेरते ही चिन् वालों ने और-और राज्यों की तरह चू राज्य को भी हड़प लिया।

कॉन्फूशियस्—

कॉन्फूशियस् का असल नाम कुंग-फू-जू वा आचार्य कुंग था। कहा जाता है कि उसका जन्म प्राचीन शंग राजवंश में हुआ था। उसका पिता बड़ा बहादुर सेनाध्यक्ष था। कॉन्फूशियस् की नौ बड़ी बहनें थीं। सुनते हैं कि उसका जन्म चू-फू (शां दुङ्ग) की किसी कंदरे में हुआ था (ईसा पूर्व ५५१)। इस प्रान्त का प्राचीन नाम लू था। बाल्यावस्था में उसका पिता परलोक सिधारा। बचपन में वह और-और बालकों के साथ “राजर्षि” का खेल खेलता था। स्वयं राजर्षि बन कर वह धार्मिक कृत्यादि करता, पूजा का साज-सामान जुटाता और आसन लगा कर बैठा रहता। १७ वर्ष के होने पर कॉन्फूशियस् ने विद्वत्ता के लिये नाम कमाया। प्रारंभिक दशा में वह खलिहानों का निरीक्षक बनाया गया। आगे रैयतां के खेतों को देख-भाल करने लगा। इन्हीं दिनों उसका विवाह हुआ और पुत्र ली का जन्म हुआ।

२२ वर्ष के हो जाने पर कॉन्फूशियस् ने नौकरी छोड़ दी और अध्यापक बना। जिज्ञासु व्यक्ति मात्र के लिये उसकी पाठशाला के द्वार खुले

रहते थे। दक्षिणा सूखे मांस की बोटियाँ थीं। अध्यापक के रूप में वह स्वयं अथक परिश्रम करता और चेलों से भी कस कर काम लेता। वह स्वयं विनयी, सदाचारी और संतोषी था। वह कहा करता था कि जो विद्यार्थी ज्ञान और सत्य की खोज में लगा हुआ है, वह न तो वेष-भूषा की ओर ध्यान देता और न सूखे-सूखे भोजन से ही कूढ़ता है। एक बार किसी विद्यार्थी को दिन-दहाड़े झपकी लेते देखकर आचार्य झल्ला उठे। बोले—“सड़े-गले काठ पर नक्कासी का काम नहीं होता और न कीच की भीत पर पलस्तर चढ़ाया जा सकता है ! इस यूँ छोकरे को डाँटने से क्या लाभ !” इन्हीं दिनों आचार्य ने अपने विद्यार्थियों के लिये इतिहास, क्रिया कांड, गांधर्व और कविता की पाठ्य-पुस्तकों का संकलन किये। इनमें उनकी प्रगाढ़ विद्वत्ता और शोध-कर्म की झलक टपकती थी। प्राचीन चीन में इन ग्रंथों के द्वारा अनगिनत पीढ़ियों के लोगों ने अपनी चिंता-शक्ति को मूर्त्त बनाया और अपने नैतिक जीवन को विकसित किया।

तीस वर्ष तक अध्यापक का काम करने के बाद कॉन्फूशियस् लू राज्य की राजधानी का नगरपाल बनाया गया। स्वल्प काल में आचार्य ने अपने चरित्र-बल के प्रभाव से सारे नगर में शान्ति और अनुशासन स्थापित कर दिया। उसके काम से प्रसन्न होकर सामन्त-प्रधान ने उनको अपना महामंत्री बनाया। परन्तु अपने प्रभु को सदैव सुरा और नारी के व्यसन में लोट-पोट करते देख आचार्य ने पदत्याग किया। १४ वर्ष तक कॉन्फूशियस् ने सच्चारित्र शासक की खोज में प्राचीन चीन के भिन्न-भिन्न राज्यों का दौरा किया, परन्तु कहीं भी उसे चरित्रवान् शासक न मिला। सभी को उसने सुरा और नारी के कीच में बिलबिलाते पाया। निराश होकर वह घर लौटा। वहाँ के नये सामन्त ने समारोह के साथ उसकी आवभगत की। जीवन के अंतिम दिनों वह बराबर पढ़ता-लिखता रहा। इन्हीं दिनों उसने “युग-परिवर्त्तन” और “शीत-वसंत का इतिवृत्त” नामक दो अनमोल ग्रंथ लिखे जो अब तक प्रामाणिक माने जाते हैं। निदान ईसा पूर्व ४७८ में आचार्य ने शरीर छोड़ा। तब उसकी आयु ७३ थी। जीवन के अंतिम दिनों वह दुःख-

भरे शब्दों में बार बार कहा करता—“शासक वर्ग में प्रतिभा वा बुद्धि नहीं ! कोई मेरा कहना मानता नहीं ! अब मेरे दिन बीत गये !” लू के समीप उसका समाधि-मंदिर बना था । तीन साल तक उसके विद्यार्थी और अनुयायी लोग वहाँ शोक मनाते रहे ।

लोकाचार की दृष्टि में जीते जी कॉन्फूशियस् का आदर-सत्कार कम हुआ । अवश्य उसके विद्यार्थी उसका सम्मान करते । किन्तु देश के हर्ता-कर्त्ता-विधाता लोग उसे गद्यमय, आङ्गम्बर-प्रिय और आचार-अनुष्ठान का प्रेमी मानकर दूर से हाथ जोड़ते थे । कॉन्फूशियस् ने अपने जीवन-काल में प्राचीन चीन की राजनीतिक और सामाजिक दशा में भारी उथल-पुथल होते देखा था । उसने अपने नैतिक बल के सहारे उस बाढ़ की गति रोकने का भरसक प्रयत्न किया । किन्तु वह सफल न रहा । आश्चर्य नहीं, उस अतिकाय “गैङ्गे” को जीते जी मान्यता न मिली ।

किन्तु बाद के पीढ़ी वालों ने कॉन्फूशियस् का उचित समादर किया २००० वर्ष तक वह उनका नैतिक गुरु बना रहा । १६११ ई० तक प्रत्येक विद्यालय की भीत पर उसका चित्र दिखाई देता और विशेष विशेष अवसरों पर विद्यार्थी लोग उसे पूजते थे । कॉन्फूशियस् के रचित ग्रंथ बहुत दिनों तक एक मात्र पाठ्य-पुस्तक बने रहे । बाद के लेखक लोग उसी का ग्रंथ अनुकरण करते गये और शिष्ट जनों के लिये उनका गहन अध्ययन करना अनिवार्य माना जाता था ।

कॉन्फूशियस् ने किसी धर्म-मत वा पंथ की स्थापना नहीं की थी और न तो उसने किसी दार्शनिक तथ्य का ही आविष्कार किया । आमरण वह शिक्षा-व्रती बना रहा । लोक-चरित्र का गंभीर अध्ययन कर उसने लोकाचार संबंधी तथा दूसरों से कैसे बरतना चाहिए, इसके बारे में कुछ मोटे-मोटे नियम बताये थे । जनता ने साग्रह उन्हें अपनाया । रग-रग में वह प्राचीन-पंथी था । आमरण वह बीते काल की रीति-नीति फिर से चालू करने के पीछे पड़ा रहा । आध्यात्मिक विषयों को लेकर वह कभी माथा-पच्ची नहीं करता था । पूछने से कहा करता—“मानव जाति की सेवा कर

लेने के बाद आत्मिक विषयों की बारी आवेगी। जीवन के रहस्य का समाधान कर लेने के उपरान्त मृत्यु की समस्या हल की जायगी।” फिर भी वह अशरीरी जीवों के अस्तित्व में विश्वास करता और धार्मिक क्रिया-कांडों में सक्रिय भाग लेता।

ताओवाद

चीन में इस मत का नाम “लाओ-वाद” है। पाश्चात्य देश के निवासी इसे “ताओ-वाद” कहते हैं। इस मत के चालू करने वाले लाओ-जू थे। लाओ जू शब्द का अर्थ “पूज्य महादय” है। ऐसा लगता है कि लाओ-जू कॉन्फूशियस् के समसामयिक थे। कॉन्फूशियस् उनसे मिला भी था तथा महाकाय दानव से उसकी तुलना की थी। संभवतः लाओ-जू चऊ वंश के शासन-काल के अंतिम दिनों में राजकीय ग्रंथशाला के अध्यक्ष थे। राज्य के विघटन के बाद वह पश्चिम की ओर चल दिये; फिर लौट नहीं आये। उनकी पुस्तक का नाम—टाव-टेह-चिंग वा पंथ और पथिक है। पुस्तक में गहन तत्त्वों का समावेश है तथा भट से समझ में नहीं आती। इसमें छायावाद की भरमार है। इसलिये विद्वान् पाठकों ने उसका भिन्न-भिन्न अर्थ लगाया है। मोटे तौर पर उसका सिद्धान्त यह था कि मानव-जीवन सृष्टि-तत्त्व की अभिव्यक्ति मात्र है। उसका जीवन और मृत्यु एक समान्य तथ्य का अलग अलग पहलू हैं। सारी सृष्टि तथा उसके सब साज-समान अनित्य हैं। केवल पंथा सनातन और अविनाशी है। वही एक मात्र चिरंतन सत्य है। मानव सदैव हाय-हाय करता फिरता है। उसकी बेचैनी का कारण यह है कि वह अपने भाग्य में जो कुछ बदा है उसे अनयंत्रित करना चाहता है। इस प्रकार वह घटनाओं का स्वच्छन्द गति में बाधा डालता है। ज्ञान व्यर्थ है, क्रियावाद निरर्थक है, कामना हानिकारक है, धन-पद-इंद्रिय-जनित सुख-दुःख स्वप्न के समान मिथ्या है। मानव को मृत्यु से डरना नहीं चाहिये। उत्पात्ति के कारण में विलीन हो जाने का नाम मृत्यु है। ताओ वा सनातन पथ पर तभी चलना संभव होता है जब पथिक ज्ञान-विज्ञान की चर्चा ताक पर उठा रखे, तृष्णा वा कामना त्याग दे और

भाग्य को नियंत्रित करने का प्रयत्न न करे। थोड़े में लाओ-वाद का मूल सिद्धान्त निष्क्रियवाद था।

दूसरे शब्दों में ताओ-वाद ने लोगों को प्रकृति के साथ ताल-मेल रख कर चलने का निर्देश दिया। सामाजिक रीति-नीति को मुलादेने कहा तथा दिखावटी लोकाचार को मिट्टी में मिला दिया। ताओ-वाद के प्रचार के साथ साथ चीनी कवि लोग निराशा का राग अलापने लगे और चितेरे छायावाद के चित्र उरेहने लगे। प्राचीन चीन के जातीय चरित्र के संघटन में ताओ-वाद का भारी हाथ था। चीन की जनता क्रमशः हतोत्साह और निराशावादी बन गयी और वह भाग्य पर अधिक निर्भर करने लगी।

कालान्तर में ताओ-वाद धार्मिक पथ बन गया। बौद्ध मत के प्रचार होने पर ताओ-मत वालों ने उसकी बहुत-सी रीति-भाँत अपनायी। वे प्राणायाम करते, बोधिसत्त्वों की तरह मूर्तियाँ बना कर पूजते तथा मंदिर और मठ बनाते। लामा की तरह इस पंथ का एक प्रधान पुरोहित होता था। दरबार से उसे मान्यता मिलती थी। चाहे कुछ भी हो, ताओ-वाद ने न तो मुक्ति का संदेश सुनाया और न चीनी जाति के हृदय में आशा का दीपक बारा। आगे यह मत जादू-टोना, भूत-प्रेत और नाना प्रकार के कुसंस्कार के शिकंजे में जकड़ गया। संभवतः तांत्रिक ग्रंथों में इसी पंथ का नाम “चीनाचार” पड़ा है।

चिन् वंश (ईसा पूर्व २५५-२०६),

ऊपर कहा जा चुका है कि चऊ वंश की अवनति के दिनों में सारा देश छः स्वतंत्र राज्यों में बँट गया था। क्रमशः इन राज्यों को दबाकर चिन् वंशी शी हुआंग टी सम्राट् बन गया। चीनी भाषा में “टी” शब्द का अर्थ सम्राट् है। इस प्रकार शी हुआंग ने सारे देश के आर पार राजनीति के क्षेत्र में फिर से एकता स्थापित की। कालान्तर में लड़ भिड़कर उसने उत्तर में कोरिया से लेकर दक्षिण में अनाम तक, और पूर्व में समुद्र तट से लेकर पश्चिमी पर्वत श्रेणी तक अपना साम्राज्य विस्तृत किया। उसने सामंत प्रथा का अंत कर दिया। सारे साम्राज्य को ४० सूबों में विभक्त किया। इनका

प्रबंध सम्राट् के निर्देश के अनुसार कर्मचारी लोग करते थे। कर्मचारियों के अधिकार सीमित थे। सेना विभाग का शासन प्रबंध से कोई संबंध न था। प्रत्येक सूबे में सेना विभाग, शासन विभाग और कार-कून अपना अपना काम करते थे। केन्द्र में महामंत्री शासन विभाग तथा प्रधान सेना-पति सेना विभाग की देख रेख करता था। कुल नियुक्तियाँ सम्राट् स्वयं करता था।

इस प्रकार एकतन्त्रात्मक शासन-पद्धति का संघटन कर शी हुआंग ने साम्राज्य के सब विभागों में एक-रूपता लाने का प्रयास किया। सारे साम्राज्य में नाप-तौल, औजार-उपकरण, गाड़ियों के धुर, लेखन शैली प्रभृति पर बरजोरी एक-रूपता ला दी गयी। चिंता-धारा को नियंत्रित करने के लिये, कुछ वैज्ञानिक ग्रंथों को छोड़, कुल प्राचीन ग्रन्थ जला दिये गये। स्थानीय रीति-रस्में दबा दी गयीं और देश भर का निरस्त्रीकरण हुआ। देश के भिन्न भिन्न भागों को संबद्ध करने के लिये छायेदार राजमार्ग बनाये गये। हूण और जंग नामक जंगली जातियों की चढ़ाई रोकने के लिये उत्तर और पश्चिम में गढ़ों की कतारें बनवायी गयीं। कहा जाता है कि चिन् वंशीय सम्राटों के राज्य-काल से सारे पूर्वी भू-भाग का नाम चीन पड़ा।

शी हुआंग के मरने पर उसके पुत्र शी हुआंग द्वितीय को गद्दी मिली। वह दरबार के हिजड़ों के हाथ की कठपुतली बना रहा। कुल १४ वर्ष के बाद चिन् वंश की हति-श्री हो गयी। रैयत एकरूपता की धुन से घबरा गयी। उधर शासन-पद्धति की कठोरता से वह अकुला रही थी। फिर जिन प्राचीन राजवंशों को शी हुआंग टी ने बलात् दबा रखा था, उनके वंशजों ने चारों ओर गड़बड़ी मचा दी। निदान राजनीति के क्षेत्र की इस उथल पुथल को शान्त कर लिज्ज पंगने हान राजवंश की स्थापना की (ईसा पूर्व २०७) **हान् राजवंश (ईसा पूर्व २०७—२२० ई०)**

चीन के इतिहास में हान राजवंश के शासनकाल की बड़ी महत्ता मानी जाती है। हान वंश के शासक लोगों ने चीन-वालों के जातीय चरित्र तथा आचार-विचार पर अमिट छाप रख छोड़ी। इसलिये अभी तक

चीनी लोग अपने को “हान की संतति” मानते हैं और इसके लिये उनको भारी गुमान है ।

प्रारम्भिक दशा में लिऊ पंग हान नदी के तट पर बसे हुए एक छोटे से गाँव का मुखिया था । कुछ दिनों के बाद वह लुटेरा बन गया । इन्हीं दिनों उसने एक छोटी-सी सेना जुटा ली । आगे सियांग-यू नामक महावीर के साथ मिलकर उसने चिन् वंश की राजधानी पर छापा मारा । निदान चिन् वंश के अन्तिम शासक को मार कर उसने राजधानी पर अधिकार कर लिया । फिर सियांग-यू को हराकर लिऊ पंग गद्दी पर बैठ गया (ईसा पूर्व २०७) । उसने कई बार हूणों को मार भगाया । उसने चेंगान को राजधानी बनाया । मुख्यतः रैयतों को दबा रखने के लिए लिऊ पंग ने थोड़ा बहुत हेर फेर करके सामन्त प्रथा फिर से चालू की । पुराने जमींदार कुछ रख छोड़े गये । परन्तु अधिकतर इलाके उसने अपने साम्फेदार और पिछ-लगुओं को दिये । सामन्तों पर कड़ी दृष्टि रखी गयी और एक एक मिस रच कर इलाके हान वंश वालों के हाथ सौंपे जाने लगे । उसने सारे साम्राज्य को १३ खों में, प्रत्येक खे को कई विभागों में और प्रत्येक विभाग को कई जिलों में विभक्त किये । लिऊ पंग सुरा और नारी का बड़ा प्रेमी था । उसकी पटरानी की बहुत चलती थी । वह सदैव षड-यंत्र रचकर सामन्तों और राजकुमारों को एक दूसरे से लड़ा देती थी ।

लिऊ पंग के मरने पर उसके पुत्र हुई-टी को गद्दी मिली (ईसा पूर्व १६४) । ऊपर कहा जा चुका है कि स्वतन्त्र चिन्तन का कंठ-रोध करने के लिये चिन् वंशीय सम्राट् शी हुआंग ने बहुत-सी प्राचीन पुस्तकें जला दी थीं । फिर लिऊ पंग और सियांग-यूने जब चिन् राजधानी पर धावा बोल दिया, उस समय भी बहुत से अनमोल ग्रन्थ जल कर खाक हो गये थे । हुई-टी और उसके उत्तराधिकारियों ने प्राचीन ग्रन्थों की प्रतियाँ संग्रह करने में कुछ भी उठा न रखा ।

सम्राट् वेन (ईसा पूर्व १७६) और उसके पुत्र सम्राट् चिंग (ईसा पूर्व १५६) के राज्यकाल में बहुत-से रचनात्मक काम हुए । दोनों शासक

लाओ-जू के मत के अनुयायी थे। अतः दोनों ने प्रजा पर पग पग में विधि-निषेध लादना छोड़ दिया। वे स्वाभाविक नियम के अनुसार शासन करते रहे। इस प्रसंग में उन्होंने भूमि-कर उगाहना बन्द कर दिया, सजाएँ नरम कर दीं और हूण चढ़ाई करने वालों को उपहार और राजकुमारियाँ देकर मनाने की नीति अपनायी। इन दोनों के शासन-काल में देश की दशा हरी-भरी थी। सरकारी और रियाया के खलिहानों में अनाज ठसाठस भर गया। सम्राट् के धनागार में रुपये-पैसे के ढेर लग गये। सामान्यतः देहाती लोग गाय और भैंसों की सवारी करते थे। अब वे घोड़ों की सवारी करने लगे। पहले वे मोटा चावल और थोड़ा सा शाक खाते रहे। अब वे महीन चावल और नाना प्रकार के मांस खाने लगे। फिर देश में गो-धन की कमी न थी। थोड़े में लगभग ७० वर्ष तक चान में वास्तव में दूध और शहद की धार बहने लगी।

वू-टी- (ईसा पूर्व १४०-८७) हान राजवंश का छठा सम्राट था। वह स्वभाव का बड़ा जल्दबाज था और कभी सोच-विचार कर काम नहीं करता था। साथ ही वह यंत्र-मंत्र और ओम्हों का परम भक्त था। उनकी चिकनी-चुपड़ी बातें सुन कर अपनी आँखों से दैत्य-दानव देखने के लिये कई बार समुद्र तट-भूमि की यात्रा की। किन्तु बार बार उसे निराश होकर लौटना पड़ा। इससे खिसिया कर उसने कई ओम्हों को मरवा डाला। किन्तु थोड़े ही दिनों में वह फिर उनकी बातों में आ जाता। इसकी सुविधा लेते हुए दरबार से संबद्ध हिजड़ों ने उसके उत्तराधिकारी कू पर सम्राट् के विरुद्ध कृत्यादि रचने का आरोप लगाकर मरवा डाला। इस पर पटरानी वाई ने आत्म-हत्या कर ली। बिगड़ जाने से वह किसी की सुनता न था। कॉनफूशियस् के रचित ग्रंथों की प्रतियाँ खोज निकालने के लिए उसने आचायों के वंशधर की हत्या करवा दी। फिर भी वह बड़ा विद्या-प्रेमी था। उसके दरबार में कवि और लेखकों का आदर सम्मान होता था। वू-टी के शासनकाल में साम्राज्य का संघटन और विस्तार हुआ। उत्तर में मंगोलिया से दक्षिण में कान्टोन और अनाम तक, पश्चिम में

तुर्किस्तान तक और दक्षिण-पूर्व कोने में फूकियेन तक का सारा भू-भाग साम्राज्य के अन्तर्गत था। युद्ध-विग्रह के पीछे सम्राट् ने अपने पूर्वजों का संचित कुल धन फूँक दिया। इन्हीं दिनों प्रख्यात आविष्कारक चंग चियेन पश्चिम में पामीर और तारिम की तरेटी तक पहुँच गया। इस प्रकार उसने खोतन और काबुल से होते हुए भारत में पहुँचने के पथ का आविष्कार किया। पश्चिमी सीमा में रहने वाले यूनानियों से संपर्क स्थापित हो जाने से रोम से व्यापारिक संबन्ध स्थापित हुआ। यूनानियों ने चीनी वैद्यक शास्त्र और मूर्ति-निर्माण शिल्प को प्रभावित किया। चीनी भाषा में निदान शास्त्र का संकलन हुआ। सर्वोपरि इन्हीं दिनों चीन को बलूख और खोतन में आने वाले भारतीय व्यापारियों से बौद्धमत का पता चला।

वस्तुतः सम्राट् वू का शासन काल चीन के इतिहास का स्वर्ण युग माना जाता है। व्यापारी लोग दूर दूर के देशों से अनमोल और दुष्प्राप्य वस्तु लाकर राजधानी चेंगन की दुकानों को ठसाठस भर देते थे। सामन्त रजवाड़े अपने अपने इलाके के विचित्र द्रव्य उपहार के रूप में सम्राट् को देते थे। राजदूत और उपहार लाने वालों को खूब मांस और मद्य खिलाया-पिलाया जाता था तथा उनके मनोरंजन के लिए सरकस, कुश्ती, नृत्य-गीत प्रभृति दिखाये और सुनाये जाते थे। राजभवन दुनिया भर की विचित्र वस्तुओं का अजायब घर-सा बन गया। मील के किनारे सुगन्धित काठ का बना हुआ महल था। हवा चलने से मारे महक के वह महल महमहाने लगता था। “परीस्तान” महल के दरवाजों पर जो पर्दे लटकाये जाते थे वे चिड़ियों के पर और गँडे के बालों के बने हुए थे। शासक वर्ग के सदस्य और व्यापारी सुख विलास में लोट पोट करते थे। व्याह के अवसर पर जो जुलूस निकाले जाते थे, वे मील-मील भर लम्बे होते थे। इनमें पीली झंडियाँ लहराती हुई सैकड़ों बगियाँ रहती थीं। इनके दोनों बगलों में वर्दी पहन कर कुछ सार्इस दौड़ते चलते थे। धनिकों के घर के आँगन में सोनार काम करते थे। छज्जों पर से मोती की झालरें लटकायी जाती थीं। सम्राट् के नातेदार लोग शासक के व्यव पर स्वयं मौज लूटते थे। मृत धनिकों को दफनाते

समय बहुत खर्च किया जाता था। सागवान वा देवदार काठ का शवाधार बनाया जाता। शव ले जाते समय भारी जुलूस निकाला जाता था। किसानों को धोखा देकर व्यापारी मोटा रहे थे। राजमार्ग बन जाने से व्यापार को प्रोत्साहन मिला। सड़कों के किनारे सराएँ बनी नगरों में होटल होते थे। जहाँ किराये पर कमरे भी मिलते थे। दो-दो कोस की दूरी पर डाक घर होता था। रैयत की दशा क्रमशः बिगड़ती गयी। लड़ाई का खर्चा संभालने के लिये उससे अधिक से अधिक कर वसूल किया जाने लगा। इसके सिवा बेगार का काम भी लिया जाता।

नैतिक दशा—

बौद्ध मत के प्रचार के पहले चीन के आर पार निराशावाद फैला हुआ था। जनता कुसंस्कार और अंध-विश्वास के कीच में बिलबिला रही थी। वह आँखें बंदकर यंत्र-मंत्र, जादू-टोना और ओम्फे तथा जादूगरों की झाड़ू-फूँक और हाथ की सफाई में विश्वास करती थी। थोड़े में, प्राचीन रोम की तरह प्राचीन चीन में सांसारिक सुख-विलास की दिशा में बहुत कुछ प्रगति होने पर भी उसकी आत्मा को शांति न मिली। राजकीय धर्म पितरो का पूजन, भूत-प्रेत के अस्तित्व में विश्वास, कॉन्फ़ुशियस् का मत और ताओवाद की फोकी खिचड़ी था। इससे जाति की आत्मिक भूख नहीं मिटती थी। निराश हो कर वह असभ्य चढ़ाई करने वालों के देवताओं को मानने लगी। शी हुआंग, वू-टी प्रभृति सब भूत-प्रेत मानते थे। वू टी ने यह आरोप लगाकर अपने एक मात्र पुत्र को मरवा डाला।

प्राचीन ससार की और और आदिम जातियों की तरह चीनी लोगों पर भी येन केन प्रकारेण उबरता बढ़ाकर अधिक से अधिक उपज प्राप्त करने की धुन सवार थी। पर्याप्त भोजन मिलने की आशा से वे लगन के साथ खेतीबारी करते थे; अधिक मात्रा में दूध और मांस मिलने की आशा से वे प्रेम के साथ पशुपालन करते थे; और अधिक से अधिक संख्या में योद्धा, शिकारी और श्रमिक प्राप्त करने के लिये वे आबादी बढ़ाने के विषय में दत्त-चित्त थे। इस स्वाभाविक आकांक्षा के अतिरिक्त जिस जन-समाज में

देहात्मवाद का दौर-दौरा स्थापित हो जाता है, वहाँ संयम और नियंत्रण की कमी होना स्वाभाविक है। आश्चर्य नहीं, प्राचीन चीन में नीति का बाजार बड़ा मंदा था। अतिथियों की सेवा-टहल करने के लिये बहू-बेटियाँ लगाने की प्रथा थी। टीयेन चांग के हरम में सौ लंबोतरी स्त्रियाँ थीं। वह उन्हें अतिथियों की सेवा-टहल करने के लिये भेजा करता था। उसके ६६ पुत्र थे। अभिजात वर्ग का नवयुवक जब उपयुक्त कन्या की खोज में अपने मातृ-कुल में पहुँचता था, तब उसकी देख-भाल करने के लिये कन्याओं की पलटन लगायी जाती थी। विवाह के बाद नव-बधू के साथ सहेली बनकर कुछ स्त्रियाँ जाती थीं और वे बहुत दिनों तक वर के यहाँ ठहरती थीं। पिता प्रायः भावी पुत्र-बधू पर बलात्कार करने के तार में लगा रहता था। यदि वह सफल होता तो पुत्र को पैतृक सम्पत्ति नहीं मिलती। प्राचीन चीनी समाज में भगिनी-दूषण की प्रथा व्यापक रूप में प्रचलित थी। आगे लड़कियाँ परदा करने लगीं। विवाह के पहले तीन महीने तक बालिकाएँ किसी भी पुरुष के साथ नहीं मिलती थीं। राजकुमारी नान्-टेह भाई की रखेली बनी थी। इसलिये लोग उसे “सूअरी” कहते थे। कॉन्फ़ूशियस उससे मिलने गया था। परदे की आड़ में छिपकर उसने आचार्य की आव-भगत की। ची राज्य के हुआन ने अपनी बहन और बुआ-वर्ग के साथ अवैध संपर्क स्थापित किया था। सामन्त लोगों के यहाँ हरम होता था। पटरानी बारी के अनुसार प्रति रात एक स्त्री भेजा करती थी। जिस स्त्री की बारी आती थी, वह आनुष्ठानिक क्रिया और उचित वेश-भूषा करके पति के पास जाती थी।

शी हुआंग ने एक शिलालेख में देश-विदेश में नैतिक दशा सुधारने का दावा किया है। उसने पुरुषों को खेतीबारी करने के लिये बाध्य कर और स्त्रियों को घर-गृहस्थी के काम में लगाकर व्यभिचार पर प्रतिबंध लगाया। सम्राट वेन ने दक्षिणी प्रान्त में पूर्णतया शुचिता स्थापित की। सम्राट् कौ-चियेन ने बूद्धों का तरुणी से विवाह करने और बूद्धाओं के लिये नवयुवक पति करने पर रोक-थाम की। यदि कोई स्त्री घर से निकल जाती तो पुत्र-

पुत्री पिता के पास रहतीं। बुरी नीयत से प्रेरित हो यदि कोई बरजोरी घर में घुसता, तो उसकी हत्या कर दी जा सकती थी। शी हुआंग ने पुत्रवती विधवाओं को फिर से विवाह करने से रोका। विवाह कर लेने पर किसानों के बेटे घरबार छोड़ देते और ससुराल में रहकर उनके खेत में काम-धंधा किया करते थे। शी हुआंग ने इस प्रथा पर पावंदी लगा दी और पिता को परिवार का हर्ता-कर्ता बना दिया।

ऊपर दी हुई सुधारों की सूची से प्राचीन चीनी समाज में जो बुरी प्रथाएँ प्रचलित थीं उनका थोड़ा बहुत पता चलता है। आदिम काल में सब समाज में नाना प्रकार की दुर्नीति प्रचलित थी जो आधुनिक काल के लोगों को अस्वरती हैं। इसमें अचंभा करने की कोई बात नहीं। परन्तु ऐसी गिरी हुई दशा में कभी कभी सती स्त्रियों के दर्शन मिल जाते हैं। तब हमारे आनंद का वार-पार नहीं रह जाता। लिजंग प्रान्त के शासक की दृष्टि में कोई पुत्रवती विधवा जँच गयी। वह उससे विवाह कर लेना चाहता था। किन्तु वह विधवा बराबर ना करती गयी। अंततोगत्वा उसकी कृपा-दृष्टि से निस्तार पाने के लिये उस साध्वी ने अपनी नाक काट दी। उसी प्रकार एक नव युवक को विवाह के पाँच दिन बाद व्यापार के प्रसंग में अचानक बाहर जाना पड़ा। पाँच वर्ष तक वह घर न लौटा। उसकी पतिव्रता पत्नी साग्रह बाट जोहती रही। पाँच वर्ष के बाद बड़ी बड़ी आशाएँ लेकर युवक अपने गाँव को लौट रहा था। उस समय उसकी पत्नी गाँव के बाहर लकड़ी बटोर रही थी। पति ने पत्नी को नहीं पहचाना। पत्नी ने पति को न जान पायी। ऐसी परिस्थिति में पति ने पत्नी से कुछ गंदे प्रस्ताव किये। सुनते ही वह स्त्री वहाँ से भाग निकली। पति के घर पहुँचने के बाद जब उस महिला को मालूम हुआ कि उसके पति ने उससे गंदे प्रस्ताव किये थे, तब उसने आत्म-हत्या कर ली।

ऊपर कहा जा चुका है कि सम्राटू वू का चरित्र बहुत अच्छा न था। उसका हरम देश-विदेश की स्त्रियों से सदैव ठसाठस भरा रहता था। इस विषय का उसे बड़ा अभिमान था। युआन-टी (ईसा पूर्व ४८-३३) भारी

विद्वान् होते हुए भी दरबार के हिजड़ों के हाथ की कठपुतली बना रहा । चेंग-टी (ईसा पूर्व ३२-७) विद्वान् था, परन्तु बड़ा लम्पट था । रात को वेश बदलकर वह निन्दित स्थानों का सैर-सपाटा किया करता था । आई-टी (ईसा पूर्व ७-१ ई०) हरम छोड़ कर कभी बाहर नहीं निकलता । उसने एक कुटने को सेनापति बनाया । राज घराने की अधोगति होने से विद्रोह का होना स्वाभाविक है । पटरानी के साथ षड्यंत्र रच कर वंग मंग नामक एक जन-नायक ने सम्राट् पिंग-टी का वध कर दिया और एक नाबालिग को गद्दी पर बैठाकर स्वयं शासन करने लगा । आगे ६ ई० में वह स्वयं सम्राट् बन बैठा । उसके स्थापित राज-वंश का नाम सिन् वा नवीन वंश पड़ा है ।

वंगमंग ने सारी भूमि का राष्ट्रीयकरण करके नये सिरे से उसे बाँटा । उसने प्राचीन मुद्रा और कौड़ी फिर से चालू की । सरकारी गोदाम और खलियान बने; कुल वस्तुओं का भाव निश्चित कर दिया गया; नमक-लकड़ी-पानी पर एकाधिकार स्थापित हुआ; सिंचाई, खेतीबारी, जंगल और जन-सेवा के अलग-अलग महकमे बने । इन सुधारों को कार्यरूप देने से स्वार्थी व्यापारी और धनिक वर्ग वंग मंग के कट्टर शत्रु बन गये । उन्होंने षड्यंत्र पचकर कुआंग वू नामक हांग वंशी एक राजकुमार को अपना मुखिया बनाया । कुआंग वू ने वंग मंग को युद्ध में परास्त किया । इस प्रकार चीन में फिर एक बार हान वंशियों की तूती बोलने लगी । इतिहास में इस राज-वंश का नाम पूर्वी हान् वंश पड़ा है (२५ ई०) ।

पूर्वी हान् वंश (२५-२२० ई०)

कुआंग वू (२५-५८ ई०) ने लो यांग को राजधानी बनाया । वह स्वयं कॉन्फूशियन् शास्त्र का भारी विद्वान् था । अतः सदैव कॉन्फूशियन् मतवाद और ताओ-वाद का समन्वय करने की धुन में लगा रहता था । कुआंग के शासन काल में शिक्षा को प्रोत्साहन मिला । पाठशालाओं में धार्मिक और नैतिक शिक्षा दी जाने लगी । इन्हीं दिनों चीन में पहला विश्व-विद्यालय स्थापित हुआ ।

मिंग-टी (५८-७६ ई०) के शासन-काल में चीन में पहले पहल बौद्ध मत का प्रचार हुआ। कहा जाता है कि सम्राट् मिंग ने ६१-६७ ई० में बुद्ध भगवान् का संदेश चीन में लाने के लिये कुछ प्रतिनिधि भारत में भेजे थे। बौद्ध भिक्षु लोग पाई-मा-से नामक महल में ठहराये गये। वे वहाँ रह कर बौद्ध मत के शास्त्र ग्रंथ चीनी भाषा में अनुवाद करने लगे। इस प्रकार बहुत से संस्कृत पारिभाषिक शब्द चीनी भाषा में खप गये।

लिऊ-चे इस राज वंश का छठा शासक था। वह साहित्य और शिल्प-कला का प्रेमी था। प्रख्यात ऐतिहासिक से-मा-चियेन ने इसी समय प्राचीन चीन का इतिहास लिखा था।

हान् राज-वंश के शासन-काल में पहले पहल कागज बना था (१०५ ई०)। बौद्ध विहारों में इसी समय पुस्तकें छपने लगीं। इस प्रसंग में कहा जाता है कि “वज्रच्छेदिका-पञ्चा-पारमिता” नामक सूत्र पहले पहल छपा गया था।

चीन में बौद्ध मत का काया पलट हुआ। उसे कॉन्फूशियन् मत और ताओ-वाद का जामा पहनाया गया। कान् मिन् नामक दया देवी का आविर्भाव हुआ। अपढ़ जनता उसी देवी को अधिक मानने लगी। फिर भी बौद्ध मत ने भूखे-प्यासे चीन को आत्मिक भोज्य-पदार्थ दिया, जिससे उसे नैतिक बल प्राप्त हुआ।

उत्तर काल के हान् राजवंश के अन्तिम दिनों में चारों ओर गड़बड़ी फैल गयी। दरबार में दलबन्दी हुई। प्रारम्भ में आदर्शवादी और कायर विद्वानों से दरबार के हिजड़ों से खींचा-तानी चलने लगी। जैसे जैसे शासक लोग दुर्बल बनते गये, वैसे वैसे हिजड़ों ने बल किया। सन् १६८ में उन्होंने सौ विद्वानों का सफाया कर दिया और लगभग ७०० को बंदी-शाला में ठूस दिया। उधर पटरानी के नातेदारों से हिजड़ों की बनती नहीं थी। फलतः बहुत दिनों तक चीन में अशान्ति और अव्यवस्था चलती रही। अंततः तीन स्वतन्त्र राज्य स्थापित हुए। यांग सी के उत्तर में वाई;

दक्षिण में वू और पश्चिम में शु । २६५ ई० में इन तीन राज्यों को एक साथ मिलाकर सिन् वंश स्थापित हुआ ।

२२३ ई० से ५८१ ई० के बीच नानकिंग ने बारी बारी से वू, सिन्, सुंग, ची, लियांग और चेन् नामक छः राजवंशों का उत्थान और पतन देखा । इन दिनों बड़ी अशान्ति फैली हुई थी । निरन्तर गृह-युद्ध और बाहरी हमले होते रहे । छापामार अधिकतर तुर्क, तातार, मंगोल और तिब्बती थे । इतिहास में उनका नाम पंच-हू वा विदेशी पड़ा है । कालान्तर में उत्तरी चीन में उन्होंने स्वतन्त्र रियासतें स्थापित कीं । अंततः टो-पा उप-जाति ने शेष चार जन-जातियों को एक साथ मिलाकर एक शक्तिमान् राज्य का संघटन किया । क्रमशः वे चीनी संस्कृति और सभ्यता अपना कर पक्के चीनी बन गये । साहित्य, चित्रकारी और मूर्ति-निर्माण-कला के क्षेत्रों में इनकी देन अनमोल मानी जाती है ।

इन गड़बड़ी के दिनों में चीनी समाज में जाति-भेद की प्रथा-सी चल निकली । सिन् वंशियों के शासन काल में राज-कर्मचारी नौ श्रेणी में विभक्त किये गये थे । अव्यवस्था के युग में सारा अधिकार कुछ प्रभावशाली परिवारों के हाथ में केन्द्रित हो गया । सरकारी पदों पर इन्हीं का एकाधिकार था । सामान्य जन छोटे मोटे पदों पर नियुक्त किये जाते थे । इस प्रकार कालान्तर में उच्च श्रेणी के रईस और निम्न वर्ग के सामान्य जनो के बीच भारी दीवार खड़ी हो गयी । उधर भिन्न भिन्न श्रेणी के कर्मचारियों की अलग अलग जातियाँ बनीं । ये सब एक दूसरे से तथा रईस लोग सामान्य जन से व्याह-शादी का नाता नहीं जोड़ते थे । पुनः उत्तर में हू जातियों के बस जाने से इस प्रथा ने और भी जोर किया । उत्तर काल के शासक लोग तक कुलीन नहीं माने जाते थे । यद्यपि दक्षिण के प्राचीन रईस राज-परिवार से वैवाहिक सम्बन्ध जोड़ने से हिचकिचाते नहीं थे, वे उत्तर के राज-परिवारों से नाता नहीं जोड़ते थे । ऐसी दशा में चीन के सात प्राचीन खानदानी परिवार के लोग आपस में व्याह-शादी करते थे । यह प्रथा सीधे टंग वंश तक चलती रही ।

फिर इन्हीं दिनों निरन्तर युद्ध-विग्रह और अशान्ति-उपद्रव के कारण धन और जीवन की सुरक्षा जाती रही। इसलिए जनता कुछ निराशावादी बन गई। कॉन्फूशियस् के सिद्धान्तों में जी-जान नहीं रह गयी थी। उसमें उपचार और अनुष्ठान की भरमार हो गई थी। इसकी ओट में सरकारी कर्मचारी लोग गरीब रियाया को सताते थे। इससे दुःख होकर कुछ चिन्ता-शील विद्वान् और दार्शनिक अबाध चिन्तन में रस लेने लगे। वे आनुष्ठानिक क्रिया-काण्ड की निंदा करते फिरते, मद्यपान करते, प्रकृति और काव्य की चर्चा करते तथा संयम और नियंत्रण निरर्थक बताते। कालान्तर में इस विचार के लोगों का नाम “विशुद्ध-वादिन्” पड़ा। इनमें “बैसवाङ्गी के सप्तपत्नियों” का नाम इतिहास-प्रसिद्ध है। इनका मुखिया युआन ची था। वह कॉन्फूशियस् मत के अनुयायी तथा राजनीतिज्ञों की धज्जियाँ उड़ाते हुए व्यंग करता रहा। परन्तु उसकी प्रतिभा के आगे स्वयं सम्राट तक थर्राता था। राज-परिवार की किसी कन्या के साथ उसके विवाह का प्रस्ताव लेकर कुछ मध्यस्थ राज-कर्मचारी उसके बैकुण्ठ में पहुँचे। उनके उद्देश्य का पता चलते ही युआन ची निरन्तर दस दिन तक अनवरत मद्यपान करता रहा। यह दृश्य देखकर मध्यस्थ लोग उलटे पाँव घर लौटे। विशुद्ध-वादियों की सम्मति थी कि बौद्ध मत का अनुयायी बनने से सांसारिक झंझट और कामना के हाथ से निस्तार नहीं मिलता। प्रचुर सुरापान करने और प्रकृति की गोद में लोट पोट करने से ही तृष्णा की निवृत्ति होती है।

निदान ५८६ ई० में छोटी छोटी सब रियासतों को एक साथ मिला कर क्रम से सुई और टंग राज वंशों की स्थापना हुई। चीन के इतिहास का यह गौरवमय काल था।

इस प्रकार बारंबार राजनीति के क्षेत्र में उथल पुथल होने पर भी चीनी समाज के आधारिक संघटन पर उसका कोई प्रभाव न पड़ा। वह ज्यों का त्यों बना रहा। आदिम काल से वह ग्राम्य जीवन पर आधारित था। गाँवों में प्रायः संयुक्त परिवार के लोग रहते बसते थे। संयुक्त परिवार

यद्यपि नाम के लिये पितृ-प्रधान था, तथापि दादी उसकी सर्वे सर्वा मानी जाती थी। वहाँ अनुशासन और व्यवस्था की भारी पाबंदी थी। कोई मनमानी नहीं कर सकता था। कोई भी औरों पर रंग जमाने का प्रयास नहीं करता। प्रत्येक गाँव में बहुधा एक ही गोत्र के लोग रहते थे; सभी का उपनाम एक होता था; सामुदायिक सम्मेलन गृह, जो पुरुषों के लिए शीत-निवास था, सामान्य होता था तथा खेत-खलिहान भी सामान्य होता था। गाँव पंचायत के हाथ में कुल अधिकार होते थे। एक एक गाँव में एक एक स्वतंत्र परिवार रहता था। वहाँ रहते रहते लड़के बड़े बूढ़ों को मानने और बृद्ध पिता की सेवा टहल करना सीखते थे। बेदंगों पर जनमत का दबाव पड़ता था।

इस प्रकार समाज निजी दंग से एक-एक सदस्य का चाल-चलन नियंत्रित करता था। उधर श्रेणी वा संघ आर्थिक विषयों की देखभाल किया करता। उपज, वितरण, नाप-तौल, दर-भाव, व्यापार के विधि-विधान-सभी कुछ अनुभवी बूढ़ों की पंचायत करती थी। वह दोषियों को दंड देती तथा समाज से वहिष्कार भी कर देती थी। इस प्रकार प्रत्येक नागरिक जन्मगत संस्कार की तरह कुछ रीति-भाँत मानकर चलता था, जिस से वह राजकर्मचारियों के चगुलों में झूट नहीं फँसता।

संयुक्त परिवार और व्यावसायिक श्रेणियों के अतिरिक्त विद्यालय थे जहाँ पितृ-भक्ति प्रमुख सद्गुणों को विकसित करने, आज्ञापालन, ईमानदारी, सरलता और शुचिता का पाठ पढ़ाया जाता था। साथ ही विद्यार्थियों को परम्परा के प्रति श्रद्धालु बनने की शिक्षा दी जाती थी। चऊ शासन काल से आठवीं शती तक शिक्षा का नियंत्रण राष्ट्र की ओर से होता रहा। आगे लोक-शिक्षा का महकमा जनता के हाथ में सौंप दी गयी।

अतः चीनी समाज के तीन स्तंभ-पारिवारिक संगठन, श्रेणी और शिक्षा-पद्धति-थे। आदिमकाल से चीनियों का जातीय चरित्र इसी साँचे में ढलता गया। आश्चर्य नहीं, स्वभाव के वे अनुशासन-प्रिय, सुशील, शान्ति-प्रिय और समष्टिवादी हैं। अतः जब तक सामाजिक बंधन बना

रहा, तब तक चीनी लोग इसकी चिन्ता नहीं करते कि कौन उन पर शासन करता है ।

इस विषय में चीन के इतिहास की धारा बहुधा भारत के इतिहास से मिलती जुलती है । कालान्तर में देश पराधीन हो जाने पर भी हमें सामाजिक स्वतंत्रता उपलब्ध थी । पाश्चात्य संस्कृति और सभ्यता के साथ संपर्क स्थापित होने के बाद हमारा सामाजिक बंधन शिथिल होता गया । तभी से हमलोग पूर्णतया पराधीन हो गये थे ।

उत्सवादि—

प्राचीन काल में अधिकतर चीनी खेती बारी करके पेट पालते थे । अतः उनके उत्सव और मेले बहुधा खेतीबारी से संबद्ध होते थे । फसल काटने के समय प्रतिवर्ष कटाव का उत्सव धूध-धाम के साथ मनाया जाता था । इस अवसर पर लोग मित्रों के यहाँ उपहार भेजते थे ।

कभी कभी समारोह के साथ जिला उत्सव मनाया जाता था । इस प्रसंग में लक्ष्य-बेध की प्रतियोगिया, पानोत्सव, भूत-प्रेत भगाने के लिये चेहरे पहन कर नाच प्रभृति होते थे । ऐसे जवाबड़ों में किशोरों को औपचारिक रूप से टोपी पहना कर बालिग बनाया जाता था ।

चीन में जाड़े के दो महीने खेतीबारी से संबद्ध कुल काम-काज ठप हो जाता था । अतः शीत ऋतु आने के पहले महान्नो (शीतोत्सव) और बसंत के प्रारंभ में पा-च्वा (वा वसंतोत्सव) मनाते समय लोग पागलों के समान बरतते थे । उतारे का ऊधमी नाच नाचते और बेधड़क मदिरा पीते । ओम्फा लोग मृत पशुओं की खाल ओढ़ते थे । बिल्ली और चीतों की खाल ओढ़कर नाना शैली का नाच नाचा जाता था । ऐसे अवसर पर नृत्य-गीत की प्रतियोगिता के अतिरिक्त खेल कूद की भी प्रतियोगिता होती थी । इन जमघटों में स्त्रियाँ भाग नहीं लेती थीं ।

हल जोतने का उत्सव-वसंत के आने के साथ-साथ औपचारिक रीति से हल-कर्षण का उत्सव मनाने की रीति थी । इस अवसर पर भेड़, काले रंग का वृषभ आदि बलि चढ़ाये जाते थे । राष्ट्र-पिता के रूप में शासक

स्वयं हजार एकड़ क्षेत्रफल वाले चरागाह में हल जोतवाता था। चऊ वंश के सुआन ने इस प्रथा का उल्लंघन किया था। फलतः युद्ध में उसकी हार हुई।

नव-वर्षोत्सव-शीतोत्सव के सिलसिले में नव-वर्षोत्सव मनाने की प्रथा थी। यह उत्सव निरंतर १६ दिन तक मनाया जाता था। चालू साल के अंतिम १२ दिन शुद्ध काल माने जाते थे। अंतिम दिन १२ जानवरों का सामूहिक नृत्य होता था। नव वर्ष के प्रारंभिक छः दिन पालतू पशुओं के कल्याण के दिन माने जाते थे तथा सातवाँ दिन मानव का हितकारी माना जाता था। शीतोत्सव का दूसरा नाम “लंबी रात का गहन पानोत्सव” था। प्राचीन काल में इन दिनों चीनी किसान लोग अनवरत सुरापान करते हुए लक्ष्य-बेध का खेल खेलते थे। यह खेल खेलते समय वे एक बड़े गगरे के मुँह के भीतर तीर छोड़ते थे। शीतोत्सव के अंतिम दिन बड़ी हुल्लड़बाजी होती थी। उस दिन रात को दिया बुताकर स्त्री-पुरुष अँधेरे में एकत्र हो आपस में छीना-झपटी करते हुए एक दूसरे का पहनावा फाड़ते थे। राज-भवन में बत्तियाँ बुझाकर नंगे स्त्री-पुरुष गीत गाते हुए एक दूसरे का पीछा करते थे। खेल समाप्त हो जाने पर फिर से दीप जलाये जाते और उपस्थित नर-नारी गोलाकार में घूम-घूमकर नाचती थीं। पौफटते ही मशालें ऊपर उठाई जाती थीं और लाल रंग का नंगा बच्चा प्रस्तुत किया जाता था। बच्चा सूर्य का प्रतीक माना जाता था। इस प्रकार अग्नि के अोज में नव-जीवन फूँका जाता था।

काओ-शिन उत्सव-काओ-शिन चीन के आदिम राजाओं में से था। उसकी दो रानियाँ थीं। ईश्वर की कृपा से दोनों ने एक-एक पुत्र जना। ईश्वर उन बच्चों के पिता माने गये। तब से सुपुत्र प्राप्त करने के लिये बासन्ती सम-रात्रि के दिन स्त्री पुरुष खुले मयदान में एकत्र हो यह उत्सव मनाते रहे।

नदी देवता का विवाह-यही प्रान्त में प्रति वर्ष एक रूपवती कन्या को भर पेट खिला-पिला और नव-बधू की तरह साज-सिंवार कर सुहाग शय्या

पर लेटा दिया जाता था। फिर वह तख्ता नदी में छोड़ दिया जाता था। अंततः वह कन्या डूब मरती थी। चिन् वंश के शासनकाल में एक राज-कुमारी नदी देवता के साथ ब्याही जाती थी।

दैत्य के सम्मान में नौका-उत्सव-ग्रीष्मकाल के प्रारंभिक दिनों में मनाया जाता था।

सामुदायिक मिलन मंदिर से संबद्ध उत्सव-जाड़े के दो महीने चीनी किसान लोग गाँव के सामुदायिक मिलन मंदिर में रात बिताते थे। उधर घरवाली अकेली पड़े-पड़े घर अगोरती थी। ऐसी दशा में मन बहलाव के लिये किसान लोग कभी-कभी मिलन मंदिर में उत्सव मनाते थे। ऐसे अवसरों पर वे बेधड़क सुरा पान करते। इसके अतिरिक्त लक्ष्य-बेध तथा शेखी बघारने की प्रतियोगिता होती और खूब खाया-पीया जाता।

नदी-पार करने का उत्सव-खेत में पानी बरसाने और बाँझपन हटाने के लिये नव युवतियाँ खेत के धरातल पर नवयुवकों के साथ छीना-झपटी और लोट-पोट करती थीं। संभवतः यह एक प्रकार का टोना था। इसके बिलकुल पहले वे अध-नंगी दशा में नदी में तैरती थीं। सामान्यतः यह उत्सव वसंत काल में मनाया जाता था।

सामुदायिक विवाह-प्राचीन चीन में विवाह के ऋतु-शरत् और वसंत होते थे। चीनियों का विश्वास था कि शरत् काल में कुमारी कन्याएँ नव युवकों का जी लुभाती थीं और वसंत में नव युवक लोग कन्याओं का मन आकृष्ट करते थे। इसका भेद यह था कि जाड़े में किसानों का खलियान ठसाठस भरा रहता था। उधर वसंत में स्त्रियों के हाथ में बुने हुए सूत और रेशम के कपड़े पर्याप्त मात्रा में होते थे। अधिकतर विवाह वसंत ऋतु में पक्का हो जाता था। इसमें बहुधा कन्याएँ क्रियात्मक भाग लेती थीं।

खेत से संबद्ध काम-काज और बुनावट समाप्त होते ही शरत् और वसंतकाल में गाँव-गाँव में नवयुवक और कुमारी कन्याओं का भारी जमावड़ा होता था। एकत्र हो वे मिलते-जुलते, खेलते-कूदते और नाचते गाते थे। फिर नाचते हुए आमने-सामने खड़े होकर वे फूलों की लड़ाई लड़ते,

केले की पत्ती तोड़ते समय आपस में छीना-फूटी करते अथवा गीत गाते हुए पौधे आदि नोचते थे। ऐसे समय यदि कोई कन्या किसी नवयुवक का दिया हुआ फल-फूल का उपहार स्वीकार कर लेती, तो उसका विवाह पक्का हो जाता। विवाह पक्का होने के प्रतीक के स्वरूप भावी वर-ब्रधू एक दूसरे के यहाँ एक-एक हंस भेजती थीं। इस प्रसंग में पान भोजन होता और उपहार का लेन-देन होता। आनुष्ठानिक कृत्यादि स्यात् नाम मात्र होते थे। फिर भी विवाह-बंधन स्थायी माना जाता था। वर को प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी—“आजीवन, आमरण मैं तुम्हें सुख-दुःख की साधन बनाता हूँ। मैं तेरा हाथ अपने हाथों में लेता हूँ। इसी दशा में मैं बुढ़ा जाऊँ!”

अंत में मनोरंजन के कुछ सामान्य साधनों का वर्णन हो रहा है।
आखेट—

मनोरंजन के साधनों में आखेट बड़ा प्राचीन था। आदिम काल में कन्याओं को मोहित करने के लिये पुरुष शिकार खेलते समय बहादुरी का प्रदर्शन करते थे। सम्राट् चाओ शिकार में बड़ा रस लेता था। इस प्रसंग में वह किसानों से बेगार का काम लेता और खेत की खड़ी फसल रौंद देता। इसलिये किसान लांग उससे चिढ़ गये। एक दिन आखेट के सिलसिले में चाओ को नदी पार करना पड़ा। बिगड़े हुए किसानों ने सम्राट् को छेद-युक्त एक नाव पर बैठाया। मत्स्यार तक पहुँचते ही वह नाव डूब गयी। पूर्व हान काल की बनी हुई काँसे की फूलदानियों पर शिकार के दृश्य खुदे हुए हैं।
नौका-विहार—चाई-कि पति के साथ नाव की सैर कर रही थी। अचानक नाव उलट गयी। इससे पति की हिम्मत जाती रही, परन्तु पत्नी अविचलित रही। पत्नी का ढारस देख कर सामंत ने खिजला कर उसे मायके भेज दिया। वहाँ उसका फिर से विवाह करवाया गया। इस पर दोनों वंशों के बीच बहुत दिनों तक कशम कश चलती रही।

नृत्य—

प्राचीन ग्रंथों में कई प्रकार के नृत्यों का उल्लेख हुआ है। पानी बरसाने के लिये जो नाच नाचा जाता था, उसका नाम शंग-यंग था। यह

नाच नाचते समय एक ही पैर का उपयोग होता था। महोका-नाच नाचते समय नव युवतियाँ (सर पर महोका पच्ची की तरह कलगी बाँध कर नाचती थीं। इस तर्ज के नाच का चालू करने वाला यू शान था। हुआन-युआन दरें का मुँह खोलने के लिये राष्ट्र-प्रधान भालू की खाल ओढ़ कर 'भालू का नाच' नाचता था। सामंतों के दरबार में नव वर्ष के उपलक्ष्य में ओम्फे चेहरा पहन और भालू की खाल ओढ़ कर नाचते थे। इनके साथ चार भाँड़ ढाल और बरछा लेकर नाचते थे।

गेंद—

गाते हुए विवाहार्थी नव युवक लोग कन्याओं के साथ गेंद खेलते थे।

फूल तोड़ना—

नवयुवक और युवतियाँ एक साथ मिल-जुल कर फूल तोड़ती थीं।

तुकबंदी की प्रतियोगिता—

विवाहार्थी नव युवक और नव युवतियों के बीच कविता रचना की प्रतियोगिता होती थी।

लक्ष्य-बेध की प्रतियोगिता—

लक्ष्य-बेध की प्रतियोगिता के अवसर पर यंत्र संगीत होता रहता था। दो-दो वा तीन-तीन धनुर्धर दलबद्ध हो ताल-लय के साथ सामंजस्य रखकर चलते-फिरते, झुकते-सलाम करते, निशाना लगाते इत्यादि। निशाना ठीक लगते ही जो मनुष्य लक्ष्य के पास खड़ा रहता था, वह जोर से चिल्लाकर बोलता—'मारा' ! हारने वाला धनुष की डोरी खोलकर विजयी के पास पहुँचता। सान्त्वना देने के लिये विजयी हारने वाले को सींग में भर कर मद्य उपहार देता और विजयी दूसरे प्याले से पीता था। कभी-कभी धनुर्धारियों का द्वंद्व-युद्ध भी होता था।

डोंग हाकने की प्रतियोगिता—

ऊपर देखिये।

फूलों का युद्ध—

ऊपर देखिये।

रथों की दौड़—

बाज़ीगर—

शान-टुंग की भीतों पर बाज़ीगरों की कृतियाँ बनी हुई हैं। इसके अतिरिक्त जादूगर लोग समूची तलवार निगल जाते, मुँह से आग निकालते, धरती में से पानी की धार निकालते और साँपों से खेलते थे। उसी तरह लंघक लोग पैर के बल लटकते थे और वाणों की बौछार के बीच चक्कर खाते थे।

शतरंज—

भाग्य-परीक्षण के सिलसिले में किसान लोग शतरंज खेलते थे। सम्राट् बू-यि ने भाग्य-परीक्षण करने के लिये शतरंज खेला था।

नाट्यशाला—

किया-यी के राज-भवन के अहाते में नाट्यशाला बनी हुई थी। इनमें सामान्यतः पौराणिक नाटक खेले जाते थे। चीनी थेटर के वे पूर्वज थे।

चित्रकारी—

चीन में बड़े प्राचीन काल से चित्र-कला की चर्चा होती आयी है। किसी-किसी अधिकारी का कथन है कि ईसा पूर्व ३००० में इस विद्या की नींव पड़ी। प्राकृतिक दृश्य खींचने में चीनी चित्तेरों को कोई पा नहीं सकता। बड़े-बड़े सामंतों के महलों की भीत पर गिरि-राज, पृथिवी का इतिहास प्रभृति विषय उरेहे हुए थे। आलोक मंदिर की दीवार पर प्राचीन चऊ वंश के शासकों के सजग चित्र देखकर कॉन्फूशियस् दंग हो गया था। सुंग और टंग वंश के काल में बने हुए चित्र अभी तक दिखाई देते हैं।

सुरापान—

सामान्यतः चावल और ज्वार से सुरा बनायी जाती थी। बढ़िया सुरा ज्वार और चावल की मिलावट से बनती थी। पानी में उबलते हुए अनाज में से भभके की सहायता से सुरा निकाली जाती थी। सुगंधित बनाने के लिये मिर्च आदि मिलायी जाती थी। अनाज से सिरका भी बनाया

जाता था। आवश्यकता के अनुसार सब कोई अपने-अपने घर में सुरा बना लेते थे।

यूनान^१—

ऊपर कहा जा चुका है कि सुईदास, प्लेटो प्रमुख प्राचीन यूनानी लेखकों का कहना है कि लाइकरगस् के आविर्भाव (ईसा पूर्व ८००) के पहले यूनान के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में भेद-विचार-हीन व्यभिचार प्रचलित था। अरस्तू स्पष्ट शब्दों में स्पार्टा की रमणियों की दुष्चरित्रता की निन्दा करते हुए कहता है कि वे खुल्लमखुल्ला व्यभिचार करने से सकुचाते नहीं। ऐसा लगता है कि इसका मुख्य कारण यह था कि बराबर युद्ध-विग्रह के सिलसिले में पुरुष लोग बाहर ही बाहर रहा करते और स्त्रियाँ बाध्य होकर घर में दीवाली मनातीं। इस प्रसंग में एक दंत-कथा सुनने में आती है। स्पार्टा वाले मसीना पर अधिकार करने के लिये बहुत दिनों से लड़ रहे थे। फिर भी उनसे कुछ करते न बना। बार बार विफल होने से उन पर धुन सवार हो गयी और उन्होंने प्रतिज्ञा की कि मसीना लिये बिना घर न लौटेंगे। दस वर्ष तक युद्ध चलता रहा। इसलिये दीर्घ दस वर्ष तक वे घर न लौटे। इधर उनकी बाट जोहते-जोहते स्पार्टा की घर-बालियों की आँखें पथरा गयीं! बहुत दिनों के बाद चिरौरी मिनती करके उन्होंने कहला भेजा कि पुरुष लोग घर लौटें, नहीं तो सारी जाति मर-खप जानेवाली है। इस समाचार के मिलते ही स्पार्टा के सैनिकों ने अपने में से चुन-छाँट कर कुछ दृष्टे-कष्टे योद्धाओं को घर रवाना कर दिया। उन्होंने कुल रमणियों को गर्भवती बना दिया। ऐसी जारज संतान का नाम पार्थिनिय वा 'कुमारी-पुत्र' पड़ा।

^१मुख्यतः लेकीः हिस्ट्री ऑव् मॉरलस्; ला क्रॉयः इस्त्वार द ला प्रोस्तिट्यूसिऑन्; कटनेरः फालिक् वरशिप्; बुल्लौरः गॉडस् ऑव् जेनरेशन; वाल्डः सेक्स पंड सेक्स वरशिप्; चन्द्र चक्रवर्तीः एन्शेन्ट रेसेज़ पंड मीथ्स; गार्डिनर—ग्रीक एथेलेटिक स्पोर्टस्; इत्यादि पर आधारित।

किसी किसी उत्सव के उपलक्ष्य में नग्न युवक-युवतियों का नृत्य-गीत होता था। शासक तथा बिधान सभा के सदस्य भी ऐसे प्रदर्शनों में उपस्थित रहते थे। इस प्रकार के जमावड़ों में प्रायः युवक-युवतियाँ प्रेम में फँस जाती थीं। बाद में वे एक दूसरे से विवाह भी कर लेते थे। कदाचित् कोई बलिष्ठ युवक अपनी चहेती कन्या को उठा ले कर भाग निकलता। आगे कन्या की सम्मति मिल जाने पर दोनों का विवाह हो जाता। विवाह से संबद्ध आचार-अनुष्ठान क्या थे, इसका पता नहीं चलता। किन्तु बरजोरी लायी हुई कन्या का जूड़ा काट दिया जाता, तथा उसे पुरुष का वेश पहनाया जाता। इसके बाद वह एक चटाई पर पड़ी रहती। उधर सेना-निवास से छुट्टी मिलते ही बर कन्या के पास चला आता और वैवाहिक संबंध पक्का हो जाता।

यदि कोई नागरिक वीर, साहसी वा विद्वान् पुत्र प्राप्त करना चाहता तो वह अपने क्षेत्र (स्त्री) में उसी प्रकार के गुणी पुरुष से संतान उत्पादित करवाता। बच्चे पिता की संपत्ति माने जाते। इससे आपसी वैमनस्य नहीं होता। हमारे देश में भी बहुत दिनों तक “नियोग” की प्रथा प्रचलित थी। इतिहास, पुराण और धर्मशास्त्र में इसके बहुत से प्रमाण मिलते हैं। ऐसे संतान “क्षेत्रज” कहलाये जाते थे।

लाइकरगस् ने जिस समय स्पार्टा के लिये विधान की रचना की थी, उन दिनों देश बाहरी युद्ध और भीतरी उलझनों में बुरी तरह फँसा हुआ था। उसने विधान की रचना कर राष्ट्र को सैनिक शक्ति में परिणत कर दिया। राष्ट्र के भावी नागरिक और नागरिकाओं को नियमानुसार सैनिक शिक्षा दी जाने लगी, जिससे वे शरीर के स्वस्थ, मन के फुरतीले और अनुशासन के प्रेमी बनें। लाइकरगस् व्यास-वशिष्ठ नहीं था। अतः न तो उसने धर्मोपदेश दिया और न नीति का पाठ पढ़ाया। फलतः समग्र जाति पूर्ववत् दुर्नीति की कीच में बिलबिलाती रही।

विधान के रचयिता के रूप में पहला ध्येय जो लाइकरगस् ने अपने सम्मुख रखा, वह यह था कि येन केन उपायेन स्पार्टा की जन-संख्या बढ़ाना

चाहिये। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उसने विवस्त्रा बालिका और युवतियों के नंगे किशोर और युवकों के साथ खेल-कूद में भाग लेने और कुश्ती आदि लड़ने के लिए प्रोत्साहित किया। अरस्तु ने प्रकाश्य रूप से इस प्रथा की निन्दा की है; परन्तु प्लेटो ने इसका समर्थन किया है। उसकी सम्मति थी कि यदि प्राकृतिक दशा में युवक-युवतियाँ मिलते-जुलते रहें, तो वे एक दूसरे को और घनिष्ठ रूप से जान सकते हैं। फिर प्राचीन नियोग प्रथा को खींच तान कर लाइकरगस् ने एक विधान यह भी रचा था जिस के अनुसार बूढ़े और बेकाम पुरुषों की विवाहित पत्नियाँ दृष्टे-कष्टे जवानों के हाथ सौंप दी जाती थीं, जिससे राष्ट्र को सशक्त सैनिक मिले। कहा जाता है कि प्राचीन यूनान में बहु-विवाह की प्रथा प्रचलित थी, रोम में जिस बात की कमी थी। लाइकरगस ने संभवतः उस पर भी प्रतिबंध नहीं लगाया।

इसका भेद यह था कि अन्यान्य प्राचीन जन-जातियों के नेताओं की तरह लाइकरगस् भी यही चाहता था कि स्पार्टा की आबादी बढ़े, उसके घर-घर में प्रजा-वृद्धि हो! प्राचीनों पर जन-संख्या बढ़ाने की धुन सवार थी। वे जिस प्रेम के साथ पालतू पशुओं की संख्या बढ़ाते थे, उसी लगन से वे प्रजा-वृद्धि करने पर दत्त-चित्त थे। यह धनागम का उपाय माना जाता था। इसी लिये प्राचीन समाज में बाँझपन निंदनीय समझा जाता था और संयम तथा यम-नियम की खिल्ली उड़ाई जाती थी। यहाँ तक कि वे सृष्टि-तत्त्व के प्रतीक लिंग और योनि का साग्रह पूजन करते थे। प्राचीन यूनान में जो लोग विवाह करने से मुँह मोड़ते थे, उनकी समाज में पूछताछ तक नहीं होती। वय के छोटे उनका आदर सत्कार तक नहीं करते। नागरिकों के जमावड़ों में वे घुसने नहीं पाते। कभी-कभी जिलाधीश ऐसे व्यक्तियों को नंग-धड़ंग, अपनी निन्दा आप करते हुए बच बाजार में फेरा लगाने का आदेश देता। ऐसी दशा में प्राचीन यूनान में नीति का बाजार बड़ा मन्दा था तथा समाज के शीर्ष स्थानीय लोग मन माना करते फिरते थे।

प्राचीन यूनान में पतिव्रता पत्नियों को पूछताछ कम थी। साध्वी स्त्रियाँ घर में बन्द रह कर गृहस्थी संभालती थीं, और उनके पति देवता एक-पत्नी व्रत की अवहेलना करते हुए माधुकरी वृत्ति अपना कर बाहर ही घाहर मौज लुटते फिरते थे।

स्वभाव के यूनानों अनवद्य मानवता को पूर्णतया विकसित करने के भारी भूखे थे। संवेगी होने के कारण चित्तवृत्ति-निरोध, इन्द्रिय-निग्रह, यम-नियम का पालन प्रभृति संयम के जो लक्षण माने जाते हैं, वे उनके सिद्धान्त को छू तक नहीं गये थे। अतृप्त वासनाओं की पोटली बाँध कर वे जीवित नहीं रहना चाहते थे। इस दशा में आश्चर्य नहीं बड़े बड़े विधान-वित्, उच्चपदस्थ शासक वर्ग के सदस्य और कठोर से कठोर नीतिमान् व्यक्ति तक आमरण प्रवृत्ति के दास बने रहे। अतः अनियमित यौन संबंध स्थापित करने किंवा अस्वाभाविक उपायों के द्वारा इन्द्रियों को चरितार्थ करने से समाज में निन्दा नहीं होती थी। इसका परिणाम यह हुआ कि प्राचीन यूनान में भ्रष्टाचार की बाढ़-सी आ गयी।

अनवद्य सुंदरता के कंगाल यूनानियों की लालसा को उत्तेजित करने के लिये अधिक से अधिक संख्या में बाजारू स्त्रियाँ होती थीं। रूप और गुण; दोनों में गणिकाएँ अन्तःपुर-निवासिनी साध्वी महिलाओं को मात कर देती थीं। निखरी हुई सुन्दरता के साथ-साथ उनका सांसारिक अनुभव, व्यावहारिक ज्ञान, प्रतिभा, वाचलता, चटुलता और चपलता भी अनोखी होती थी। आश्चर्य नहीं, कूप-मंडूक जैसी, घर की व्याही पत्नी को अकेली छोड़ बड़े बड़े दार्शनिक, कूटनीतिज्ञ, कवि और नाट्यकार दिल बहलाने की नीयत से उन गणिकाओं के घर पहुँचने के लिये लालायित रहते थे। फिर प्रेम-प्रीति की समुद्रजा महादेवी एफ्रोडाईट के मंदिरों की पुरोहितानी वारनारियों के होने के कारण, उस पेशे पर एक प्रकार की धार्मिक छाप भी लग गयी थी। कहा जाता है कि कारिथ की वारवनिताओं ने प्रार्थना द्वारा उस नगर पर आने वाली आपदा तक टाल दी थी! एथेन्स की वारांगनाओं से चंदा उगाह कर सोलोन ने बीनस् (लोकप्रिया) का मंदिर खड़ा किया था।

इन रूपाजीवाओं की सुन्दरता भी विलक्षण होती थी। एफ्रोडाईट की मूर्ति का प्रतिमान वह बनायी जाती थी। एथेन्स का प्रतिभाशाली भास्कर प्रॉक्सीटिलीज सदैव फ्राईन को अपना प्रतिमान बनाया करता था। उसकी बनायी हुई सुनहली मूर्ति डेलफी के विश्व-विख्यात एपोलो के मंदिर में पधरायी गयी थी। फ्राईन के बारे में कहा जाता है कि एथेन्स के न्यायालय में उस पर नगर के युवकों को बहकाने का आरोप लगाया गया। वादी पक्ष के अनुभवी वकील प्रमाणादि प्रस्तुत कर उसे ले ही बीते थे। न्यायाधीश टंड मुनाने वाले ही थे। ऐसी विकट परिस्थिति में निरुपाय होकर उसके वकील ने दिगम्बरी फ्राईन को विचारको के आगे खड़ा कर दिया। उसका अतुलनीय रूप-लावण्य और अंग-सौष्ठव देखकर न्यायाधीश हक्के-बक्के हो गये, और तत्क्षण उसे रिहा कर दिया। नामी चित्रकार एपेलीज़ सिकन्दर की रखनी लाईज़ का चित्र बनाते समय उसका अंध अनुरागी बन गया। प्रेम की प्रेरणा द्वारा उरेहा लाईज़ का चित्र ऐसा सजग बना कि स्वयं सिकन्दर उसे बहुत देर तक एकटक देखता रह गया। निदान उस विश्व-विजयी वीर ने पारितापिक के रूप में लाईज़ को चित्रकार के हाथ सौंपा। पिण्डार, सिमोनाइडीज़ प्रमुख कवियों ने गणिकाओं की सराहना करते हुए कविताएँ रचीं। स्वयं सॉक्रेटीज़ अपनी शिष्य-मंडली के साथ थियोडोरा के भुवन-मोहन रूप की समीक्षा करने के लिये उसके यहाँ पहुँच गया।

दैहिक रूप के अतिरिक्त इन गणिकाओं की प्रतिभा भी अनोखी होती थी। एथेन्स में कुल-वधुओं के लिये घर से बाहर निकलने की चाल नहीं थी। उधर गणिकाओं को पूरी स्वतंत्रता थी। अवकाश के समय वे बौद्धिक विकास में लगी रहती थीं। प्रतिभाशाली कलाकार, कवि, दार्शनिक और ऐतिहासिकों के एकत्र होने के कारण गणिकालय की बैठक तत्काल के लिये सांस्कृतिक केन्द्र बन जाती थी और ऐसी सभाओं की सभानेत्री बनती थी गणिका स्वयं। रूप और प्रतिभा में अनुपम एस्पेशिया के चटुल चरणों

में एथेन्स के सर्वाधिनायक पेरिकलीज़ ने सश्रद्ध प्रेम जतलाया था। कहा जाता है कि वह उसकी गुरुआनी भी थी तथा व्याख्यानदि रचने में बराबर सहायता देती थी। पेरिकलीज़ राजनीति संबंधित विषयों पर सदैव उसकी सम्मति पूछा करता था। उसके यहाँ जो बैठकें होती थीं, उनमें सॉक्रेटीज़ प्रमुख चिन्ताशील दार्शनिक भी उपस्थित रहा करते थे। सॉक्रेटीज़ अपनी गुरुआनी डायोटिमा का सदा के लिये आभारी बना रहा। एस्पेशिया की तरह डायोटिमा भी गणिका मात्र थी। प्रख्यात तत्वज्ञानी एपिक्युरस् के चेलों में लियोन्टियम् नाम की एक गणिका भी थी। नामी दार्शनिक डायोजेनीस लाईज़ के घर बराबर आया जाया करता था। एक दिन खुनस के मारे अपनी सारी चल संपत्ति के बेचकर एक हजार ड्राक्मा कमर में बाँध कर, प्रख्यात वाग्मी डेमोस्थनीज़ उसके यहाँ पहुँच गया। ताव में आकर लाईज़ ने उससे दस हजार ड्राक्मा माँगे। उसकी माँग सुनकर कुरूप वाग्मी उलटे पाँव वहाँ से चलता बना !

तबीयत बहलाने अथवा शिष्ट समाज में इस रीति से अवकाश का समय व्यतीत करने से लोक-निन्दा न होना स्वाभाविक है। किन्तु एथेन्स की सभी बाजारू स्त्रियाँ गणिका श्रेणी की नहीं होती थीं। प्रकृति के नियमानुसार राजहंसियों से कहीं अधिक बगुलियाँ देख पड़ती थीं। कहने का आशय यह है कि बड़ों की देखा देखी निम्न कोटि के लोग भी प्रकाश्य रूप से वारनारियों से नाता जोड़ने में आगा पीछा नहीं करते थे। सामान्य जन के लिये एथेन्स में “डिक्टीरियोन्” नामक सरकारी वेश्यालय खोला गया था। यहाँ की वेश्याएँ प्रायः परदेसी दासियाँ होती थीं। संध्या होते ही वे दिगम्बरी बन कर गली-कूचों में खड़ी होकर गाहकों की बाट जोहती थीं। वेश्यालयों के फाटक पर लिंग-मूर्ति अंकित रहती थी।

उपर्युक्त दो श्रेणी की वेश्याओं के अतिरिक्त प्राचीन यूनान में मुरली बजाने वाली नामकी एक श्रेणी की वारनारी होती थीं। ये प्रकाश्य रूप से वेश्यावृत्ति नहीं करती थीं। देखावटी रूप से वे भोज इत्यादि के अवसर पर निमंत्रित अतिथियों का मन बहलाने के लिये मुरली बजाती, नाचती और

गाती थीं। पान-भोजन समाप्त हो जाने पर उनसे अलग रीति से दर-भाव करके शुल्क तय करना पड़ता था। कभी-कभी इन्हें अपना देने के लिये निमंत्रित अतिथि लोग आपस में लड़ जाते थे! ये स्त्रियाँ अधिकतर ईरान, मीडिया, लीडिया, स्याम प्रमुख पूर्वी देशों की रहने वाली होती थीं। अतः वे काम-कला में बड़ी निपुण होती थीं। इनके संसर्ग में आने से हरक्युलीज़ भी भिन्सारे मोम का पुतला बन जाता था।

बाजारू स्त्री और पुरुष का यौन संबंध अनियमित होने पर भी प्राचीन यूनानी समाज में निंद्य नहीं समझा जाता था। पुरुष की प्रवृत्ति चरितार्थ करने का यह स्वाभाविक उपाय भी माना जाता है। परन्तु जब हम प्राचीन यूनानियों को अस्वाभाविक उपायों से लालसा को चरितार्थ करते सुनते हैं, तब मारे लज्जा के हमें सिर झुका लेना पड़ता है। छैल-छबीले नवयुवकों को वयस्क पुरुषों की कामना की वेदी पर बलिदान देने की प्रथा थी। यूनान में इस प्रथा का प्रचार कब और कैसे हुआ, इसका निश्चय अभी तक हो नहीं पाया। होमर और हेसीयड् के काल में संभवतः इस दुर्नीति का प्रचलन नहीं था। कुछ लोगों का अनुमान है कि खेल-कूद की प्रतियोगिता के प्रसंग में संभवतः इसका बहुल प्रचार हुआ था। अनवद्य सुन्दरता के सुखद यूनानियों की लोलुप दृष्टि के सामने लाइकरगस् ने बिलकुल नंग-धड़ंगे स्त्री और पुरुष प्रतियोगियों को प्रस्तुत करने की प्रथा प्रचलित की थी। आगे औरों ने उसे अपनायी। पुनश्च सामान्यतः यह सेना-निवास में प्रचलित दुर्नीतियों में से है। स्पार्टा में इसकी कमी नहीं थी।

चाहे कुछ भी हो, लौकिक धर्म में तुरत इस प्रथा को मान्यता मिल गयी। इस सिलसिले में आदिम काल की पुरानी हीव को हटा कर सुदर्शन किशोर गनिमीड देवताओं का प्याला भरने वाला छोकरा बनाया गया। दृढ़ता के साथ घोषणा की गयी कि ओलिम्पस् की ऊँचाई पर यूनान के वरेण्य देवता भी इस प्रकार के अस्वाभाविक उपायों के द्वारा अरमान पूरा करते हैं। इस प्रसंग में एक पौराणिक कथा सुनाई देती है। वज्रपात होने के कारण वाक्चस् की माँ जल मरी। दुःखी वाक्चस् धरती के कोने-कोने

उसे खोजता फिरता रहा। फिर भी पता न चला। निराश होकर जब एक दिन वह किसी पेड़ के साथे में बैठा हुआ था, तब पोलिमनस् नामक एक व्यक्ति उधर से आ निकला। वाक्चस् की दुख-भरी कहानी सुनने के अनंतर उसने कहा कि यदि तुम मेरी तमन्ना पूरी करो तो मैं तुम्हें माँ के पास पहुँचा दूँगा। वाक्चस् राजी हो गया। तब दोनों माँ की खोज में निकल पड़े। बीच रास्ते में पोलिमनस् का दम छूटा। वाक्चस् ने उसे वहीं गाड़ दिया और कब्र पर लकड़ी की बनी हुई एक लिंग-मूर्ति पधरायी।

दार्शनिकों ने इस प्रकार के संबंध को प्रेम के बंधन को सुदृढ़ बनाने वाला मानते हुए उस प्रथा का समर्थन किया तथा कलाकारों ने एपोलो, वाक्चस् प्रभृति की मूर्ति बनाते समय इस बात का स्पष्ट इंगित करते हुए संकोच नहीं किया। हास्थरस के प्रवीण नाट्यकार सोफोक्लीज़ इस पंथ के बड़े आदी थे। सिकन्दर के पिता, फिलिप के बारे में कहा जाता है कि वह ८०० किशोरों का एक भारी दस्ता रखे हुए था। इस प्रथा का व्यापक प्रचार होते हुए भी स्यात् वह हेय मानी जाती थी। अतएव ऐसे व्यक्ति जो इस प्रकार का नाता जोड़ने से बाज आते थे, उनकी सराहना की जाती थी। मेगाविटीज़ नाम के एक प्रियदर्शन किशोर के प्रति अनुरक्त होते हुए भी एजीसिलस ने उससे कभी बुरा बर्ताव नहीं किया। इसलिये प्लुटार्क ने उसकी बड़ी प्रशंसा की है। स्टोइक दार्शनिक ज़ीनो के बारे में कहा गया है कि वह इस प्रकार की दुर्नीति से भरसक दूर रहता था।

इन्द्रियों को चरितार्थ करने के इस प्रकार के बहुत से स्वाभाविक और अस्वाभाविक उपाय होने के कारण क्रमशः यूनान के नवयुवक लोग विवाह करने से मुँह मोड़ने लगे तथा खुल्लमखुल्ला व्यभिचार के स्रोत में लोट-पोट करने लगे। वरन् अधिक से अधिक नागरिकों के ऐसा करने से दुराचार क्रमशः सारे समाज में निर्बाध प्रचलित हो गया, और जब अधिकतम यूनानी व्यभिचारी बन गये, तब कौन किसकी निन्दा करे ?

पंथ, रहस्य-यूजन इत्यादि—

यूनान की अनगिनत देव-देवियाँ सदैव दुर्नीति के कीच में बिल-

बिलाती थीं। प्यान उपज का देवता था। देहाती लोग उसे बहुत मानते थे। उसकी मूर्ति की कल्पना इस प्रकार की गयी थी—एक खंभे की चोटी पर पशु का मुंड होता था और सामने ऊर्ध्व-लिंग। फसल कट जाने पर प्यान के सम्मान में जो उत्सव मनाया जाता था, उसमें व्यभिचार का वार पार नहीं रहने पाता।

वीनस-पंथ—फल-प्रसू प्रकृति देवी के प्रति यथोचित आभार प्रदर्शित करने के लिये शुरू-शुरू में इस पंथ का संघटन हुआ था। दीक्षा लेने वालों को फल-फूल-पशु आदि चढ़ाना नहीं पड़ता था। पुरोहितानी नौसिखुए के हाथ पर सृष्टि-तत्त्व का सजग प्रतीक, थोड़ा-सा नमक और एक लिंगमूर्ति रख देती। प्रतिदान में वह उस वेश्या को रुपये-पैसे देता था। सारे यूनान पर देवी जी का दौरदौरा फैला हुआ था। पचासों प्रकार की बीनसें थीं और प्रत्येक के अलग-अलग अनुयायी थे। एथेन्स में सोलन ने वाररमणियों से चंदा वसूल कर पाण्डीमोस (लोक-प्रिया) वीनस का एक भव्य मंदिर बनवाया था। केवल एटिका प्रान्त में देवी जी के १८५ मंदिर थे। गाँव-गाँव में देवी के मंदिर देख पड़ते थे। मंदिर के प्रशस्त अहाते में सघन उपवन और कुंजवन होते थे। वहाँ प्रकाश्यरूप में व्यभिचार होता था। देवी जी के सम्मान में सुन्दर मूर्तियाँ बनीं, ललित पदावली रची गयीं और सजग चित्र उरेहे गये। मान्टिसकिऊ का कथन है कि दहेज जुटाने के अभिप्राय से कुमारी कन्याएँ मंदिरों में वेश्यावृत्ति करतीं तथा विवाहिता रमणियाँ जीवन में एक बार अनजान पुरुषों का संसर्ग करती थीं। वे कमाई का धन मंदिर में चढ़ा देती थीं। ओबिड पेलोपनीशस् प्रमुख प्रान्तों में यत्र तत्र यूनानी ललनाओं की मस्त टोलियों को रमते फिरते देख कर अवाक् हो गया था। परंपरा के अतिरिक्त देवी के क्रोध के डर के मारे इच्छा न रहने पर भी, कन्याएँ वेश्यावृत्ति करती थीं। ग्रीटस् की तीन कन्याएँ मंदिर में वेश्यावृत्ति करने नहीं गयी थीं। इसलिये उन्हें कठोर दंड मिला था। इनके अतिरिक्त मंदिरों में देवदासियाँ होती थीं। वे पुरोहितां तथा बाहर के गाइकों की सेवा-उद्दहल करती थीं। वे कमाई का धन मंदिर में दे देती थीं। इनकी

संख्या भी खासी होती थी। कॉरिंथ के बीनस के मंदिर में इस प्रकार की हजार देवदासियाँ थीं। उद्देश्य सिद्ध हो जाने पर लोग मंदिर में देवदासियाँ चढ़ाने की मनौती भी करते थे। कॉरिंथ के जेनोफोन ऑलिम्पिक खेल में पहला आया। इसलिये उसने देवी के मंदिर को ५० देवदासियाँ भेंट कीं। विशेष-विशेष अवसरो पर अध-नंगी वारवनिताओं का जलूस निकाला जाता था।

लिंग-पूजन-प्राचीन यूनान में देवी बीनस के साथ-साथ मंदिरों के अतिरिक्त घर-घर में लिंग-मूर्ति की भी निरंतर अर्चा होती थी। मूर्तियाँ बसंत में गुलाब के फूलों से, गर्मियों में खुशबूदार घासों से, हेमंत में अंगूर से और जाड़े में जैतून से सजायी जाती थीं। लिंग-मूर्ति के आगे गधे बलि चढ़ाये जाते थे। भक्त लोग दूध, शहद और मद्य चढ़ाते और मूर्ति को सादर चूमते थे।

वाक्चस् के सम्मान में जो जन-यात्रा निकाली जाती थी उसके साथ अतिकाय एक लिंग-मूर्ति होती थी। इसे घेर कर बहुत-से गंधर्व-यक्ष-किन्नर आदि नाचते हुए चलते थे। इनके लिंग लंबाई में एक दूसरे से होड़ करते थे। फिर कुछ स्त्रियाँ गंदे गीत गाती हुई चलती थीं। अंत में वाक्चस् की मूर्ति आती थी। इसके तीन लिंग हांते थे। उसी प्रकार मई ६ को सूर्य भगवान् एपोलो और चंद्रिका देवी डायना के सम्मान में टारजिलीस उत्सव के सिलसिले में जो देव-यात्रा निकाली जाती थी, उसमें भी लिंग-मूर्ति को महत्व-पूर्ण स्थान दिया जाता था। नवयुवक और युवतियाँ पेड़ों की डाल लेकर उसे घेर कर हो-हल्ला करती हुई आगे बढ़ती थीं। इन डालों से रोटी, फल-फूल, अंजीर और लिंग मूर्तियाँ लटकती रहती थीं। जैसे जैसे दिन बीतते गये, वैसे वैसे प्यान, मरकरी, हरमीज़, वाक्चस् प्रमुख यूनानी देव-ताओं की मूर्तियों के साथ मन माने ढङ्ग से लिंग का समावेश किया गया।

यूनान में ईसाई धर्म के प्रचार होने के बाद भी बहुत दिनों तक लिंग-पूजन की प्रथा चालू थी। तीसरी शती में आरनोब्रियस् लिखता है कि यूनान के प्रत्येक तहसील में नियमानुसार लिंग-मूर्ति का रहस्य पूजन हुआ करता है। छठी शती में इवाग्रियस् ने इस पन्थ के अस्तित्व के बारे

में इज्जित किया है। बहुत दिनों तक यूनानी स्त्रियाँ गले, बाँह, और कमर में लिंग-मूर्ति बाँधती रहीं।

डायोनीशस् का उत्सव—यूनान में जिस उत्सव का नाम डायोनीशिया था, रोम में उसी का नाम वाक्चनेलिया पड़ा। डायोनीशस् की तरह वाक्चस् सुरा के अधिष्ठाता देवता थे। यूनानी लोगों का विश्वास था कि जाड़ा पड़ते ही डायोनीशस् गुम हो जाते, फिर बसन्त के आने के साथ साथ उनका पुनराविर्भाव होता था। प्रति वर्ष जो उत्सव मनाया जाता था, वह 'छोटा' कहा जाता था। इसके विपरीत प्रति तीसरे वर्ष एटिका के लिमूस में स्थित डायोनीशस् के मन्दिर में मार्च १२ से तीन दिन तक जो उत्सव मनाया जाता था, उसे 'महोत्सव' कहा जाता था। जिलाधीश स्वयं इसके लिये पुरोहितानियाँ चुनता था। इनमें उसकी पत्नी भी होती थी। वे बारी बारी से पूजा चढ़ाती थीं। प्लुटार्क का कहना है कि पहले पहल जो जुलूस निकाला जाता था, वह सीधा-सादा और अनादम्बर होता था। जुलूस के आगे आगे दो आदमी चलते थे। पहला मनुष्य सुरा से लबालब भरा हुआ घड़ा ले कर चलता था और दूसरा अंगूर का ढंठल। तीसरा चढ़ाये जाने वाले बकरे को हँका ले जाता और चौथा अज्जीर की टोकरी ढो ले जाता। अंत में लिंग मूर्ति ले जायी जाती थी।

क्रमशः इसके साथ अनेक प्रकार के ढकोसले जोड़े गये। अन्तिम दिनों में जो देव-यात्रा निकाली जाती थी, उसके आगे आगे वाक्चस् पन्थ के कुछ प्रमुख सदस्य पानी रखने के नाना प्रकार के बरतन ले जाते थे। फिर कुछ कुमारी कन्याएँ सुनहरी टोकरियों में रखे हुये नवान्न के अतिरिक्त पालतू साँप, तिल, नमक, छेदवाली रोटी, खेड़ी और लिंग सरीखे कई रहस्यमय पदार्थ फूलों से ढाँक कर ले जाती थीं। इसके बाद कुछ पुरुष पत्तियों द्वारा मुँह छिपाकर लंबी-लंबी लम्घियाँ लेकर चलते थे। इन लम्घियों पर से लिंग मूर्तियाँ लटकती रहती थीं। तब फिर गाते बजाते हुए कुछ गंधर्व आते थे। वे गन्दे गीत गाते और रुक रुककर "इयो वाक्चे" (जय) का नारा लगाते थे। इनके पीछे-पीछे स्त्री-वेश पहने हुए कुछ पुरुष आते

थे। वे मतवालों की तरह लड़खड़ाते और गंदे गीत गाते हुए चलते थे। अंत में रहस्यमय गाड़ी में कुछ पवित्र द्रव्यादि लाये जाते थे। इसे घेर कर वाक्चस् के अनुयायी तथा उपदेवता बनकर कुछ लोग अश्लील हाव-भाव बताते हुए नाचते रहते थे। जुलूस के लौटने के बाद खेल-कूद आरम्भ की जाती थी। बकरी की खाल में हवा भर कर रखा जाता, जिसे खिलाड़ी लाँघते थे। आँखों पर पट्टी बाँध कर उन्हें देवदार के कुंज में छोड़ दिया जाता। पेटों पर से लिंग मूर्तियाँ लटका दी जाती थीं। यदि किसी खिलाड़ी का सिर उससे टकरा जाता तो वह सगुन शुभ माना जाता था।

यूनान के रोम साम्राज्य में सम्मिलित हो जाने पर नीगो, कालिगुला, टाइबीरियस् प्रमुख रसिक सम्राटों की ओर से इस उत्सव को प्रोत्साहन मिला। लेवीनिउम् में पूरा एक महीना यह उत्सव सोच्छ्वास मनाया जाता था। इस प्रसंग में बीच सड़क पर लोग व्यभिचार करते थे। आगे इसी उत्सव को ईसाइयों ने अपना कर उसका नाम ईस्टर दिया। यह मसीह के पुनर्जन्म से संबद्ध है।

डायोनीशस् का रहस्य पूजन—उत्सव मनाने के अतिरिक्त डायोनीशस् वा लिंग मूर्ति के रहस्य पूजन के प्रसंग में जंगलों में लुक छिपकर चक्र की बैठक होती थी। इसमें नंग-धड़ंगी स्त्रियाँ बाल बिखराकर और हाथ में पवित्र डंडा, जिसके सिरे पर अंगूर के गुच्छे बँधे हुए रहते थे, लेकर माँस बजाती हुई उतारे का नाच नाचती थीं। नाचते नाचते वे आवेश में हो जातीं। बड़ी रात को वे दाँतों से एक उत्सर्जित साँड़ को काट खातीं और उसके कच्चे मांस चबा जातीं। फिर समारोह के साथ उस वृषभ का लिंग वेदी पर पधराया जाता तथा विधि-विधान के अनुसार उसकी अर्चा की जाती थी।

इल्यूसियन रहस्य—डायोनीशस् के रहस्य-पूजन की तरह कहीं-कहीं इल्यूसियन रहस्य मंडल की बैठक होती थी। टरट्यूलिन का कहना है कि इन बैठकों के कार्य-क्रम में लिंग-पूजन को प्रधानता दी जाती थी। पुरोहितों को लोग “इपोप्टी” कहते थे। थियोडोरेटस् के अनुसार लिंग-

पूजन के साथ योनि मूर्ति की भी अर्चा की जाती थी। चक्र की बैठकों में उच्चपदस्थ राजकर्मचारी, धनी व्यापारी और बहुत-से प्रतिभाशाली व्यक्ति सक्रिय भाग लिया करते थे। चरित्रहीन आवारे, लम्पट तथा कदाचारी व्यक्तियों को चक्र में सम्मिलित नहीं किया जाता था। पूजा-पाठ समाप्त हो जाने पर कुछ अश्लील गाने गाये जाते थे।

मनोरंजन के साधन

ओलिम्पिया के खेल-कूद—प्राचीन यूनान में हर पाँचवें साल जुलाई महीने में ओलिम्पिया के मैदान में खेल-कूद की प्रतियोगिता हुआ करती थी। इस अवसर पर महीने भर के लिये यूनान के आर पार अखंड शान्ति बिराजती थी। कोने कोने से दर्शक लोग ओलिम्पिया में एकत्र होते थे। ये खेल-कूद ज़ीऊस के सम्मान में होते थे। इन प्रतियोगिताओं में केवल ऐसे ही लोग भाग ले सकते थे, जो जन्मना यूनानी हों। ओलिम्पिया के खेल-कूद यूनानियों की जातीय सम्पत्ति मानी जाती थी। प्रारम्भ में केवल २०० गज की “स्टेडियम्” नाम की दौड़ होती थी। इसमें प्रतियोगिता करने के लिये सारे यूनान से तेज दौड़ने वाले युवक एकत्र होते थे। स्टेडियम् के विजयी बीर यूनान के प्रमुख व्यक्तियों में से माना जाता था। खेल समाप्त होने पर उसके देश-वासी बाजे-गाजे के साथ उछलते-कूदते उसे घर लौटा ले जाते थे। विजयी के माथे पर जंगली जैतून का बना हुआ एक गजरा पहना देने की रीति थी। क्रमशः रथों की दौड़, घुड़दौड़, कवच पहन कर दौड़, कुरती, मुष्टि-युद्ध, कूद-फाँद, भाला फेंकना जैसी १२ चीजें और जोड़ी गयीं। इन प्रतियोगिताओं में केवल बालिग लोग भाग ले सकते थे। इनके अतिरिक्त बालकों के लिये भी कुछ प्रतियोगिताएँ होती थीं। लड़के नाना प्रकार की दौड़, कुरती और मुक्का-मुक्की की प्रतियोगिताओं में सम्मिलित हो सकते थे। यह समारोह पाँच दिन तक चलता रहा। पहले दिन इलिस नगर-राष्ट्र के अधिकारी ज़ीऊस के सम्मान में कई साँड़ों की बलि चढ़ाते थे। अंतिम दिन विजयी वीरों के सम्मान में साज-सजावट कर भारी जुलूस निकाला जाता और रात को भोज होता था। कालान्तर में ऐसे

जमघटों में कवि, व्याख्यान देने वाले, दार्शनिक तथा लेखक भी पहुँचने लगे। वे अपनी रचना पढ़ सुनाते वा अपने सिद्धान्तों का समर्थन करते हुए व्याख्यान देते थे। ओलिम्पिया के सम्मेलन में जो बात देखी वा सुनी जाती थी, शीघ्र ही सारे यूनान में उसका प्रचार हो जाता था।

ओलिम्पिया के खेल-कूद का शुभारम्भ कब हुआ था, इसका ठीक ठीक पता नहीं चलता। ईसा पूर्व ७७६ से विजयी वीरों की धारावाहिक सूची मिलती है। यूनानी स्वातंत्र्य की इति-श्री होने पर भी ३६३ ई० तक ये खेल चालू रहे।

ऊपर कहा जा चुका है कि हर पाँचवें साल ओलिम्पिया में खेल-कूद की प्रतियोगिताएँ होती थीं। इसके हर दूसरे और चौथे साल समुद्र-देवता पोसीडॉन के सम्मान में कारिथ की देख रेख में इस्मियन उत्सव मनाया जाता था। इसमें वयस्क पुरुषों, नवयुवकों और बालकों के लिये अलग अलग प्रतियोगिताएँ होती थीं। इस प्रसंग में खेल-कूद के अतिरिक्त युद्ध-दौड़, संगीत, नाव खेने, नाटक और चित्रकारी की प्रतियोगिताएँ होती थीं। विजयी वीरों को बलूत की पत्तियों का गजरा पहनाया जाता था।

प्रति वर्ष जाड़े के दिनों क्लियोन नगर के निकट नीमियन उत्सव मनाया जाता था। इसका आयोजन आरगॉस वाले करते थे। वहाँ भी नवयुवकों और बालकों के लिये अलग अलग प्रतियोगिताएँ होती थीं। कवच पहन कर दौड़ने की प्रतियोगिता इसकी विशिष्टताओं में से थी।

एथेन्स में हर साल खेल-कूद की जो प्रतियोगिता होती थी, उसका प्राचीन नाम एथीनिया था। ईसा पूर्व ५६६ में सोलन ने इसका नये सिरे से संघटन कर पान-एथीनिया नाम दिया। इस प्रसंग में दौड़-धूप, कूद-फाँद और युद्ध-दौड़ के अतिरिक्त संगीत, कविता-पाठ, मशाल-धारियों की दौड़, युद्ध-नृत्य, नाव खेने और सौन्दर्य की भी प्रतियोगिताएँ भी होती थीं। विजयी वीरों को पुरस्कार के स्वरूप एटिका का पेरा हुआ एक घड़ा जैतून का तेल मिलता था।

एथेन्स के खेल-कूदों से संबद्ध उत्सव—प्रति चौथे साल जुलाई महीने

में पान-एथीनिया उत्सव मनाया जाता और प्रति वर्ष लघु एथीनिया मनाने की रीति थी। अग्रस्त में माराथोन में हेराक्लिया उत्सव मनाया जाता। सितम्बर में इलिउसीनिया उत्सव होता था। इस प्रसंग में दौड़-धूप, कूद-फाँद, घुड़-दौड़, संगीत की प्रतियोगिता आदि होती थी। अक्टुबर में आँस्कोफोरिया नामक उत्सव होता था। इसमें अलग अलग जन-जातियों के दो लड़के, लड़कियों की वेश-भूषा पहन कर डायोनीशस् के मंदिर से एथिनी के मंदिर तक दौड़ते थे। जिसकी जीत होती, उसे शहद, पनीर, आटा, तेल और शिरके का बना हुआ शरबत पिलाया जाता था। इसके बाद एप्चूरिया उत्सव के प्रसंग में संगीत-प्रतियोगिता और मशाल-धारियों की दौड़ होती थी। जाड़े के महीनों में, नवम्बर से मार्च तक नाटक खेलने की प्रतियोगिता होती थी। एप्रिल में नाव खेने की प्रतियोगिता होती। मुनीशिया उत्सव के उपलक्ष्य में आरटिमीज़ के सम्मान में जुलूस निकाला जाता। बाद नाव खेने की प्रतियोगिता होती थी। दौड़ की प्रतियोगिता में भाग लेने वाले शरीर में अच्छी तरह तेल पोत लेते और नंगे-धड़ंगे, प्राण-पन से चिल्लाते हुए दौड़ते थे।

संगीत प्रतियोगिता—प्रति वर्ष डेलफी, डेलॉस और स्पार्टा में एपोलो के सम्मान में संगीत की प्रतियोगिता होती थी। ऐसे अवसरों पर बीन वा बाँसुरी बजाकर एपोलो का स्तव पाठ करने की रीति थी।

बाज्जीगरों का खेल—होमर के ओडीसी में मनोरंजन के इस साधन का उल्लेख मात्र है। एथेन्स में यह खेल मनोरंजन का बड़ा लोक-प्रिय साधन था। अभिजात वर्ग के लोग भी इस कला के आदी होते थे।

पशु-युद्ध—प्राचीन यूनान के थेसाली प्रान्त में साँड़ों की लड़ाई होती थी। और और प्रान्तों में बटेर और मुर्गे लड़ाये जाते थे।

नाटक—प्राचीन यूनान में डायोनीशस् का उत्सव मनाने के सिल-सिले में सामूहिक संगीत गाकर सुरा के अधिष्ठाता देवता की कृतियों का वर्णन करने की रीति थी। बाद “कोरीफिउस” नामक मुखिया खड़े होकर कविता में देवता की कृतियाँ वर्णन करता और बीच बीच में सामूहिक

संगीत गाये जाते थे। ईसा पूर्व पाँचवीं शती में इस्काइलस् ने पहले पहल दूसरा आदमी प्रस्तुत किया जो पहले मनुष्य के प्रश्नों का उत्तर देता वा उसके व्याख्यान का क्रम जारी रखता। फिर सोफोकलीज़ (जन्म ईसा पूर्व ४९५) ने तीसरा आदमी भर दिया। इस प्रकार नाटक में वार्त्तालाप और हावभाव द्वारा मनोभाव प्रकट करने की प्रथा को प्रधानता मिली और सामूहिक संगीत गाने की रीति ठप हो गई। प्रारंभ में हमारे देश की लीलाओं की तरह एक ऊँची वेदी पर नाटक खेले जाते थे और दर्शक लोग उसके चारों ओर बैठते थे। छठीं शती से रंगशाला बनने लगे। नाटक दो प्रकार के होते थे—कस्परसात्मक और हास्यरसात्मक। अभिनेता लोग चेहरा पहनते और नकली केश लगाते थे। चेहरे का मुँह खुला रहता था जिससे कहे हुए शब्द सुननेवालों की समझ में आवे। साज सिंगार पर विशेष ध्यान दिया जाता। खेल दोपहर के पहले ही आरंभ हो जाता और घंटों जारी रहता। थोड़ा थोड़ा विराम देकर एक ही दिन में कई नाटक खेलने की प्रथा थी। किसी सम्पन्न व्यक्ति की पृष्ठपोषकता प्राप्त कर ही नाटक खेला जा सकता था। अभिनेताओं को सिखाने पढ़ाने का सारा खर्चा वह सम्भालता था और प्रतियोगिता में यदि उसका आश्रित कवि पहला आया तो उसकी मूर्ति भी बनवा देता।

पान-भोजन—अपने काल में महात्मा पाणिनि ने लक्ष्य किया था कि यूनानी (यवन) लोग लेटे लेटे भोजन करते थे। इसमें अत्युक्ति रंचमात्र भी नहीं थी। एक एक चौकी पर दो दो मनुष्य लेटते थे। भोजन करने के पहले नहाने और साज-सजावट करने की रीति थी। भोज-सभा में कम से कम आठ निमन्त्रित अतिथियों का होना अनिवार्य था। बाहरी लोग रहने से घर की महिलाएँ वहाँ नहीं जाती थीं। जैसे जैसे अतिथि लोग पहुँचते जाते थे, दास लोग उनके सडाल खोल देते और हाथ-पैर धो देते थे। फिर उनके माथे पर गुलाब का गजरा रख दिया जाता। तब वे चौकी पर लेटा दिये जाते। सब अतिथियों के आ जाने पर प्रत्येक चौकी के सिरहाने के आगे एक एक छोटी मेज़ रख दी जाती थी। उसी पर खाना परोसा जाता

था। नाना प्रकार के मांस, मछली, शोरवा इत्यादि प्रारंभ में परोसे जाते थे। इसके बाद मेज़ साफ कर दी जाती, और मीठी रोटी, फल प्रभृति परोसा जाता था। अंत में पान-सभा की बैठक होती थी। पीने के पहले सब कोई अग्रभाग देवता को चढ़ाते थे। यदि किसी का पीने से परहेज होता था, उस पर बल-प्रयोग नहीं किया जाता था। सुरा के साथ पानी मिलाकर पीने की रीति थी। इसी समय मुरली बजाने वाली छोंकरियाँ कमरे में आ जाती और नाचती गाती रहती थीं। सुरापान करते करते अतिथि लोग मनोविनोद के लिये कदाचित् “कोटाबोस” नामक खेल खेलने लग जाते। यह खेल खेलते समय कमरे के बीच में एक जल पात्र रखा जाता था, तथा उपस्थित सब कोई अपने अपने प्याले का बचा खुचा भाग सफाई के साथ उसी में फेंकने की चेष्टा करते थे। कदाचित् इस बीच और भी कुछ मित्र आ पहुँचते थे। तब हुल्लाड़बाजी चलती रहती थी। रात दो पहर के बाद जलसा समाप्त होता और अतिथि लोग घर लौटते थे।

चित्रकारी—यूनान की पुण्य-भूमि से ईरानियों को मार भगाने के बाद नौ-सेना के अध्यक्ष किमोन की देखरेख में एथेन्स का पुनर्निर्माण आरम्भ हुआ। पार्थिनोन, पलाडियन् प्रमुख विश्व-विख्यात मंदिरों की उसी समय नींव रखी गयी थी। उन्हीं दिनों किमोन ने थासोस के निवासी पलिग्नोटस् को मुख्य द्वार के सामने की कोठरी में चित्र उरेहने के लिये लगाया था। पलिग्नोटस् की गिनती प्राचीन चित्रकारों में की जाती है। ईसा पूर्व ४०० के लगभग ज़िऊकासिस् और पारोसिउस् नामक दो प्रख्यात चित्ररे थे। दोनों सजग चित्र खींचने में बड़े कुशल थे। एक बार दोनों ने प्रतियोगिता करने की ठानी। इस प्रसंग में ज़िऊकासिस् ने जो अंगूर के गुच्छे खींचे थे, वे ऐसे सजग बने थे कि पक्षी आकर उन्हें चुगने लगीं। इस पर पारोसिउस् ने कहा कि मेरा बनाया हुआ चित्र पदों की आड़ में है। पर्दा हटा कर देख लें। सुनते ही ज़िऊकासिस् ने पर्दा हटाने के लिये हाथ बढ़ाया। किन्तु वह पर्दा चित्रित निकला। झेंप कर ज़िऊकासिस् ने हार मानी। सिकन्दर के दरबार में प्रख्यात चित्रकार एपीलीज़ था। यूनानी

चित्रकारों का वह सर-ताज माना जाता है। सिकन्दर प्रमुख विशिष्ट व्यक्तियों का चित्र बनाने में वह बेजोड़ था। उसका उरेहा हुआ समुद्रजा देवी एफ्रोडाईट का चित्र अनुपम माना जाता है।

मूर्ति-निर्माण कला—प्रारंभ में यूनानी भास्कर लोग काँसा, हाथी-दाँत और सोने की मूर्तियाँ बनाते थे। फीडियास् पेरिकलीज़ के युग का नामी शिल्पी था। उसने महादेवी एथिनी की ६० फीट ऊँची काँसा की मूर्ति बनायी थी। स्नीयन् अंतरीप से देवी का जगजगाता हुआ मुकुट दिखायी देता था। इसके अतिरिक्त पार्थिनोन की देवी मूर्ति जो सोने और हाथी-दाँत की बनी थी और ओलिम्पिया की ज़िऊस् की मूर्ति का भी निर्माण उसी ने किया था। फीडियास की शिक्षा आरगोस में हुई थी। फीडियास् का सतीर्थ पोलिक्लिटस् ने आरगोस की हीरा देवी की मूर्ति बनायी थी। वह भी सोने और हाथी-दाँत की बनी थी। माईरोन जीव-जंतु और पहलवानों की मूर्ति बनाने में कुशल था। उसकी बनायी हुई मूर्तियों में तवा फेंकने वाले खिलाड़ी की मूर्ति अतुलनीय है। ईसा पूर्व चौथी शती में स्कोपास और प्राक्सीटिलीज़ प्रख्यात भास्कर थे। स्कोपास अधिकतर मंदिरों में नक्कासी का काम किया करता। ब्रिटिश म्यूजियम में उसकी कृतियों के कुछ नमूने रखे हुए हैं। प्राक्सीटिलीज़ स्त्री-मूर्ति बनाने में अद्वितीय था। उसकी बनायी हुई एफ्रोडाईट की कई मूर्तियाँ अभी तक देखने में आती हैं। सिकन्दर के युग में इऊफ्रानोर और लिसियस् बड़े नामी कलाकार थे। दोनों सिकन्दर के दरबार के सभासद थे। ईसा पूर्व ३०० के बाद यूनानी शिल्प कला की धीरे धीरे अवनति होने लगी।

मिट्टी के बरतन—बड़े प्राचीन काल से यूनान के बने हुए मिट्टी के बरतन, जैसे गमले, फूलदानी, सुराही आदि मिश्र, सिसिली प्रभृति देशों में भेजे जाते थे। ये सब रंगीन होते थे और कदाचित् इन पर चित्रादि बने रहते थे। पेरिकलीज़ के युग में एथेन्स में कुम्हारों का अलग एक मुहल्ला था। वहाँ नाना आकार-प्रकार की फूलदानी बनती थी और

बाहर भेजी जाती थीं। एटिका के बने हुए लाल बरतनों की विदेश में बहुत माँग थी। कुम्हार लोग इन पर अपना नाम लिख देते थे।

संगीत-शाला—एथेन्स की संगीत-शाला का नाम ओडीयुम् था। पकड़े हुए ईरानी जहाजों की लकड़ी से इसकी छत बनायी गयी थी।

जिमनेशियम् में नवयुवक और युवतियों को मुष्टि-युद्ध, कुस्ती, भाला फेंकने, लोहे का तवा फेंकने, दौड़ और कूद-फाँद की शिक्षा दी जाती थी।

प्राचीन रोम^१

प्रारंभिक दशा में रोम वालों के समाज में पवित्रता का वातावरण विराजता था। नागरिक सन्धे हृदय से देश भक्त होते थे। चिन्ताशील दार्शनिक, कट्टर सदाचारी और भावुक कवि, सभी श्रेणी के नागरिक कूट-नीति-विशारद अथवा सैनिक बन कर जब जब देश पर विपत्ति की घनघोर घटा छा आयी, तब तब उन्होंने हँसते हुए मृत्यु को वरण किया। संक्षेप में सभी के हृदय में नागरिकता का भाव ठसाठस भरा हुआ था। समाज प्रायः सैनिक ढाँचे पर गढ़ा हुआ था। अतः उसके दोष और गुण, सभी कुछ उसमें देख पड़ते थे। प्राचीन रोम के निवासी पशु-बल पर निर्भर, निर्भय और घमण्डी होते थे। अपनी जाति, देश-वासी और मित्रों के अतिरिक्त और किसी से वे शिष्टता का बर्ताव तक नहीं करते थे। साथ ही वे त्यागी, निडर, परिश्रमी, कर्तव्यपरायण, सहनशील तथा अनाडंबर होते थे।

विवाह-बंधन पवित्र समझा जाता था। सामान्यतः लोग एक-पत्नी व्रत का पालन करते थे तथा समाज में स्त्रियों का आदर-सत्कार बना रहा। रीति-नीति संयत थी। बेटी के सम्मुख धर्म-पत्नी को चूमने के लिये विधान समा के एक विचक्षण सदस्य को डाँट-फटकार सुननी पड़ी। रोमन माताएँ स्वयं बच्चों को दूध पिलाती थीं। यह काम धाई को सौंपने से समाज में

^१ 'इसत्वार द' ला प्रॉस्तित्युसियों, हिस्ट्री आव् मॉरल्स, गिबन का डिक्लान्ड पंड फाल आव् दि रोमन् एम्पायर, टेसिटस्, सेक्स एण्ड सेक्स वर्शिप, गॉड्स ऑब् जेनरेशन, फाल्क वरशिप इत्यादि ग्रन्थों पर आधारित।

निन्दा होती थी। विधवा-विवाह की रीति का प्रचलन कम था। बाजारू स्त्रियों से सभी घृणा करते थे। पण्य स्त्रियाँ विवाह-बंधन की अधिष्ठात्री देवी जूनो के मन्दिर में घुसने नहीं पातीं।

परन्तु प्युनिक युद्ध समाप्त होने और यूनान की विजय के उपरान्त (१४६ ईसा पूर्व) प्राचीन रोम वालों की नीति के स्तर में भाटा आया। विजित यूनान ने अपने विजयी को पछाड़ दिया। यूनान की प्रतिभा ने रोम वालों की राजनीतिक कुशलता, संघटन शक्ति, वैधानिक पटुता साहित्यिक प्रगति और धार्मिक सहनशीलता को झिलकुल मिट्टी में मिला दिया। स्वल्प काल में रोम वालों ने यूनानी हाव-भाव, रीति-नीति, साहित्य-कला, विचार और सिद्धान्तों को अपना लिया। इन्हीं दिनों स्टोइक मत के सहारे रोम वालों के चरित्र की अच्छाईयाँ फूलने फलने लगीं और एपिक्योर-वाद की आड़ में उनकी ओछी प्रवृत्तियाँ पनपने लगीं।

रोजी कमाने के उद्देश्य से प्रेरित हो जब प्रख्यात यूनानी अध्यापक लोग रोम में भिन्न-भिन्न “वादों” का प्रचार कर रहे थे, तब यूनानी लेखक और साहित्यिक-दास लोग यूनानी साहित्य के ढाँचे पर रोमन साहित्य की नींव रख रहे थे। प्रारम्भिक दशा में रोम के लेखक तक यूनानी भाषा का उपयोग करने में दुर्बिधा नहीं करते थे। उन दिनों रोमन भाषा इतनी दरिद्र थी कि उसका उपयोग नहीं हो सकता था। यूनानी कलाकार, भास्कर और वास्तु-विद्या विशारदों ने रोम के अभिमान को तृष्ट करने के लिये मिली जुली एक अभिनव शैली चालू की जिसमें व्यावहारिक मूल्य को प्रधानता मिली। यूनानियों की देखादेखी नाट्यशाला खोली गयी। वहाँ यूनानी नाटकों के अनुकरण पर रचित नाटक खेले जाने लगे। यहाँ तक कि रोम की प्रेमिक-प्रेमिकाएँ बहुत दिनों तक एक दूसरे से बात चीत करते समय प्रेम के पर्याय-वाची यूनानी शब्दों का उपयोग करती रहीं।

निरन्तर गृह-युद्ध के फल स्वरूप जब साम्राज्य का सङ्घटन हुआ तब अभिजात वर्ग की पूछ-ताछ जाती रही। नीच कुल के मनुष्यों को भी उच्च पद मिलने लगे तथा व्याह-शादी में रोक-टोक नहीं रहने पायी।

जूलियस् सीज़र तथा एन्टोनी का परम मित्र वासस् प्रारम्भिक दशा में खचर हाँकने वाला था। परन्तु वह सेनापति, फिर बाद में कान्सल् तक बनाया गया। उसी प्रकार स्पेन के बाल्बस् ने पदोन्नति की थी। ऑगस्टस् सीज़र ने संसद् के सदस्यों के अतिरिक्त कुल नागरिकों को स्वतंत्र दासी-पुत्रियों से विवाह करने की आज्ञा दी थी। सम्राट् लोग स्वयं अभिजात सम्प्रदाय वालों से जलते थे। अतः उस वर्ग का सफाया करने के लिए उन्होंने कुछ भी उठा न रखा। क्रमशः पदाधिकार, धनाभिमान और वारिण्य-व्यापार सभी कुछ नीच कुल में उत्पन्न ऐसे व्यक्तियों के हाथ लगे जिनसे अभिजात वर्ग के लोग पहले बोलते तक नहीं थे। अब वे उन्हीं के कृपा-प्रार्थी बन कर दर दर फिरने लगे। जूलियस् सीज़र के शासन-काल में जाति के रोमन न होने पर भी गॉल (फ्रांस) के प्रतिनिधि विधान सभा के सदस्य बनाये गये। साम्राज्य के विस्तार के साथ साथ रोमन सैनिकों को दूर दूर के देशों में भेजना पड़ा। बहुत दिनों तक विदेश में रहने के कारण उनके मन से कृप-मंड़कता का भाव जाता रहा। आवागमन के साधनों की सहूलियत होने ही रोमन नागरिक राजनीतिक, यौद्धिक और व्यापारिक काम-काज के प्रसंग में अथवा स्वास्थ्य प्राप्त करने, तबीयत बहलाने, विद्या सीखने किंवा यात्रा करने के उद्देश्य से साम्राज्य के कोने-कोने तक आने जाने लगे। इससे उनके हृदय से संकीर्णता की भावना जाती रही। काड़ा-कौतुक और भांग-विलास के साधनों की विविधता होने तथा सामर्थ्य, ऐश्वर्य और प्रतिभा का केन्द्र बन जाने के कारण रोम क्रमशः अन्तर्राष्ट्रिय महानगर बन गया। वहाँ सभी जाति और मतावलंबियों से एक रंग का वर्त्ताव किया जाता था। यूनानी के अतिरिक्त मिस्री और यहूदी मत तथा रीति-नीति का भारी प्रचार था। रोमन साहित्य तथा दर्शन को समृद्धशाली बनाने में कारथाजीनियन्, गॉलिक तथा स्पेनियार्ड सभी ने हाथ बँटाया। दास-दासियों की अनैकता से स्वतंत्र नागरिक का नाम-रिचहू तक मिट जाने की नौबत आयी। तब खरीदी हुई दास-दासी और उनकी संतति को मुक्ति देने की प्रथा चल निकली। वे भी भिन्न-भिन्न प्रान्त के होते थे। मुक्ति मिलने के अनन्तर वे

रोम के स्वतंत्र नागरिक बन कर वहीं बस जाते और क्रमशः उच्च पदाधिकारी बनते गये। अन्तिम दिनों में रोम के नागरिक अधिकार भिन्न-भिन्न प्रान्त के सभी निवासियों को मिल गये। इस प्रसंग में मॉन्टेस्किए ने लिखा है कि “समग्र विश्व-ब्रह्माण्ड के निवासी रोम में एकत्र हुए थे। रोम उन्हें दास के रूप में प्राप्त करता तथा भरपूर रोमन बनाकर वापस भेजता”

इस प्रकार तत्कालीन सम्य संसार के भिन्न-भिन्न देशों के निवासियों के संसर्ग और संपर्क में आने से रोम वाले क्रमशः मिलन-सार बनते गये तथा पूर्व जैसा प्रकृति के उद्दण्ड और अहंमन्य नहीं रह गये। इन्हीं दिनों और और प्रान्तों के निवासियों से अधिक मिलने जुलने के कारण उनकी बुरी लतें भी उनमें समायीं। रोमन सैनिक इनके प्रधान शिकार बने तथा बहुत दिनों बाद जब वे घर लौटते थे तब औरों से सीखी हुई बुरी लतें और भोग-विलास के अभिनव साधन वे खास रोम में प्रचलित करते थे।

कहा जाता है कि रोम का स्थापयिता रोमुलस् कृषि और सैनिकता ही को शिष्ट जनों की आजीविका मानता था। उसके विचार से इन दोनों के अतिरिक्त तीसरा कोई मार्ग खुलानहीं था जिसे कोई सज्जन अपना सके। तदनुसार वेस्पेशियन ने कृषकों को सम्मान के पद दिये तथा सम्राट् एन्टो निनस् स्वयं खेती करता था। किन्तु साम्राज्य का संघटन होने के साथ-साथ भूमिदार कृषकों की संख्या बहुत घट गयी। अमीर इन खेतों को मोल ले कर दासों से जोतवाते थे। अपना खेत खो देने पर दासों के रहते वे खेतिहर मजदूर भी नहीं बन सकते थे। ऐसी दशा में लाचार हो कर वे रोम में बस जाते थे। वहां सरकार द्वारा वितरित निःशुल्क अन्न खा कर वे जीवन निर्वाह करते थे और आलस्य में समय व्यतीत करते थे। मारकस् अर्रेलियस्, वाले-टीनियन् प्रमुख सम्राटों ने वर्वरों से खेती करवाने की रीति प्रचलित की। किन्तु इससे साम्राज्य को बड़ी क्षति पहुँची तथा साम्राज्य के अधःपतन का एक कारण यह भी माना जाता है। इस प्रकार क्रमशः ‘जो इटली पहले साम्राज्य के धुर प्रान्तों को अन्न पहुँचाया करता था, अब प्राण धारण करने की अत्यावश्यक सामग्री के लिये हवा और लहरों की मौज पर निर्भर हो

गया।” रोम की दरिद्र, परंतु स्वतंत्र जनता को राष्ट्र की ओर से निःशुल्क अन्न बाँटने की प्रथा थी। इस लिये शासक लोग अफ्रीका, सिसिली प्रमुख दूर दूर से प्रान्तों से अन्न के रूप में कर उगाहते थे। इस प्रकार भोजन का प्रबंध करने के अतिरिक्त राष्ट्र की ओर से नकली युद्ध प्रभृति दिखा कर नागरिकों का मन बहलाने का आयोजन भी किया जाता था।

रोमन चरित्र में बचे बचाये जो मी गुण थे उन्हें दास प्रथा ने चौपट कर दिया। सामान्यतः दास प्रथा होने से समाज पर उसका बुरा प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से पड़ता है। एक ओर तो गृह स्वामी परिश्रम करने से मुँह मोड़ता है, मिजाज का उद्धत, उद्दंड और स्वेच्छाचारी बन जाता है, उधर दास-प्रथा स्वतंत्र किन्तु दरिद्र नागरिकों को ले बीतती है। उद्योग-धंधों के न होने से तथा व्यापार में रुचि न होने के कारण भाँति भाँति के अभिनव, परन्तु संदिग्ध, पेशों का आविर्भाव हुआ। इन में नट, नर्तक, मूक अभिनेता, भाड़े पर मिलने वाले योद्धा, भेदिये, दलाल, ज्योतिषी, धर्म-ध्वज इत्यादि मुख्य थे। ये सब अधिकतर किसी धनी के दरबारी होते थे तथा उनका भरण-पोषण भी वह करता था। बड़ों की छत्र-छाया में रहकर चापलूसी करके और हाँ में हाँ मिलाकर, अंबर बेल की तरह, वे फूलते फलते रहे।

उपर्युक्त कारणों के एकत्र होने और घटनाओं के आ घटने से रोम वालों के चरित्र की प्राचीन विशिष्टता और विशुद्धता जाती रही तथा साम्राज्य के संघटित होते-होते वह जाति क्रमशः अधःपतन की चरम सीमा तक पहुँच गयी। बदचलनी ऐसी व्यापक थी कि समूचे राष्ट्र के एक एक वर्ग पर वह सवार हो गयी तथा न स्टोइक-वाद और न ईसाई मत ही जनता को नियंत्रित कर पाया। इसके पहले प्राचीन यूनान में भी भ्रष्टाचार की बाढ़ आयी थी। किन्तु यूनानियों के जातीय चरित्र में सरसता, कोमलता और सहृदयता के होने के कारण वहाँ दुराचार की कीच में से कला-कमल का आविर्भाव हुआ था। रोम वालों के जातीय चरित्र में रूखापन और अखड़पन की अधिकता होने के कारण वहाँ मनोविनोद पशु वृत्ति चरितार्थ करने का नामान्तर हो गया। रोम के भोग-विलास पर शालीनता

अथवा सहम-संकोच की छाप बिल्कुल नहीं थी, तथा वे बेहयाई और रुचि-विकार के मूर्त्त प्रतीक थे। नीचे इसके कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं।

प्राचीन रोम वालों की कुछ तत्परताएँ ऐसी थीं, जिनसे उनका छैलापन की सूचना मिलती है। नागरिकों की तबरीयत बहलाने के लिये रोम में प्रायः रथों की दौड़ होती थी। इस प्रसंग में तर्क वितर्क करते करते मारे जोश के नागरिक लोग प्रायः दल बद्ध होकर रोम की सड़क और गली-कूचों में आपस में लड़ जाते थे। समय समय पर ये दंगे-फसाद इतना भयंकर रूप धारण करते थे कि जनता राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक कथोपकथन ताक पर रख कर, सर्वदा साम्राह इन्हीं की चर्चा किया करती थी। बंडालों ने जब रोम वालों से कारथेज नगर छीन लिया तब उसकी चिंता बिल्कुल न कर नागरिकों ने रथों की दौड़ का प्रबंध करने की माँग की। ट्रीवस नगर में आग लग जाने से कुल नागरिक वहाँ से भाग निकले। समीप के किसी स्थान में आश्रय मिलते ही पहली माँग जो उन्होंने प्रस्तुत की वह यह थी कि नाटक और सरकस दिखाये जाँय !

फल-फूल की अधिष्ठात्री देवी फ्लोरा से सम्मान में प्रति वर्ष रोम में क्रीड़ा-कौतुक करने की प्रथा थी। इस प्रसंग में दिगम्बर पण्य-स्त्रियाँ की दौड़ की प्रतियोगिता होती थी। जीतने वाली रमणी को पारितोषिक मिलता था तथा उसकी कमाई में भी वृद्धि होती थी। अमीरों के घर जब दावत दी जाती थी, तब विवस्त्र स्त्रियाँ भोजन परोसती थीं। सार्वजनिक स्नानागारों में नग्न स्त्री-पुरुष एक साथ नहाते थे। कान्स्टान्टाइन ने इस प्रथा को दबाया। पान्टोमाइम् अथवा मूक अभिनय इस लिए इतने रोचक तथा लोक-प्रिय माने जाते थे कि अभिनेता लोग सहम-संकोच ताक पर रख कर खुल्लम खुल्ला अश्लील हाव-भाव बताते हुये मनोभाव प्रकट करते थे। रंगमंच पर तारिकाएँ प्रायः नंगी काम करतीं और पुरुष अभिनेता कमर में नकली लिंग बाँध लेते थे। कभी कभी नंगी-धड़ंगी स्त्रियाँ पंखदार अतिकाय एक लिंग-मूर्ति लाकर मंच पर पधरातीं; फिर उसी को घेर कर वे अश्लील गीतें गाती थीं।

नागरिकों के घर की भीतों पर तथा मकान-मंजिलों की ब्योढ़ी पर चतौर नाप-पट्ट के कुरुचि पूर्ण चित्रादि खींचने की प्रथा थी। अभी तक ऐसे चित्र रोम के पुराने मकानों की दीवार पर तथा पॉम्पे के गृह-द्वारों पर दिखाई पड़ते हैं।

यत्र तत्र विवस्त्र स्त्रियों के संपर्क में आने के कारण रोम के कुछ लोग नितंब-पूजक बन गये। पेट्रोनियस् (१ली शती) का कथन है कि इस पंथ के अनुयायी सौम्य और सुठार रमणी देखते ही उनका पीछा करते और चिकनी-चुपड़ी बातें कह कर उन्हें मना लेते। फिर निराले स्थान में ले जा कर संभवतः वे उस स्त्री का नितंब चूमते थे।

अधिकतम स्त्रियाँ व्यभिचारिणी बन गयीं तथा पातिव्रत धर्म को तिलांजलि दे कर वे भोग-विलास की मुकामल शय्या पर लोट-पोट करने लगीं। घोर घन घटाच्छन्न महानिशा की गोद में टिमटिमाती हुई तारिका जैसी साध्वी महिलाओं की संख्या इनी गिना हो गयी। अधिक से अधिक स्त्रियों ने वेश्यावृत्ति अपनायी। इसके लिये रोम का प्राचीन धर्म-विश्वास और शिक्षा-पद्धति बहुधा उत्तरदायी थी। प्राचीन धर्म में आचार-अनुष्ठान प्रभृति को भरमार होने पर भी उसमें नैतिकता की कमी थी। देवता भी या तो किसी रूपक के आधार पर बनायी हुई मूर्ति, या किसी सद्गुण की प्राणहीन प्रतिमा अथवा हस्त-कौशल से संबन्धित किसी विभाग के अधिष्ठाता होते थे। समुद्री वेंड़े का नाश होने पर ऑगस्टस् ने औप-चारिक रूप से समुद्र-देवता नेपच्यून का वहिष्कार किया; कवि ओविड् ने जुपिटर को आदर्श पापी कहकर वर्णन किया; सीसेरो, प्लुटार्क, मार्क्समस् प्रमुख लेखकों ने मूर्ति-पूजन की प्रथा की या तो निन्दा की अथवा अवृक्ष जनता के मन को भुलावा देने का साधन मानकर उसे थोड़ी बहुत मान्यता दी। क्रमशः भ्रष्टाचारी सम्राट और उनकी व्यभिचारिणी स्त्रियों की मूर्ति बना कर उनके आगे पूजा चढ़ाने और मनौती करने की प्रथा चल निकली। कहने का आशय यह है कि रोमन धर्म में न तो लोक-शिक्षा और न श्रेयणा भरने की ही सामग्री थी। आश्चर्य नहीं कि प्राचीन रोम ने अन-

गिनत देश भक्त, महावीर, दार्शनिक, कूटनीतिज्ञ, अनुभवी शासक प्रभृति को जन्म दिया था, परन्तु वहाँ एक भी सन्त नहीं उत्पन्न हुआ। शिक्षा प्रणाली में भी त्रुटियाँ थीं। पहली बात तो यह है कि बचपन से रोम की बालक-बालिकाओं का पालन पोषण भोग-विलास के वायुमंडल में हुआ करता था। वहाँ उनके सम्मुख न उच्च आदर्श रखे जाते थे और न अनुसरण के योग्य उपदेश ही। सर्वोपरि उनके प्रारंभिक शिक्षक दास-दासियाँ होती थीं। वे अधिकतर काम-चलौआ शिक्षा दिया करते थे। तथा विद्यार्थियों के चरित्र-संगठन पर ध्यान कम देते थे।

यूनान के एफ्रोडाईट का नाम रोम के पौराणिक साहित्य में वीनस् पड़ा। वह उपज की देवी मानी गयी। एडोनिस् उसका प्रेमिक था। अतएव साम्राज्य भर में जहाँ-जहाँ वीनस् का मन्दिर था, वहाँ धर्म के नाम पर अच्छे कुल की महिलाएँ भी वेश्यावृत्ति करने में सकुचाती नहीं थी। स्याम के हेलिओपोलिस नगर में उसी प्रकार फिनीशिया की महादेवी अस्टार्ट का मन्दिर था। वहाँ माताएँ और कन्याएँ धार्मिक भावना से प्रेरित होकर वेश्या-वृत्ति करती थीं। सम्राट् कान्स्टान्टाईन ने उस मन्दिर को गिरवा दिया और उसके स्थान पर एक गिर्जा घर बनवा दिया। ईसाई मत के प्रचार होने से पश्चात्य देशों ने धीरे-धीरे इन कुरीतियों की इति-श्री हो गयी। पैसा और नाम कमाने के लिये यूनान, मिस्र, स्याम प्रमुख देशों से प्रख्यात गाणिकाएँ रोम पहुँच गयीं। वनिकों के वास-गृह में यूनानी, मिश्री और स्याम की सुन्दरी दासियाँ बूढ़ों की लुभती हुई कामाग्नि को धधकाने के लिये सर्वदा तैयार रहती थीं। साधारण स्नानगारों की भी वही दशा थी। माताएँ कन्याओं को वेश्या-वृत्ति करने से रोकती नहीं थी। यहाँ तक कि अभिजात वर्ग की युवतियाँ भी इस रीति से पैसा कमाने में सकुचाती नहीं थीं। टाइबेरियस् ने इस प्रथा का अन्त कर दिया। ऐसी परिस्थिति में गर्भ-पात, शिशु-हत्या तथा जन्मे हुए बच्चों का त्यागना प्रतिदिन की मामूली घटना हो गयी।

वेश्या-वृत्ति को केन्द्र मान कर कई आजीविकाओं का उदय हुआ।

उत्तर काल के ईसाई मत के अनुयायी सम्राटों ने कठोर कानूनों की रचना कर इन पापाचर्यों को दबाने की चेष्टा की। कुटनों के गले में सीसा गला कर ढालने का नियम बनाया गया; ईसाई मत को अपनाने पर अभिनेत्री तथा बड़ी-बड़ी दावतों के अवसर पर नाचने-गाने वाली स्त्रियों को दासत्व से मुक्ति मिल जाती थी तथा बलात्कार प्रमाणित होने से स्त्री-पुरुष दोनों को मृत्यु दंड दिया जाता था। परन्तु ये सब कानून कार्यतः कहाँ तक लागू किये जाते थे, इसमें बड़ा संशय है।

नव-युवक सम्राट् लोग, घटनाओं के उफान ने जिन्हें निम्न स्तर से ऊपर उठाकर अचानक गद्दी पर पटक दिया था, दिन-रात चापलूस और कुटनों की मडली में पड़े-पड़े हत्यारों के शिकार बनने से सदैव भयभीत रहा करते थे। “चार दिन की चाँदनी” का भरपूर उपयोग करने के अभिप्राय से लालायित हो वे नाना प्रकार के स्वाभाविक और अस्वाभाविक उपायों के द्वारा अपनी पाशव प्रवृत्तियों को चरितार्थ करने पर आमादा हो जाते थे। मारशल, पेट्रोनियस्, लुक्रियन्, सिऊटोनियस् प्रमुख रोमन लेखकों ने इनका विशद विवरण दिया है। उनका सविस्तर उद्घरण देना आधुनिक काल की रुचि से मेल नहीं खायेगा। इसलिये संक्षेप में इने गिने कुछ उदाहरण नीचे प्रस्तुत किये जाते हैं।

हिन्दी में एक लोकोक्ति प्रचलित है—जैसा राजा, वैसी प्रजा। इसका सरल अर्थ यह है कि रियाया बहुधा शासक का अनुकरण करती है। शासक यदि अच्छे चाल चलन का हुआ तो प्रजा भी उसके पदांक का अनुसरण करती हुई सदाचारी बनेगी। इसके विपरीत शासक यदि स्वयं दुर्नीति के जाल फँसा रहे तो उसकी देखा देखी रियाया भी स्वभावतः कदाचार की कीच में बिलबिलाती रहेगी। जनता शासक को अपना आदर्श मानती है। अतः शासक का यह कर्त्तव्य है कि सदाचार के विषय में वह अपनी रियाये के सम्मुख उच्च आदर्श प्रस्तुत करे। तभी वह औरों पर अपना नैतिक प्रभाव जमा सकता है।

दुर्भाग्यवश रोम में लोक तंत्र शासन-पद्धति का अवसान होने के

साथ जुलियस सीज़र से आरंभ कर जितने भी शासक हुए उनमें से अधिक-तम विकृति रुचि के व्यभिचारी निकले। आश्चर्य नहीं कि साम्राज्य के दिनों में रोम में रुचि-विकार और कुनीति की छूत सी लग गयी और रोम की जनता खुल्लमखुल्ला मनमाना करने में सकुचाती नहीं थी। स्वयं शासकों में संयम की कमी होने से वे प्रजा को नियंत्रित भी नहीं कर सकते थे।

जिस जुलियस् सीज़र की शूरता-वीरता, नीतिमत्ता तथा बुद्धि की विलक्षणता ने रोम के राजनीतिक प्रभाव को उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया था, वही जुलियस् सीज़र अपनी रियाया के सम्मुख बदचलनी के क्रियात्मक उदाहरण प्रस्तुत करने से तनिक भी हिचका नहीं। उसने लोलिया, टरटुला, मरशिया प्रमुख अभिजात वर्ग की बहुत सी महिलाओं पर बलात्कार किया। परन्तु ये सब 'चार दिन की चाँदनी' थीं। ब्रुटस् की माँ, सरमिलिया को वह हृदय से चाहता था। जब वह प्रमुख कान्सल बना तब उसने सरमिलिया को एक अनमोल मोती उपहार दिया था। फिर गृह-युद्ध की गड़बड़ी के दिनों में उसे कई एक उपजाऊ खेत गुठली के दाम पर खरीदवा दिये। बाद सरमिलिया ने बड़ी-बड़ी युक्ति करके उसे अपनी बेटी टरशिया के साथ जुटा दिया। गॉल जीतने के अनन्तर उसके सिपाहियों ने नारा लगाया था—“नागरिक, अपने घर की महिलाओं की सुरक्षा का प्रबंध करो ! गंजा व्यभिचारी वह आ रहा है ! सीज़र, रोम में तुमने जितना धन एकत्र किया था, गॉल में तुमने स्त्रियों के पीछे सब कुछ फूँक दिया !” उसने कई विदेशी रानियाँ को भी दूषित किया। इनमें से मॉरिटैनिया की रानी यूनो का नाम अधिक प्रसिद्ध है। मिस्र की क्लियोपेट्रा से उसका संबंध बड़ा घनिष्ठ था। उसके बेटे को अपना उत्तराधिकारी बनाने का भी निश्चय किया था। निरन्तर बदचलनी के कारण सीज़र ने ऐसा नाम कमाया था कि सिज्जटोनियस् के कथनानुसार किऊरिओ नाम के एक प्रमुख वक्ता ने संसद के खुले अधिवेशन में “साम्राज्य भर की कुल धर्म-पत्नियों का एकमात्र पति और कुल पतियों की एकमात्र पत्नी” कर सीज़र की धज्जी उड़ायी थी। इस व्यंगोक्ति के शेषार्थ का संबंध एक लज्जाकर घटना से था जिसमें

बिथूनिया के शासक नाईकोमिडीज़ के साथ सीज़र का नाम प्रकाश्यतः साना जाता था। वृद्ध किऊरिओ उसे खुल्लमखुल्ला “नाईकोमिडीज़ की रखनी” और “बिथूनिया की वारनारी” कहकर चिढ़ाता था। सर्वाधिनायक चुने जाने (ईसा पूर्व ४६) पर बाजे गाजे के साथ सीज़र के सम्मान में सवारा निकाली गयी। उस समय उसके सिपाही नारा लगाते थे—“सीज़र ने गॉल जीता; नाईकोमिडीज़ ने सीज़र को जीता। गॉल के जीतने पर सीज़र की जीत रही; किन्तु सीज़र को जीतने पर भी नाईकोमिडीज़ की पराजय हुई!” जीते जी सीज़र ने कभी इस लांछन का प्रतिवाद नहीं किया।

अक्वेवियस् (ईसा पूर्व ४३) दिखावे में व्यभिचार को घृणा की दृष्टि से देखता था और भ्रष्टाचार रोकने के लिए उसने कई कानून भी जारी किये। परन्तु चरित्र में वह अपने चाचा जुलियस् जैसा ही लंपट था। सेक्सटस् पाम्पे का कहना है कि उसका हाव-भाव स्त्रियों के समान था। मार्क एन्टोनी का कथन है कि बाल्यावस्था में अपने शरीर की पवित्रता बेचने के बाद वह अपने चाचा का उत्तराधिकारी बनाया गया था। परन्तु ये सब अक्वेवियस् के राजनीतिक विरोधियों की उक्तियाँ हैं। संभव है बदनाम करने के लिए इनकी रचना की गई हो ! कुछ भी हो, स्त्री जाति के प्रति उसकी दुर्बलता चिरकाल तक बनी रही। मार्क एन्टोनी के लिखित एक पत्र से विदित होता है कि अक्वेवियस् ने टरटुला, रूफला, टिटिसिनिया प्रमुख अभिजात वर्ग की स्त्रियाँ को बिगाड़ा था। ओविड ने उसे अपनी पुत्री जुलिया से प्रेम करते हुए देख लिया था। इसलिए वैचारे कवि को बड़ी-बड़ी आपत्तियों का सामना करना पड़ा। वृद्धावस्था में वह कुमारी कन्याओं का संसर्ग करता था। जब उसकी ताकत जाती रही तब से वह जूआ खेलने लगा। बारी-बारी से बादशाह ने तीन विवाह किये। इनमें से दो को तलाक दे दिया। स्वयं व्यभिचारिणी होने के कारण अन्तिम पत्नी लिमिया अपने पति की बदचलनी की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखती थी। खास रोम में जब भारी अकाल पड़ा हुआ था और नागरिक मारे भूख के तड़प रहे थे, तब अक्वेवियस् ने समारोह के साथ अपने महल में

एक दावत दी। इसमें निर्मंत्रित सज्जन एक-एक देवता का भेस बना कर पहुँचे थे। बादशाह स्वयं एपोलो बना था। रात भर वहाँ पान-भोजन के साथ-साथ पौराणिक देवताओं की बदचलनियाँ दोहराई गयीं। इस पर सारे रोम में हल्ला मच गया कि “कुल अन्न देवता चट कर गये!” एक मुंह-फट ने सम्मति प्रकट की कि “यदि सीज़र सचमुच एपोलो है, तो वह जल्लाद एपोलो होगा!”

टाइवीरियस् (१४ ई०) के रुचि-विकार के आगे जुलियस् और अक्टेभियस् की रंग-रलियाँ बिलकुल फीकी पड़ जाती हैं। दिखौए रूप से बादशाह ने व्यभिचार का व्यापक प्रचार रोकने के लिये कठोर से कठोर कानून जारी किये, परन्तु वह अपने को कानून की पहुँच से परे मानता था। इसलिये वह बेधड़क मनमानी किया करता था। एक दिन संसद की बैठक में बादशाह ने सेस्टियस् गॉलस् नाम के एक पुराने खुर्रोत को बदचलनी के लिए बहुत डाँटा। जाते समय उसने गॉलस् के यहाँ नैश भोजन करने की इच्छा प्रकट की। साथ ही उसे निर्देश दिया गया कि प्रचलित रीति नीति में कोई फेर बदल न किया जाय। इसका अर्थ यह था कि विवस्त्र स्त्रियाँ यथारीति भोजन परोसें और भोजन के उपरान्त व्यभिचार का नंगा नृत्य भी हो! ऐसी स्त्री अथवा पुरुष जो बादशाह के अनुचित काम-काज में हाथ बँटाने से अस्वीकार करता था, वह उनका बध करवा देता था। उसके अत्याचार से घबरा कर मेलोनिया ने आत्मघात किया था। मरते समय उसने टाइवीरियस् को “खस्सी जैसा महकने वाला” कह कर गालियाँ दी थीं। तभी से बादशाह सलामत का उपनाम “काप्रिनियस्” अथवा बकरा पड़ा। सिउटोनियस् का कथन है कि बादशाह ने एक प्रकाण्ड तहखाना बनवाया था। उसकी भीत पर जितने चित्र अंकित थे, वे सरासर विवृत रुचि के थे। उनमें नाना प्रकार के आसन दर्शाये गये थे। वहाँ कामशास्त्र संबंधी पुस्तकों की कमी नहीं थी। बादशाह के बुझते हुए अरमान को उकसाने के लिये वहाँ विचित्र विचित्र बेहयापन किया जाता था।

केलिगुला (३७ ई०) गला फाड़ फाड़ कर अपने कुकृत्यों की डींग

हाँका करता था। सहम-संकोच को तिलांजलि दे वह लेपिडस् नाम के एक नट और नेस्टर प्रमुख कई नजरबन्द कैदियों के साथ कायिक संबन्ध रखता था। भालेरियस् केटलस् का बाप कान्सल रह चुका था। किशोर अवस्था में बादशाह ने उसके साथ बदचलनी की थी। किसी कारण वश एक दिन उसने बादशाह से रूठ कर जली भुनी खूब सुना दी। केलिगुला बहरा बन कर बैठा रहा। सिउटोनियस् का कहना है कि उसने अगम्यागमन तक किया था। इस प्रसंग में उसने उसकी बहनों का नाम लिया है। उसकी पिरालिस् नाम की एक रखनी भी थी। प्रायः वह समारोह के साथ राजभवन में भोज दिया करता था। इन अवसरों पर जितनी महिलाएँ वहाँ पहुँचती थीं, बादशाह पारखी बन कर प्रत्येक के सौन्दर्य की जाँच पड़ताल किया करता था। पति के सामने उपस्थित रहते हुए भी वह मनचाही रमणी को अपने साथ लेकर वहाँ से खिसक जाता। फिर लौटने के बाद वह चिल्ला चिल्ला कर उस अभागिनी की शरीर संबन्धित त्रुटियाँ और अपने ओज की कहानी बखानने लगता। उसने बाजारू वेश्या और पेशेवर किशोर और बालकों पर कर लगाया। उसने स्वयं राजभवन में एक वेश्यालय खोला था। इसकी सूचना नगर में डुग्गी पिटवा कर दी गयी थी। कुछ लोगों का कहना है कि यह जुए का अड्डा था। वहाँ बादशाह सूदखोर महाजन बन कर खिलाड़ियों को रुपया उधार देता था।

टेसिटस्, सिउटोनियस्, ऑरेलियस् विकटर प्रमुख इतिहासकारों ने सम्राट् नीरो (५४ ई०) की करतूतों का विशद विवरण दिया है। उससे यही निष्कर्ष निकलता है कि चरित्र का वह बिलकुल पतित था और बेहयापन में उसे कोई पा नहीं सकता था। संध्या होते ही खच्चर हाँकने वाले वा मुक्त दासों का भेस बनाकर वह अकेले नगर के पानागार, स्नानागार, वेश्यालय जैसे निन्द्य स्थानों का चक्कर लगाया करता था। ऐसा करते समय प्रायः वह नीच श्रेणी के स्त्री-पुरुषों से झगड़ा मोल लेता, उन्हें पीटता और स्वयं पीटा जाता। उसके अत्याचार से घबराकर जब वेश्यालयों के संचालक, कलवार और नानवाइयों ने मिल कर अच्छी तरह से उसकी

मरम्मत करने की ठानी, तभी से नीरो अपने साथ कुछ शरीर-रक्षक सिपाही रखने लगा। अपनी मर्यादा और पदाभिमान भूल कर नीरो चौराहों पर नीच लोगों के साथ भोजन करता और नगर की वेश्याएँ और मुरली बजाने वाली लौंडियाँ बादशाह की सेवा करने के लिये उपस्थित रहती थीं। बादशाह जब नदी की हवा खाने निकलता तब किनारे पर अनगिनत वेश्यालय आदि स्थापित हो जाते थे और उनकी मालकिनें बड़ी बड़ी युक्ति करके उसे अपने यहाँ लाती थीं। नीरों हफ्तों वहाँ पड़ा-पड़ा नीच श्रेणी की बारनारियों के साथ रसकेलि किया करता था। सिउटोनियस् का कहना है कि नीरो स्त्री-पुरुष दोनों का संसर्ग किया करता था। उसने अभिजात वंश की कई महिलाओं को भी दूषित किया। इनमें रुत्रिया नाम की चिर-कुमारी अग्नि-परिचारिका भी थी। टेसिटस् ने स्पष्ट शब्दों में उस पर अग्रगण्यागमन तक का आरोप लगाया है। इस प्रसंग में लोग उसकी माँ एग्रिपिना का नाम लेते हैं। किन्तु यह विषय कुछ विवादास्पद है।

अचानक बादशाह एक दिन स्पोरस् नाम के वर्णनातीत एक सुन्दर बालक के प्रेम में बुरी तरह फँस गया। उसका लिंग बदलने के लिए चीर फाड़ भी की गयी। किन्तु कुल प्रयत्न बेकार गये। तब नीरो ने राजसी यौतुक दे घूँघट आदि पहना कर उसके साथ औपचारिक रूप से विवाह भी किया। यह अभिनव दृश्य अपनी आँखों से देखने के लिए हजारों नागरिक राजभवन के सुप्रशस्त आंगन में एकत्र हुए थे। शासक की मौज के साथ ताल मेल रखने के लिए सभी चिल्लाये “करामात ! करामात !” केवल एक मुँह-फट व्यक्ति ने उस समय सम्मति प्रकट की थी कि “यदि नीरो के बाप डोमीटियस् ने ऐसी नकली शादी की होती, तो सारे मानव समाज का कल्याण होता !” स्पोरस् बहुत दिन तक नीरो की आँखों की पुतली बना रहा। बेगमों की पोशाक पहने हुए स्पोरस् के साथ बादशाह सदैव समारोहों के अवसरों पर भी नागरिकों को दर्शन देता। यूनान की यात्रा करते समय स्पोरस् बादशाह के साथ गया था। जब दोनों पालकी की सवारी करते तब प्रति क्षण एक दूसरे के गले लगते थे।

नीरो का अभिमान था कि मैं बड़ा भारी कवि हूँ। इस प्रसंग में कभी कभी वह कल्पना-राज्य की उड़ान किया करता था। ऐसी दशा में बैल, शेर या रीछ की खाल ओढ़कर बादशाह निरीह स्त्री-पुरुषों पर हमला कर देता और पंजे तथा दांतों से नोच-बकोट और काटकर बुरी तरह विचारों को घायल कर देता। इस रीति से वह पुराणोक्त दैत्य और दानवों की कृतियों का अनुकरण किया करता। फिर कभी स्त्रियों की भाँति साज-सजावट कर वह नखरेबाजी करने लगता। ऐसे समय उसका एक मुक्तदास पति बनता था। आश्चर्य नहीं कि कुछ ही दिनों में जनता नीरो को घृणा की दृष्टि से देखने लगी। निदान हत्यारों ने उसका काम तमाम कर दिया। अंतिम क्षण तक स्पास ने उसका साथ दिया। दार्शनिक सम्राट् मारकस् औरेलियस् का पुत्र कमोडस् १८० ई० में सिंहासनारूढ़ हुआ। स्वभाव का वह बड़ा लम्पट निकला। निरंतर महीनों तक हरम में पड़ा पड़ा वह भोग-विलास में लोटपोट करता था। वहाँ नाना जाति और देश की छँटी हुई ३०० सुन्दरी नव-युवतियाँ और उतने ही छैल छबीले किशोर रहते थे। नव-युवक सम्राट् लज्जा-संकोच की अवहेलना कर तथा प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन कर सर्वदा उनकी सोहवत करता। बदचलनी करते-करते जब वह ऊब जाता था, तब वह बालकोचित क्रीड़ा-कौतुक में निमग्न हो जाता था। इस प्रसंग में वह सरकस, ग्लेडियेटरों का नकली युद्ध और शिकार जैसे खेलों में सक्रिय भाग लिया करता था। नागरिकों के जमावड़े में कभी कभी शुतुरमुर्ग, चीता, सिंह आदि पशुओं को मार कर वह अपने लक्ष्य-वेध करने की शक्ति का परिचय दिया करता। कदाचित् वह ग्लेडियेटरों के नकली युद्धों में सक्रिय भाग लेता था और इसके लिये खासी रकम पारितोषिक भी लिया करता था। निदान उसकी प्यारी रखनी मरशिया षड्यंत्र रच कर उसे ले बीती।

माक्रिन्स का बेटा एलागावालस् स्याम देश का निवासी था। सन् २१८ में उसे गद्दी मिली। उसका हरम भी नाना देश और जाति की रखनियों से ठसाठस भरा रहता था। वह हर दम पटरानी बदला करता था। इन

रानियों में चिरकुमारी-व्रत-धारिणी एक अग्नि-परिचारिका भी थी। सम्राट् उसे बलात् आश्रम से हरण कर लाया था। अनुचित होने पर भी ऐसे संसर्ग संपूर्ण स्वाभाविक थे। परन्तु वह अस्वाभाविक उपायों के द्वारा भी अपनी ओछी प्रवृत्तियों को चरितार्थ करने से हिचकता नहीं था। वह स्त्रीजनोचित वेश-भूषा पहनने और नखरेबाजी करने का बड़ा शौकीन था। नीच कुल में उत्पन्न उसके कई प्रेमिक थे। सम्राट् ने उन्हें उच्च पद दिये। एक नचवैये को उसने रोम का नगरपाल बना दिया। एक गाड़ीवान् को पहरेदारों का प्रधान और एक नाऊ को खाद्य-मंत्री ! इन प्रेमिकों के अतिरिक्त हिरोक्लीज नाम का एक पति भी था। वह रनिवास में बेगमों के साथ बिना रोक टोक केलि करता था।

सम्राट् कारोस के बेटे कारिनस् को २८४ ई० में गद्दी मिली। अज्ञात कुल-शील इस नवयुवक के पिता ने कुल १६ महीने शासन किया था। सिंहासनारूढ़ होने के बाद गॉलिक युद्ध में कारिवस् ने कुछ बहादुरी दिखायी थी। परन्तु राजधानी में लौटने के उपरान्त वह आमोद-प्रमोद में लोट पोट करने लगा। कुछ ही महीनों के बीच उसने नौ बार विवाह किये और बारी बारी से प्रत्येक को तलाक भी दिया ! उनमें से अधिकतर पत्नियाँ गर्भवती थीं। इन विवाहों के अतिरिक्त उसने अभिजात कुल की महिलाओं पर बलात्कार किये, जिससे उन घरानों के सदस्यों का मुँह काला हो गया। सम्राट् अधिकतर नट-नर्तक-वेश्या और कुट्टनों से घिरा पड़ा रहता था। एक दरवान् को उसने रोम का नगरपाल बनाया, एक कुट्टने को रक्षी-बैल का अधिनायक और दूसरे को कान्सल् नियुक्त किया। राजमहल और भोजनालय में ऐसे ही नीच व्यक्तियों का जमाबड़ा होता था। वह अन्यायमत्त रूप से रंगमंच, सरकस, नकली युद्ध जैसे रोमन लोगों के जातीय क्रीडा-कौतुक का पृष्ठपोषण करता था। साज-सजावट और चमक-दमक का वह बड़ा भूखा था। उसके जुलूस शान शौकत में प्रोवस् की जय-यात्रा को और खेल कूद की प्रदर्शनी सम्राट् फिलिप को अनायास मात कर देते थे। एक बार सम्राट् ने सरकस् के अखाड़े में नकली जंगल लगवाया। इस

प्रसंग में बड़े-बड़े जंगली पेड़-पौधे जड़ समेत वहाँ स्थानान्तरित किये गये। फिर उस बनावटी जंगल में एक एक हजार शुतुरमुर्ग, हिरन, बारहसिंगे, सुअर प्रभृति पशु छोड़े गये। दूसरे दिन नागरिकों को उसमें मनमाना शिकार खेलने की आज्ञा दी गयी। इस सिलसिले में कहा जाता है कि एक-एक सौ सिंह और सिंहनी, २०० चीते और ३०० रीछ मारे गये थे। निदान डायोक्लीटियन ने उसे युद्ध में हराया और एक ट्राईव्युन ने जिसकी पत्नी का उसने धर्मनाश किया था, उसे मार गिराया।

अस्वाभाविक-रति—प्राचीन यूनान की सामाजिक दशा वर्णन करते समय इस बात पर बल दिया गया था कि उसमें समजातियों के संसर्ग की प्रथा संभवतः व्यापक नहीं थी। इस लिये जो सजन ऐसा काम नहीं करते थे, उनकी सराहना की जाती थी। परन्तु प्राचीन रोम में यह प्रथा प्रायः सार्वजनीन थी तथा ऐसा करने में लोग बिलकुल हिचकते नहीं थे। संभवतः रोम के निवासी इस प्रथा को यौन-स्पृहा तृप्त करने का एक स्वाभाविक उपाय मानते थे। उनके समाज में यह प्रथा बड़े प्राचीन काल से चालू हुई थी। इट्रस्कन् काल के बने हुए मिट्टी के बरतनों पर की चित्रकारी से भी समजाति-संसर्ग का पता चलता है। रोम के निवासी इसे भी एक प्रकार के दासत्व का चिह्न मानते थे। इस लिये केवल दास जाति और विदेशियों से वे ऐसा नाता जोड़ सकते थे। स्वतन्त्र-जात किसी रोमन नागरिक के साथ बदचलनी करने से कठोर दंड दिया जाता था। पब्लियस् नाम के एक स्वतन्त्र रोमन किशोर के साथ बुरा बर्ताव करने के लिये पेपीरियस् पर जुर्माना लगाया गया था और उसे कैदखाने में ठूस दिया गया था। कुछ ही दिनों के बाद पब्लियस् पर वही आरोप लगाया गया। अपराध प्रमाणित होने पर उसे भी सजा मिली। निम्न पदस्थ किसी सैनिक कर्मचारी से बदचलनी करने के लिए मरजस् नाम के एक उच्च पदस्थ कर्मचारी (ट्राइब्यून) को दंड मिला था। फिर कर्णेलियस् नाम के एक सैनिक कर्मचारी (सेनचूरियन्) ने किसी स्वतन्त्र रोमन किशोर पर बलात्कार किया था। इस लिये उसे प्राण दंड की सजा

मिली थी। परन्तु शासकों की बदचलनी की छान-बीन करने से ऐसी धारणा होती है कि रोमन जाति की प्रबल लालसा के आगे कुल कानूनी प्रतिबन्ध प्रायशः हवा हो जाते थे तथा प्रत्येक नवयुवक चाहे वह स्वतन्त्र हो अथवा दास, उपभोग की सामग्री माना जाता था।

ऊपर कहा जा चुका है कि प्राचीन रोम में समजाति से संसर्ग करने की प्रथा बड़ी व्यापक थी। प्रत्येक गृहस्थ चाहे वह कितना ही चरित्रवान् क्यों न हो और चाहे वह कितना ही उच्च पदारूढ क्यों न हो, अपने घर में दास-दासियों के अतिरिक्त ऐसे कुछ छैल-छबीले छोकरे रख लेते थे, जिनसे वे खुल्लम-खुल्ला दुराचार करते थे। लुपनार या वेश्यालयों की भाँति हजारों दास-बालक और किशोर बालिकों में रह कर इस रीति से अपना घृणित कारबार करते थे। इनकी कमाई का पैसा व्यापारी के जेब में जाता था। कहा जाता है कि रोम वाले इस पंथ के इतने आदी थे कि लुपनारों में रहने वाली वारवनिताओं से कहीं अधिक ऐसे छोकरों की माँग थी। इनके अतिरिक्त कलवरिया, जुए के अड्डे, नाऊ और सुगंधित पदार्थों के बेचने वालों की दुकान और सार्वजनिक स्नानागारों में काम-कला में निपुण हजारों की संख्या में ऐसे छोकरे पाले-पोसे जाते थे। जिन्हें कुत्रापि ठहरने का स्थान नहीं मिलता वे गली-कूचों, बाग-बगीचों, उजाड़ मैदान, समाधि क्षेत्र और वीरान जंगलों में चलते-फिरते थोड़ा बहुत कमा लेते थे। सात वर्ष की वय से ऐसे बच्चों की शिक्षा शुरू हो जाती थी। इस श्रेणी के बालकों का साधारण नाम “किराये के छोकरे” था। इनकी स्त्री-जनोचित आकृति-प्रकृति और चाल-ढाल होती थी; मूँछ-दाढ़ी अथवा शरीर पर रोएँ नहीं होते थे; वे धँवरदार बाल रखते, तिरछी नजर मारते और अर्थ पूर्ण हाव भाव करते थे। सड़क पर जाते समय यदि कोई छोकरा किसी की नजर में जँच जाता, उसे बुलाने के लिये वह बीच की ऊँगली से सर खुजलाने लगता था। इनके अतिरिक्त खोजे और जनखे भी होते थे। उनकी आजीविका भी वही हाँती थी।

पुरुषों की भाँति स्त्रियाँ भी स्त्रियों के साथ संसर्ग किया करती थीं।

इसका प्रचार कुमारी कन्या, विधवा और वारवनिताओं में सीमित था। हजरत मूसा ने लेभिडिकस्^१ में इस दुर्नीति का उल्लेख नहीं किया है। इस लिये अटकल लगायी जाती है कि यहूदियों के समाज में इसकी चाल नहीं थी। किन्तु लूकियान नाम के एक लेखक ने अपने “डायालोगस् अम कोर्टिज़नस्” नाम की पुस्तक में लिखा है कि प्राचीन यूनानी समाज में इस का प्रचलन था।

इनके अतिरिक्त कुछ लोग ऐसे भी पतित थे जो कुत्ती, बंदरी, बकरी, राजहंसी प्रमुख पशुओं का उपयोग करते थे।

कहने का आशय यह है कि उन दिनों साम्राज्य की रग रग में भ्रष्टाचार प्रविष्ट था और नैतिकता का बाजार बड़ा मंदा था। सभी श्रेणी और वर्ग पर इसका प्रभाव पड़ा और शासक-लोग इससे बरी नहीं थे। धन की अधिकता और अधिकार की प्रचुरता होने के कारण वे अपनी इच्छाओं को तत्काल कार्यान्वित कर सकते थे। प्रत्युत सुयोग-सुविधाओं के न होने के कारण इस प्रकार के मनोविनोद की बहुत सी परिपाटी जनता की पहुँच के बाहर थी। तथापि वह अपने दंग से दुर्नीति के कीच में लोटपोट करती ही थी।

बाहरी दुनियाँ में चित्ताकर्षक इतने साधनों के होने के कारण क्रमशः रोम की युवक-युवतियाँ विवाह करने से मुँह मोड़ने लगीं। आगस्टस ने इस प्रवृत्ति को रोकने की बहुत चेष्टा की, फिर भी वह बहुत सफल न हुआ। साम्राज्य के संघटन के बाद प्राचीन रोमन समाज में विवाह की रीति-नीति में बहुत उलट फेर हो गया। रोम वालों के आदिम समाज में विवाह का आदर्श बहुत ऊँचा था। विवाह के बाद दोनों जीवन शुल-मिल कर एक बन जाते, दोनों की पैत्रिक संपत्ति का विलयन होकर सामान्य बन जाता तथा दोनों का इहलौकिक और पारलौकिक ध्येय का भी एकीकरण हो जाता। ईसा पूर्व ३५० तक रोम वालों का यह आदर्श बना रहा।

ईसाई मत ने रोम वालों से विवाह-बंधन का स्थायित्व और एक-पत्नी व्रत अपनाया। किन्तु इन दिनों यह आदर्श दृष्टि से ओझल हो गया। अब पहले जैसा स्त्री जाति को आमरण पिता, पति अथवा पुत्रों की देख-रेख में नहीं रहना पड़ता था। इन दिनों पारस्परिक राजांमंदी का नाम विवाह था। ऐसे विवाहों के अवसर पर धार्मिक किंवा लौकिक अनुष्ठानादि भी नहीं होता था। विवाहिता नारी पति की अधीन नहीं बन जाती थी। वह अपने बाप के घर रहती तथा निजी संपत्ति भी रख सकती थी। कभी-कभी संपन्न स्त्रियाँ दरिद्र पतियों पर अत्याचार भी करतीं तथा पति-देवता को अधिक सूद पर रुपया उधार देती थीं। इस प्रथा का परिणाम यह हुआ कि रोमन जाति की अधिकतर धन-संपत्ति क्रमशः स्त्रियों के हाथ चली गयी। पुरुष और स्त्री में बिगाड़ होने पर विवाह-बंधन टूट जाता और दोनों फिर से तथाकथित व्याह-शादी कर सकते थे। मार्शल ने एक रमणी का उल्लेख किया है, जिसने दस बार पति-परिवर्तन किया था। जुवेनल का कहना है कि एक नारी ने पाँच साल में आठ पति किये इत्यादि। इस प्रकार विवाह-बंधन में स्थायित्व के न होने से सामाजिक रीति-रस्म में भी भ्रष्टाचार समाया।

ऐसी गड़बड़ी के दिनों, इस प्रकार के गाढ़े अंधकार में जब हम बिजली की झलक जैसी क्वचित् साध्वी और पतिव्रता महिलाओं की विद्यमानता का विवरण पढ़ते हैं, तब हम मुग्ध हो जाते हैं। पाप्मे की धर्म-पत्नी कर्नेलिया, सेनेका की माता हेल्विया प्रभृति इसी प्रकार की महिलाएँ थीं। ऐसे समय, जब प्राचीन रोम में व्यभिचार की बाढ़-सी आयी हुई थी, जब इन्द्रियों की परितुष्टि ही परमार्थ माना जाता था, तब सम्राट् टाइबेरियस के व्याकुल आवेदन-निवेदन को ठुकरा कर आत्मघात द्वारा, मेलोनिया ने अपने पतिव्रत धर्म की रक्षा की थी। पतिव्रता पोरशिया ने ब्रूटस् पर आने वाली विपत्तियों की साफ़ेदार बनने का दावा किया था। सेनेका की साध्वी पत्नी अपने पति के स्वर्गवासी हो जाने पर अपनी नसें काट कर सती हो गयी। उसी प्रकार पीटस् को जब आत्मघात करके मरने का दंड सुनाया गया, तब उसकी धर्म-पत्नी आरिया ने उसके पहले ही इस संसार से कूच

करने का निश्चय किया। अतः प्रेममय मित्रों की आँखों की आड़ में जाकर उसने पत्थर की बनी हुई भीत पर खोपड़ा पटक-पटक कर आत्मघात करने का प्रयास किया। क्रमशः वह अचेत होकर फर्श पर गिर पड़ी। होश होने पर वह बोली—“मैंने कहा न था ! यदि तुम मुझे अनायास मृत्यु का वरण करने से रोकोगे तो मैं आयासपूर्ण उपाय अपनाऊँगी ?” निदान जब उसने पति को अन्तिम चोट जमाने से हिला-हवाला करते पाया, तब उसने उसके काँपते हुए हाथों से छुरा छीन लिया। फिर अपनी छाती में उसे भोंक कर उसे निकालते हुए उसने कहा था—“प्यारे पीटस्, मुझे कोई भी कष्ट नहीं !”

उपर्युक्त प्रकार के सतीत्व के दृष्टान्त भी दुर्लभ नहीं, परन्तु बीच-बीच में इन प्रकाश-स्तंभों के होने से उन दिनों यूरोप के नैतिक जगत् का अंधकार कितना गाढ़ा था, उसकी थोड़ी बहुत झलक मिलती है। ईसाई संवत् के प्रचलित होने के बिलकुल पूर्व एवं पर रोम साम्राज्य में भ्रष्टाचार की जो बाढ़ आयी थी, उसने समग्र इटली के निवासियों के जातीय चरित्र को चिरकाल के लिये कलुषित कर छोड़ा। यह छाप ऐसी टिकाऊ थी, कि स्टोइक मत के प्रचार, एन्टोनिनस् प्रमुख शासकों का शासन और ईसाई मत का प्रसार तक उसे मिटा नहीं पाया।

ईसाई मत के प्रचार की प्रारम्भिक शक्तियों में व्यभिचार और दुर्नीति की लहर ने उक्त मत की आधार्मिक पवित्रता पर भी कलंक का टीका लगा दिया। प्रति वर्ष ईसाई मत के अनुयायी एकत्र हो “एगपी” नाम के प्रीति-भोज में भाग लेते थे। शुरु-शुरु में नवीन मत के मानने वालों का यह पवित्र मिलनोत्सव माना जाता था। परन्तु स्वल्पकाल में ये मसीहियों की उद्दंडता और मस्ती प्रकट करने के जमावड़े बन गये। सातवीं शती में इस उत्सव मनाने की प्रथा दबा दी गयी। प्रति वर्ष शहीदों की स्मृति में वर्ष-गाँठ समारोह के साथ मनाने की रीति चल निकली। इस प्रसंग में मेले भी लगते थे। इन मेलों में व्यभिचार का वार पार नहीं रहने पाता था। निदान वे बन्द कर दिये गये। ईसाई पुरोहित लोग दिखौए रूप

से तो ब्रह्मचर्य का पालन करते थे, किन्तु नाना प्रकार के पाखंडों से अपने यहाँ रखनी रख लेते ही थे। वयस्का कुमारियाँ और मुनि-वैरागी एक ही कमरे में रह कर व्रत का पालन करते हुए एक ही पलंग पर लेटते थे। स्वार्थी पादरी लोग हाथ धो कर संपन्न विधवाओं के पीछे पड़ जाते थे तथा छल-कपट कर उनसे रुपये-पैसे भँसने के तार में रहा करते थे। नागरिकों के कर्त्तव्य से मुक्त होने के अभिप्राय से बहुत से लोग पुरोहित बन जाते थे। अनेक काम-चोर मरुभूमि में अलस जीवन व्यतीत करने के लिये मुनि बन जाते थे। सिपाही मठों में जा छिपते थे। आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने का ढोंग रच कर उच्च कुल की महिलाएँ पति को तलाक देकर नीच कुल के प्रेमिकों का संसर्ग करती थीं। तीर्थ स्थानों की और भी दुर्गति हुई। ईसाई मत के प्रचार के साथ-साथ इस्रायेल, रोम जैसे स्थान तीर्थ क्षेत्र बन गये। बहुत दिनों तक वे व्यभिचार के केन्द्र बने रहे तथा मार्ग-स्थित नगरों में तीर्थ यात्रा करने के प्रसंग में निकली हुई स्त्रियाँ खुल्लमखुल्ला वेश्या-वृत्ति करती थीं। उच्च पदस्थ पादरी लोग षडयंत्र रच कर उच्चतर पद प्राप्त करने की फिक्क में रहते थे तथा निम्न कोटि के पुरोहित आमोद प्रमोद करने में समय व्यतीत करते थे।

उत्सव और मेले—

स्वभाव के रोम वाले बड़े सरल विश्वासी थे। उनमें कुसंस्कार कूट-कूट भरा था। जीवन काल की प्रत्येक घटना तथा अतीव साधारण व्यापार का भी अलग-अलग अधिष्ठाता देवता होता था। कहा जाता है कि रोम की कुल आबादी से कहीं अधिक देव-देवियों की संख्या थी। प्रत्येक देवता के सम्मान में कभी-कभी उत्सवादि मनाने की रीति थी। कुछ उत्सव सम्राट के आदेश से मनाये जाते थे। शासक को रिक्ताने के लिये जनता उन्हें मनाती थी। कुछ उत्सव जातीय थे। इन्हें सभी कोई मनाते थे। इस प्रकार प्राचीन रोम में प्रायः प्रति दिन कोई न कोई उत्सव समारोह के साथ मनाया जाता था। अंतिम दिनों में रोम के उत्सव और मेलों में पवित्रता तथा भाव-शुद्धि की नाम-गंध तक न रहने पायी और वे ओछी प्रवृत्तियों को

चरितार्थ करने के साधन बन गये । नीचे नमूने के तौर पर कुछ उत्सवों का विवरण दिया जा रहा है :—

फौनालिया—प्रति वर्ष देहाती क्षेत्रों में पेड़-पौधों के अधिष्ठाता देवता फॉनस् और उसकी पत्नी फौना के सम्मान में मनाया जाता था । कालान्तर में आदि-देव प्रियापस् भी इसमें घसीटे गये । धार्मिक कृत्य मान कर देहाती जनता इस अवसर पर प्रकाश्य रूप से व्यभिचार में लोट-पोट करती थी ।

फ्लोरालिया—किसी समय रोम में फ्लोरा नाम की एक गणिका हो गयी । उसने बहुत धन कमाया । आगे अपना नाम स्मरणीय बनाने के अभिप्राय से उसने इस मेले का संघटन किया था । कहा जाता है कि यह उत्सव मनाते समय रोम के नागरिक शिष्टता, शालीनता तथा लज्जा-संकोच ताक पर रख देते थे । सुनने में आता है कि “ज्येष्ठ” केटो एक बार इसी दिन रोम के चौक (फोरम्) में बैठ कर बयार ले रहे थे । ऐसे समय उत्सव मनाने के लिये अध-नंगी मूर्तियाँ चारों ओर से वहाँ टूट पड़ीं । किन्तु केटो को वहाँ देखते ही वे कुछ सहमा गयीं । इस पर एक जवान-दराज़ व्यक्ति चुपके से उनके पास जाकर मामला समझा दिया । सुनते ही चोगा संभालते हुए केटो वहाँ से तुरत चल दिये । तब बीच बाजार में व्यभिचार का नंगा नाच आरंभ हुआ ।

लिवेरालिया—वाक्चस का नाम रोम में ‘पातर लाइवर’ और उसकी शक्ति बीनस् का नाम एरियाड्ने वा लिवेरा पड़ा । उनके सम्मान प्रति-वर्ष मार्च १७ को समारोह के साथ उत्सव मनाया जाता था । यह रोम वालों का बसंतोत्सव था । प्रारंभ में लाइवर वृक्ष-रोपन और फल-फुलों के लगने के अधिष्ठाता देवता थे । आगे वह वाक्चस का रूपान्तर माना गया । उपज बढ़ाने के लिए खेतों और रोम के गली-कूचों में से विशाल जनता उस दिन महाकाय लिग और योनि की मूर्तियाँ रथ पर पधरा कर हो-हल्ला करती हुई चलती थी । पुरुष वाक्चाण्ट कहलाते थे और स्त्रियाँ वाक्चान्टि; मृग-छौने बन कर नंग-धड़ंग स्त्री-पुरुष बीच बाजार में दौड़-धूप

और कूद-फाँद करते । कुछ बाजे-गाजे के साथ खच्चर और गधों पर सवार होकर चलते थे । रुक-रुक कर वे लिंगाकार पान-पात्र से सुरा पीते थे । स्त्रियाँ गंदे गीत गाते हुए रथ को घेरे रहती थीं । बाद ये मूर्तियाँ लेमीनियुम में लाकर पधरायी जाती थीं । रोमन महिलाएँ फूल-माला चढ़ाती और लोबान जलाती थीं । नगरों में जो किशोर बालिग बन जाते थे वे पुरुषो-चित वस्त्रादि पहनते; और मंदिरों में लिंग और योनि के आकार की रोटी, मधु और तेल चढ़ाया जाता था । देहाती क्षेत्रों में वाक्चस के साथ एरियाडने के विवाह की स्मृति में लोग खुल्लमखुल्ला व्यभिचार करते थे । इस दिन काम-धंधा सब बंद रहता और सुरा का समायोग मन चाहा होता था । अंततः ईसा पूर्व १८६ में सेनेट के आदेश से इस उत्सव पर प्रतिबंध लगा दिया गया ।

अक्टूबर के अंतिम दिनों में वाक्चनेलियन उत्सव मनाया जाता था । यह बहुधा यूनान के डायोनीशस् उत्सव से मिलता-जुलता था । टाइवर नदी के तट पर सिमिलिया जंगल में चक्र की बैठक होती थी । शुरू-शुरू में केवल स्त्रियाँ बैठक में भाग लेती थीं । अच्छे घराने की महिलाएँ बारी-बारी से पुरोहितानी बन कर पूजा-पाठ करती थीं । आगे २० वर्ष से कम आयु वाले नवयुवक भी चक्र की कार्यवाही में सक्रिय भाग लेने लगे । ऐसी बैठकों में व्यभिचार का वार-पार नहीं रहने पाता । निदान सेनेट ने ईसा पूर्व ६१ में इन चक्रों पर प्रतिबंध लगा दिया ।

ग्लेडियेटरों का नकली युद्ध

ऊपर कहा जा चुका है कि प्राचीन रोम में राष्ट्र की ओर से दरिद्र परन्तु स्वतन्त्र नागरिकों के लिये भोजन का प्रबन्ध किये जाने के अतिरिक्त जनता के सभी वर्गों का मन बहलाने के लिये आमोद-प्रमोद का आयोजन करने की भी रीति थी । नाटक, मूक अभिनय, नृत्य-गीत, डोरी पर का नाच, रथों की दौड़, दौड़ की प्रतियोगिता, सरकस प्रभृति प्राचीन रोम के मनोविनोद के मुख्य साधन थे । वियोगान्त नाटक इसलिए लोकप्रिय नहीं थे यतः रोमन लोग अखाड़ों में प्रायः ग्लेडियेटरों के नकली युद्ध के प्रसंग में

हारे हुए योद्धा अथवा पशु प्रभृति को मृत्यु-यंत्रणा भोगते आँखों देखते थे । इसलिए बनावटी शोक-ताप या कल्पित मृत्यु उनके हृदय को छूने नहीं पाती थी । प्रत्युत विकृत रुचि की सामग्री प्रस्तुत कर, वारनारी, कुटने प्रभृति को रंगमञ्च पर खड़ाकर और नशाखोरी के दृश्य दिखाकर स्वल्प काल के लिये मिलनात्मक नाटकों का विकास हुआ था । यौन-स्पृहा को बढ़ावा देने के लिये नृत्य-गीत, मूक अभिनय इत्यादि लोक प्रिय थे । परन्तु रोमन लोग जितनी अनुरक्ति ग्लेडियेटरों के नकली युद्ध के प्रति दिखाते थे, वैसी दिल-चस्पी वे और किसी प्रकार के आमोद-प्रमोद में नहीं प्रदर्शित करते थे । वस्तुतः वह उनके मनोरञ्जन का जातीय साधन माना जाता था ।

बड़े प्राचीन काल में रोम के किसी प्रमुख व्यक्ति के मरने पर उसके प्रेत को तृप्त करने के लिये उसकी समाधि पर नर-बलि चढ़ाने की प्रथा थी । परन्तु ईसा पूर्व पहली शती के प्रारम्भ में यह प्रथा बन्द कर दी गयी । क्रमशः ऐसे श्रवसों पर नर-बलि के स्थान में खेल-कूद होने लगे । मारकस् औरै-लियस् के शासन काल में ये खेल-कूद विशुद्ध लौकिक हो गये तथा इनका राष्ट्रीयकरण भी हुआ । इसके अनन्तर व्यक्तिगत रूप से कोई भी नागरिक ऐसे खेल-तमाशे का आयोजन नहीं करता था । लौकिक होने पर भी नाम के लिये ये तमाशे मार्स (युद्ध देवता) और डायना (उपज की देवी) के सम्मान में दिखाये जाते थे । अखाड़े के बीच जुपिटर की सेवा में एक वेदी भी होती थी । कालांतर में ग्लेडियेटरों के समर्थन में युक्ति प्रस्तुत की गयी कि अपनी आँखों से वीरगति का दृश्य देखने से दर्शकों के हृदय में वीर रस का संचार होता है । इस प्रकार वे यौद्धिक प्रवृत्ति को बढ़ावा देने के साधन माने गये । क्रमशः युद्ध-विग्रह के प्रसंग में विदेश जाने वाले सैनिकों को यात्रा करने के पहले ये तमाशे दिखाये जाने लगे ।

कहा जाता है कि ग्लेडियेटरों के नकली युद्ध के प्रदर्शन की प्रथा इट्रस्कन् समुदाय में पहले पहल प्रचलित थी । ईसा पूर्व २६४ में सर्व प्रथम रोम में यह खेल दिखाया गया था । ब्रुटस् नाम के एक व्यक्ति की मृत्यु होने पर उसके पुत्रों ने पिता के समाधि-स्थल पर ग्लेडियेटरों के तीन जोड़ों को

लड़ने के लिये विवश किया था। प्रजातंत्र का अंत होते होते इस तमाशे का प्रसार बहुत व्यापक हो गया था। बड़े बड़े राष्ट्रीय समारोह तथा अमीरों के यहाँ दी हुई दावतों के अवसरों पर सामान्यतः ये खेल दिखाये जाने लगे। सीज़र और पाप्पे की तनातनी के युग में यह खेल प्रायः दिखाये जाने लगे। इस उपाय के द्वारा दोनों ने लोकप्रिय बनने के प्रयास किये। खेल में विचित्रता लाने के लिये पाप्पे ने पहले पहल पशुओं के साथ मनुष्यों के लड़ने की प्रथा प्रचलित की। उसकी होड़ में सीज़र ने अपनी पुत्री के दिवंगत होने के बाद समाधिस्थल पर यह तमाशा दिखाया। इसके पहले स्त्रियों के मरने पर यह खेल दिखाने की प्रथा नहीं थी। इसके अतिरिक्त उसने एक स्थायी रंग-स्थल का निर्माण किया, धूप रोकने के लिये ऊपर से रेशमी चँदवा टाँग दिया तथा योद्धाओं को लड़ने के लिये चाँदी के बने हुए भाले दिये थे। साम्राज्य के संघटन के बाद पत्थर की बनी हुई विशाल नाट्यशाला का निर्माण किया गया। फिर आगे चलकर कलेशियम की रचना हुई, जहाँ ८० हजार दर्शक एक साथ बैठ सकते थे ! उसका भग्न-वशेष देख कर अभी तक लोग दाँतों तले उँगली दबाते हैं।

क्रमशः ग्लेडियेटरो का प्रदर्शन बड़ा लोक-प्रिय हो गया। बड़े लोगों की अंत्येष्टि क्रिया तथा सेनापतियों की विजय-यात्रा के अवसरों पर, पद संभालने के उपरान्त राजकर्मचारियों के द्वारा और अपनी सामाजिक स्थिति बनाने के अभिप्राय से नीच कुल में उत्पन्न धनी व्यापारियों के द्वारा प्रायः ये खेल दिखाये जाने लगे। यहाँ तक कि खानागारों में भी ये तमाशे दिखाये जाते थे। ग्लेडियेटरो के दाँव-पेंच सिखाने के लिए प्रत्येक नगर में शिस्त्रालय खोले गये। दास, अपराधी और स्वतंत्र व्यक्ति सभी वर्ग के लोग ग्लेडियेटर बनने लगे। इनाम-बखशीस सम्राट प्रमुख लोगों की पृष्ठपोषकता और सर्वोपरि लोक-प्रिय बनने की आशा से सभी ग्लेडियेटर बनने के लिए उत्सुक रहा करते थे। दल-बद्ध हो कर वे इटली का सारा भू-भाग रौंदते फिरते थे। प्रायः उनको किसी न किसी देहाती रंगभूमि में कला-कौशल प्रदर्शित करने का सुयोग मिल ही जाता था। कालान्तर में इन तमाशों ने रोम के सामा-

जिक जीवन की रग रग को प्रभावित किया। दो-चार मनुष्यों के एकत्र होते ही वार्त्तालाप का विषय वही खेल-तमाशा बनने लगा; बच्चे अपने ढङ्ग से उसी का अनुकरण करने लगे; दार्शनिक और तत्वज्ञानी अपने सिद्धान्तों को स्पष्ट करने के लिए उसी का दृष्टांत देने लगे, कवि उसी का विशद वर्णन करने लगा, कलाकार उसी के दृश्य चित्रों के रूप में भी तो पर खींचने लगे और स्वयं सम्राज्ञी तक ऐसे विजयी वीरों के चरणों में आत्म-निवेदन करने के लिए लालायित रहती थीं। रोम के शरण्य, वरेण्य सभी ऐसे प्रदर्शनों में उपस्थित रहते थे। यहाँ तक कि चिरकुमारी व्रत धारिणी अग्नि-परिचारिकाएँ भी तमाशबीनी करने में हिचकती नहीं थीं। फलतः स्वल्प काल में दर्शक तथा योद्धा-दोनों के हृदय से मानव जीवन की पवित्रता और उसकी दुर्लभता का बोध जाता रहा। रोम के नागरिकों के हृदय से दया, समवेदना, पर-दुःख-कातरता जैसी सद्वृत्तियाँ गुम हो गयीं और वे प्रकृति पके शु जैसे रक्त-लोलुप और हिंसा लुबन गये। सम्राट क्लाडियस के बारे में कहा जाता है कि वह कलाकार के दृष्टिकोण से मरणासन्न योद्धाओं की मृत्यु-यंत्रणा का गम्भीर अध्ययन करने का आदी था। योद्धा भी अपने जीवन के बारे में झिलकुल लापरवाह बनना ही वीरता की पराकाष्ठा मानने लगे। वे अन्तःस्तल से चाहते थे कि ऐसे प्रदर्शन निरंतर होते रहें। अखाड़े में यदि प्रविष्ट न होने दिया जाता तो वे मन ही मन कुढ़ते थे और जोड़ यदि बराबर का नहीं होता तो कुड़बुड़ाने लगते थे। घाव पर मरहम पट्टी करते समय वे खिलखिला कर हँसते रहते थे और हार होने पर अंतिम घात का स्वागत करते हुए गरदन सीधी कर देते थे। उधर शान्त वीर रस का जीता जागता दृष्टांत आँखों देख कर दार्शनिक मोहित हो जाते थे। दर्शकों की अनुरिक्त बनाये रखने के अभिप्राय से उन्हें भी प्रदर्शन की कार्यवाही में सक्रिय भाग लेने के लिये प्रोत्साहित करने की प्रथा थी। हारे हुए योद्धा को जीवित छोड़ दिया, जाय अथवा उसका प्राण-वध किया जाय इसका निर्देश बहुधा दर्शक क्रम से अंगूठा ऊँचा कर अथवा उसे नवा कर देते थे।

क्रमशः दर्शकों की अनुरक्ति बढ़ाने और उनकी उत्सुकता को उत्तेजित करने के लिए नाना प्रकार की नवीनता और विचित्रता का समावेश किया जाने लगा। जब देखा गया कि विशुद्ध द्रंद-युद्ध से लोगों की रुचि घटती जा रही है, तब उनकी मुरझाती हुई अनुरक्ति को सशक्त बनाने के अभिप्राय से तरह तरह की निर्दयता के नूतन नूतन निदर्शन प्रस्तुत किये गए। एक बार एक रीछ और एक बैल को जंजीर से बाँध कर अखाड़े में छोड़ दिया गया। आमरण वे लड़ते रहे। जानवरों की खाल पहना कर दंडित अपराधियों को उत्तेजित सांडों के साथ लड़ने के लिए अखाड़े में भेज दिया जाता था। कालिगुला के शासन काल में एक ही दिन में ४०० रीछ मारे गये थे, क्लॉडियस् के राज्य काल में उसी प्रकार एक ही दिन में ३०० रीछ मारे गये थे। नीरो के शासन काल में एक दिन ४०० शेरों की सांड और हाथियों से भयंकर लड़ाई हुई थी। टिटस् ने क्लोशियम की शानदार इमारत रोम की जनता के नाम उत्सर्जित की, उस दिन ५ हजार पशुओं का बध हुआ था। द्राजन के राज्यकाल में अनवरत १२३ दिन तक तमाशा चला रहा। प्रदर्शन को रोचक बनाने के लिए सिंह, बाघ, शेर, हाथी, ऊँट, गैंडे जल-धोड़े, जिराफ, सांड, हिरने, घड़ियाल, सांप प्रभृति सभी प्रकार के जानवरों का उपयोग किया जाता था।

ऐसा नहीं समझना चाहिये कि प्राचीन रोम में केवल गूंगे पशुओं के प्रति निर्दयता दिखाने की रीति थी। समधर्मी, अभागे मानवों को भी नाना प्रकार की यंत्रणा देकर तमाशे को रोचक बनाने की भरपूर कोशिश की जाती थी। उच्च पदस्थ राज कर्मचारी की हैसियत में गोर्डियन ने १२ प्रदर्शनों के आयोजन किये थे। इनमें ग्लेडियेटरों के १५० से ५०० जोड़े तक एक साथ लड़े थे। औरेलियन के विजय-समारोह के उपलक्ष्य में ८०० जोड़ों की लड़ाई हुई थी। द्राजन के राज्य-काल में जितने प्रदर्शन हुए थे, उनमें १० हजार मनुष्य लड़े थे। डोमीटियन के शासन काल में बौनों के मूँड की लड़ाई का आयोजन किया गया था। कभी-कभी स्त्री-जाति के ग्लेडियेटरों का भी युद्ध कराया जाता था। नीरो और डोमीटियन इस प्रकार

के युद्ध की तमाशबीनी करने में बढ़ा रस लेते थे। जुवेनल का कथन है कि रोमन महिलाएँ सोत्साह ग्लेडियेटरों के उपयोगी शस्त्रास्त्र लेकर लड़ने का अभ्यास करती थीं। मार्टियेल का कहना है कि स्त्रियाँ हिंस जन्तुओं से भी लड़ती थीं तथा एक वीरांगना एक शेरबबर से लड़ी थी। सेवेरस् के शासन काल में स्त्री-जाति के ग्लेडियेटरों के प्रदर्शन के सिलसिले में कुछ फसाद हो गया था। तभी से यह प्रथा बन्द करवा दी गयी।

राजधानी की देखा-देखी दूर-दूर के प्रान्तों में भी ग्लेडियेटरों के खेल-तमाशे का चसका चल पड़ा और गॉल (फ्रान्स) से लेकर स्याम तक जहाँ जहाँ रोम का दौर दौरा स्थापित हो गया था, वहीं विशाल नाट्य-शालाएँ बनायी गयीं और रक्त से रंगीन इन दृश्यों का निर्बाध अभिनय चलता रहा। टाईबेरियस् के शासन काल में उप-नगर में स्थित एक रंग-महल के धँस जाने से २० हजार से अधिक व्यक्ति हताहत हुए थे। नीरो के राज्यकाल में सायरक्युज़ के निवासियों को रियायत मिली कि वे अखाड़े में मन-चाहे ग्लेडियेटर प्रस्तुत कर सकते हैं। प्रान्तीय नाट्यशालाओं पर संख्या के बारे में कुछ प्रतिबन्ध लगे हुए थे। स्याम में यह प्रदर्शन चालू करने का श्रेय एन्टिओकस् एपिकेनीज़ को है। शीघ्र ही ये तमाशे वहाँ लोकप्रिय बन गये तथा बैरुट की रंगभूमि में एग्रिपा के राज्यकाल में चौदह सौ ग्लेडियेटर एक साथ लड़े थे। परन्तु प्रारंभिक दशा में यूनान में ये तमाशे लोकप्रिय नहीं हो पाये। पहले पहल एथेन्स में जब यह प्रदर्शन चालू करने की चेष्टा की गयी तब दार्शनिक डेमोनाक्स ने यह कह कर इसका विरोध किया था कि 'ऐसी दशा में दया की वेदी ढहा दी जाय' ! जनता ने उसका समर्थन किया। कारिन्थ में बहुत से विदेशी रहा करते थे। इसलिये वहाँ ये प्रदर्शन लोकप्रिय थे। कालान्तर में एथेन्स में भी ये प्रदर्शन चालू हो गये। निदान टायना के एपोलोनीयस् ने इस प्रथा की इति-श्री कर दी।

इस प्रकार नैतिक दृष्टि से विजय का मद रोमन जाति को बिल्कुल ले बीता। स्त्री-पुरुष का पवित्र संपर्क दूषित हो गया; स्वामाविक तथा

अस्वाभाविक उपायों के द्वारा ओछी प्रवृत्तियों को चरितार्थ करना ही वे जीवन का चरम लक्ष्य मानने लगे। परिश्रम करने से वे मुंह मोड़ने लगे; परलोक की चिन्ता रहने नहीं पायी। सर्वोपरि जीव-दया अथवा करुणा की भावना उनके हृदय से बिलकुल मर-मिट गयी। मानव और पशु में अंतर इतना ही है कि मानव विवेक बुद्धि से काम लेता है, प्रवृत्ति का दास बनने से अस्वीकार करता है और अपने हृदय में सुप्त सद्गुणों को विकसित करने में तत्पर रहता है। इसके विपरीत पशु अपनी सहज बुद्धि से बहुधा काम लेते हैं। सोच विचार कर काम नहीं करते और न संयम ही का अभ्यास करते हैं। ऐसी दशा में मानव यदि स्वीय विवेक बुद्धि से काम न लेकर अपनी ओछी प्रवृत्तियों के वश में हो जाय, तो वह मानव होते हुए भी विवेक बुद्धिहीन पशु के समान है।

ऐसे तो पाश्चात्य संसार को रोम की देन अनमोल थी। उसने विधान शास्त्र की रचना कर देश-विदेश के लोगों को शान्त-शिष्ट बनाया, अपनी दिग्विजयों के द्वारा दूर-दूर के देशों के निवासियों के हृदय में मानव जाति की एकता की भावना जागरित की, धर्म के विषय में उसने साहष्ण्यता से काम लिया और उच्च कोटि का साहित्य रचकर उसने रियाये के मन को समृद्ध बनाया। यदि उसमें अंध विश्वास और कुसंस्कार की कमी होती, तो आधुनिक समाज पर स्यात् उसका प्रभाव अमिट होता।

थोड़े में प्राचीन रोमन जाति के अधःपतन का मुख्य कारण आलस्य कहा जा सकता है। जब तक रोम में प्रजातंत्र शासन चालू था, तब तक रोमन जाति में कार्य-कुशलता, तत्परता, नीति प्रमुख सभी सद्गुण विद्यमान थे। परन्तु विजय के मद ने उनकी नसें ढीली कर दीं। वे लड़ने-भिड़ने और खेती-बारी के काम औरों पर लाद कर स्वयं मनोरंजन के साधनों का दुरुपयोग करने लगे। आश्चर्य नहीं कि उनका बनाया हुआ साम्राज्य बर्बरों के निरंतर आक्रमणों के आगे ताश के महल की तरह थोड़े ही दिनों में मिट्टी में मिल गया।

मंतव्य

प्राचीन पृथ्वी की तथाकथित सुसभ्य जातियों ने जिस रीति से अवकाश के समय का दुरुपयोग करके अपनी जाति के सर्वनाश का रास्ता साफ किया था, उसका दिग्दर्शन कराया जा चुका, जिससे हमारी नव-पीढ़ी की युवक-युवतियाँ उसके भयंकर परिणाम को हृदयंगम कर कुछ शिक्षा प्राप्त करें। इतिहास का व्यावहारिक मूल्य यही है। जिस भूल का जो विषमय फल होता है, उसको हमारे सम्मुख रखते हुए वह हमें वैसी गलतियाँ करने से रोकता है।

अब यदि उपर्युक्त दुर्नीतियों का विश्लेषण किया जाय तो वे दो भागों में विभक्त की जा सकती हैं—

(१) सरासर बे-परदे की दुर्नीति जो प्राचीन यूनान और रोम में फैली हुई थी;

और (२) धर्म के नाम पर या उसकी आड़ में बदचलनी जो बेबीलोनिया, फिनीशिया, मिस्र आदि देशों में फैली हुई थी।

पहले के पन्ने में निन्दा करने के सिवा कोई युक्ति नहीं प्रस्तुत की जा सकती है। परन्तु दूसरी श्रेणी की दुर्नीति के बारे में दो-शब्द कहना स्यात् अप्रासङ्गिक न होगा। हमें भूलना नहीं चाहिए कि उन-उन जातियों के द्वारा लिखे हुए ब्यौरे कम मिलते हैं। इसलिये उनकी रीति-नीति के बारे में हमें जो कुछ भी जानकारी प्राप्त है वह अधिकतर यूनानी और रोम के लेखकों के विवरण पर आश्रित है। खास यूनान और रोम की नैतिक दशा उन दिनों बहुत गिरी हुई थी। अतः जैसे नीला चशमा पहनने वालों की दृष्टि को सभी कुछ नीला देख पड़ता है, उसी प्रकार उन्होंने परदेसियों की रीति-रिवाज का वर्णन करते समय नमक-मिर्च का उपयोग संभवतः अधिक किया होगा। हिरोडोटस् के बारे में कहा गया है कि मिस्र में रहते समय उसकी दीक्षा प्रभृति हुई थी, किन्तु उसे अंतरंग मण्डल का सदस्य नहीं बनाया गया था। अतिरंजन के दोष से दूषित होने पर भी यह बात विवादा-

स्पष्ट नहीं है कि ऐतिहासिक काल में उपर्युक्त देशों में धर्म के नाम पर व्यभिचार होता था- जिसका परिणाम सदैव शोचनीय होता है ।

परन्तु जब हम लिंग-पूजन के आधार्मिक आदर्श वा ध्येय पर विचार करते हैं, तब वह सम्पूर्ण स्वाभाविक ज्ञेयता है । अतएव इसके सिद्धांत को सनातन धर्म तथा बौद्ध, तांत्रिक और वैष्णव मतों के अतिरिक्त ईसाई मत जैसे अपेक्षाकृत आधुनिक धर्मों ने भी अपने-अपने ढंग से मान्यता दी है । अतः लिंग जो दिव्य ज्योति का मूर्त प्रतीक माना जाता है, उसके पूजन में कोई बुराई नहीं है । इसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है । अब रह गया आनुपांगक अनुष्ठानादि । थोड़े में इस रीति के पक्ष में यही कहा जा सकता है कि वह सृष्टि-रहस्य के साकार प्रतीक की पूजन-पद्धति का प्रयोगात्मक अनुष्ठान या बाहिरंग थी । कालान्तर में बहिरंग ने अंतरंग का गला बिलकुल धोष्ट दिया : अबर बेल मूल वृत्त को ले बीती । ऐसी दशा में उसकी निंदा करने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं । विदेशियों को प्राथमिकता देने का कारण यह प्रतीत होता है कि संभवतः प्राचीनों की धारणा था कि देवता परदेसी का भेष बनाकर सदैव मानव समाज में रमते फिरते हैं । अस्तु ।

प्राचीनों की रीति-नीति का समालोचना करते समय सामान्यतः हम लोग आधुनिक काल के दृष्टिकोण को अपनाते हैं । हम लोग युक्तिवाद, हेतुवाद, वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रभृति की ढोंग हाँकते हुए युक्ति और तर्क को कसौटी पर रगड़ कर प्राचीनों की रीति-रिवाजों को परखते हैं । किन्तु ऐसा करते समय हम भूल जाते हैं कि हमारी श्रद्धा, भक्ति, धार्मिकता प्रभृति प्राचीनों की भाँति गहन नहीं रह गयी । उधर श्रद्धा-भक्ति सामान्यतः अंधी होती है । वहाँ युक्ति-तर्क का अवकाश कम है । ईसाई मत के प्रारम्भिक इतिहास से इस प्रकार के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं ।

ईसाई मत का प्रचार रोकने के लिये रोम साम्राज्य में राष्ट्र की ओर से रुक-रुक कर मसीहियों पर धार्मिक अत्याचार किया जाता था । इसका उल्लेख ऊपर हो चुका है । इस प्रसंग में ईसाई मत की अनुयायिनी कुमारियों का धर्म नाश करने के लिये उन्हें या तो लुपनारों में भेज दिया जाता,

अथवा लंपटों के हाथ सौंपा जाता था। इतिहास कहता है कि दैवी कृपा से बहुत सी कुमारियाँ इस भीषण अग्नि-परीक्षा में उत्तीर्ण हो गयीं। बहुतों पर बलात्कार भी किया गया।

सबसे रोचक कहानी मिस्र की नामी रूपाजीवी मेरी को है। वह क्लॉडियस् के शासन-काल में हो गयी। निरन्तर १७ वर्ष तक अलेक्ज़ांड्रिया में वेश्यावृत्ति करने के बाद जब उसकी वयस ३० वर्ष थी, तब अचानक उसने वैराग्य ले लिया। राजसी तड़क-भड़क, रहन-सहन और रंग-रली की ओर उसने एक बार आँख उठा कर ताका तक नहीं और खाली हाथ वह एक दल यात्रियों के साथ हो ली और जेरुसलम को चल पड़ी। बीच रास्ते में समुद्र पड़ा; किंतु उसके पास इतनी रकम नहीं थी कि जहाज का किराया दे ! ऐसी परिस्थिति में उसने पैसे के स्थान में मल्लाहों के हाथ अपना शरीर सौंपा जब कि उसका सारा ध्यान, समग्र लगन जेरुसलम में स्थित असली क्रूश पर केन्द्रित थी। शारीरिक अपवित्रता उसके मन को कलुषित नहीं कर पायी। आगे चल कर वह वारनारियों की अधिष्ठात्री देवी मानी गयी।

ऐसी दशा में संत अगस्टाइन की उक्ति ठीक जँचती है—“कुमारी धर्म शरीर से सबद्ध है। प्रत्युत शालीनता और सदाचार आत्मा की वृत्ति है। इस लिये बलात् शरीर के अपवित्र कर दिये जाने पर भी सद्वृत्ति का विनाश नहीं होता। यतः आत्मा की तरह वह अविनश्वर है।”

सभी बातों पर विचार करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि जिस भावना द्वारा प्रेरित होकर, दूसरे शब्दों में जिस आदर्श को अपनाकर बेबीलोनिया, मिस्र, ईरान प्रमुख प्राचीन देशों की स्त्रियाँ धर्म की ओट में व्यभिचार करती थीं, उसी पर ध्यान देने की आवश्यकता है। प्रत्युत हम केवल बहिरंग पर दृष्टि देते हुए उसकी निन्दा करते हैं। फिर बहुत दिनों तक चालू रहने से कुल रीति-भाँत पर भ्रष्टाचार और पाखंड की छाप लग ही जाती है। चाहे कुछ हो इसमें कोई संशय नहीं कि इस प्रकार का व्यभिचार अवकाश के समय के दुरुपयोग का सजग उदाहरण था। अतः सर्वथा वर्जनीय है।

अवकाश के समय का सदुपयोग

अब हमारे सामने प्रश्न यह उठता है कि हमें अवकाश का समय कैसे बिताना चाहिये ? अवकाश के समय का दुरुपयोग करने का परिणाम कैसा भयंकर होता है इतिहास उसकी गवाही देता है । प्राचीन काल की बात यदि छोड़ दी जाय तो यदि हम अस्पताल, डाक्टरखाना, कचहरी, जेल और चरित्र सुधारने वाली आधुनिक संस्थाओं में जाँच पड़ताल करने का कष्ट करें तो देखने में आवेगा कि अवकाश के समय का दुरुपयोग करने के कारण ही बहुत से सीधे-सादे और अब्रूक्त मनुष्यों को वहाँ पहुँचने की नौबत आई ।

इसके विपरीत अवकाश के समय का सदुपयोग कर कुछ प्रतिभाशाली मनीषियों ने सारी मानव जाति का कल्याण किया है । इसके दृष्टान्त भी हमारे सामने उपस्थित हैं । ग्रेगर मेण्डेल नाम के एक उदासी मुनि ने अवकाश के समय का सदुपयोग कर पुरुषानुक्रम संबंधी सिद्धान्त का आविष्कार किया था; सुप्रसिद्ध डाक्टर होमस् ने अवकाश के समय बैठकर 'The Autocrat at the Breakfast Table' नाम के विख्यात ग्रंथ की रचना की थी; अध्यापक बेल ने छुट्टी के समय काम कर टेलिफोन का आविष्कार किया था; पादरी प्रीस्टल ने छुट्टी के समय आमोद प्रमोद करने के प्रसंग में आक्सिजन का आविष्कार किया था; अमेरिका का खेतिहर क्लाइड टोम् ने अवकाश के समय ज्योतिर्विद्या की चर्चा किया करता था; अचानक एक दिन वह फ्लूटो नाम के ग्रह का आविष्कार कर प्रसिद्ध हो गया । कहने का आशय यह है कि यदि चाहें तो अवकाश के समय का सदुपयोग कर हम भी कुछ ठोस काम कर सकते हैं ।

अवकाश के समय जो कुछ भी किया जाता है, उसका उद्देश्य सर्वदा धन कमाने का नहीं होता । अतः उसका पारितोषिक आत्म-संतोष और

मनोविनोद होता है। उदाहरण के लिए नृत्य-गीत, बागवानी, हाथ के काम इत्यादि प्रस्तुत किये जा सकते हैं। जब तक ये काम पैसा कमाने के लिये नहीं किये जाते तथा मनोरंजन के साधन माने जाते हैं तब तक तो वे अवकाश के समय की क्रियाशीलता कहे जायेंगे। किन्तु देखा जाता है कि कुछ लोग नृत्य-गीतादि दिखा-सुनाकर पैसा कमाते हैं। उनके लिये वे आजीविका बन जाते हैं। ऐसी दशा में कभी कभी देखने में आता है कि प्रवीण कलाचार्यों के हस्त-कौशल के सहारे उत्कट क्रियाशीलता ललित कला बन जाती है, तथा ललितकला क्रियाशीलता में खप कर सजीव बन जाती है। रंगमंच पर जब हम उदयशंकर को नाचते देखते अथवा उस्ताद अला-उद्दीन को सितार बजाते सुनते हैं, तब मंत्र-मुग्ध दर्शकों में से कितनों के मन में यह विचार उत्पन्न होता है कि निरन्तर साधना द्वारा उनकी क्रियाशीलता कला में लीन हो गयी है और अखण्ड परिपूर्णता को प्राप्त कर प्राणहीन कला की नस नस में प्राण फड़क रहे हैं! दूसरे शब्दों में धार्मिक साधना और उन्नततम कला में विशेष कोई अंतर नहीं।

तो आजीविका के प्रसंग में और मनोविनोद के लिये जो काम किये जाते हैं, उनमें व्यावहारिक दृष्टि से आकाश-पाताल का अंतर है। आजीविका के सिलसिले में जो क्रियाशीलता देखी जाती है वह पैसे कमाने के लिये की जाती है। प्रत्युत तबीयत बहलाने के लिए जो कुछ भी किया जाता है, उसका ऐसा कुछ निश्चित उद्देश्य नहीं होता। वहाँ तो क्रियाशील बने रहने के लिये काम किया जाता है। उपर्युक्त परिभाषा से यही निष्कर्ष निकलता है कि मनोविनोद के लिये जो काम किया जाता है उसकी प्रेरणा स्वतः आती है। किन्तु आजीविका से संबद्ध काम ऊपर से लादा जाता है। पुनः मनोविनोद के लिये जो काम किया जाता है उसका उद्देश्य प्रारंभिक दशा में बहुत स्पष्ट नहीं होता और न उसके करने वाले पर किसी प्रकार का दबाव ही डाला जाता है। इन बातों के होने के कारण आजीविका से संबद्ध काम-धंधे से मनोविनोद के लिए जो भी कुछ किया जाय, वह अधिकतर रोचक और प्रसादपूर्ण लगता है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि

निश्चित कोई उद्देश्य न होने के कारण, मनोविनोद से संबद्ध काम करते समय किसी प्रकार का मानसिक द्वंद अथवा प्रवृत्तियों की कशमकश नहीं मालूम होती। इसके विपरीत आजीविका से संपर्कित काम करने में कुछ आयास प्रयास की आवश्यकता होती है तथा उसके उद्देश्य के साथ काम करने वाले की सहानुभूति स्वभावतः कम होती है। इससे अन्तर्द्वंद का सूत्रपात होता है।

चाहे किसी भी दृष्टिकोण से क्यों न विचार किया जाय, मानव की चुस्ती, फुर्ती, कियाशीलता, अहंमन्यता प्रभृति सद्गुणों को बनाये रखने, स्वास्थ्य को बिगड़ने से रोकने तथा अपने व्यक्तित्व को विकसित करने के लिये सभी को अवकाश के समय कुछ न कुछ आमोद प्रमोद में लीन रहने की आवश्यकता है। यह तो सर्वमान्य बात है कि कोई भी मनुष्य निरंतर काम धधे में फँसा नहीं रह सकता। क्रीड़ा-कौतुक में भाग लेने से मानव को स्वल्पकाल के लिये अंतर्द्वंद, दबाव तथा आयास प्रयास करने से छुटकारा मिलता है। अवकाश के समय की विशिष्टता यह है कि करने वाले को काम चुनने और जब तक इच्छा हो, उसे करने की स्वतंत्रता होती है। अवकाश के समय की महत्ता इस विषय में है कि हमारा चरित्र उसी समय के बीच या तो बनता है अथवा बिगड़ता है। संभवतः काम काज में फँसे रहते समय चरित्र के बिगड़ने का उतना भय नहीं रहता, जितना अवकाश के समय व्यतीत करने के रंग-ढंग पर।

पुनः प्रायः देखा जाता है कि अमोद-प्रमोद के साधन और रोजी कमाने की परिपाटी एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। उदाहरण के लिये, कल कारखानों में काम करने वाले श्रमिकों की दशा पर तनिक दृष्टिपात किया जाय। उनसे निरंतर ८।६ घंटे एक ही प्रकार का काम लिया जाता है। वहाँ आधुनिक काल के जटिल कल पुर्जे चलाकर तथा सर्वदा आँख और उँगलियों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म पेशियों के सहारे लगबगे समय तक उन्हें काम करना पड़ता है। ऐसी दशा में स्वभावतः शरीर और मन से अवसन्न होकर, पैर घसीटता हुआ संध्या समय वह घर लौटता है। ऐसे मनुष्य की

निस्तेज और अलस नसों में फिर से जीवन-शक्ति भरने के लिये बनावटी आमोद प्रमोद की आवश्यकता है। यही कारण है कि श्रमिकों की बस्तियों में नशीले पदार्थ और कुत्सित और कुचिपूर्ण चित्रों की इतनी अधिक माँग है। इस प्रकार बनावटी आमोद प्रमोद में लीन होकर उन्हें भले ही तत्काल के लिये शारीरिक और मानसिक थकावट के हाथ से छुटकारा मिल जाय, किन्तु नशाखोरी और रुचि-विकार की प्रतिक्रिया अन्ततः उसके काम को प्रभावित करती है। कालान्तर में उसकी कार्य कुशलता पर वृद्धा लगता है। इस प्रकार कार्य कुशलता की प्रगति और मनोरंजन के साधनों की प्रकृति अन्योन्याश्रय हैं।

कार्यालयों में जो लोग दिन भर कलम घसीटते रहते हैं अथवा जो विद्यालयों में अध्यापक का काम करते हैं, साधारणतः वे या तो किसी के घर जाकर बैठक वाजी करते हैं, या शतरंज, ताश, चौपड़ आदि खेल कर अवकाश का समय व्यतीत करते हैं। निर्दोष होने पर भी इसका प्रभाव कालान्तर में उनके स्वास्थ्य पर पड़ता है और जवानी में ही वे बुढ़ा जाते हैं।

अपने अवकाश के समय का सदुपयोग करने के लिये यह परमावश्यक है कि लोग ऐसे किसी चसक के काम में लग जाँय जिससे उनका मन फुर्तीला बने तथा शरीर की भलाई हो। धंधे के प्रसंग में उन्होंने जिन जिन अंग-प्रत्यंगों का उपयोग किया है, भले ही तत्काल के लिये वे कुछ निस्तेज हो जाँय, किन्तु उनके अतिरिक्त और भी अवयव हैं। विराम के समय उनसे काम लेने की आवश्यकता है, जिससे वे सशक्त और क्रियाशील बने रहें। अन्यथा वे क्रमशः निस्तेज और अशक्त हो जायेंगे।

मानव प्रकृति नाना प्रकार की होती है। अतः सभी का मन एक प्रकार के साधन द्वारा बहलाया नहीं जा सकता। पुनः काम काज के अनुसार लोगों के मनोरंजन के साधनों की भी विभिन्नता होती है। अतः मानव समाज की इस माँग की पूर्ति के लिए भिन्न-भिन्न देशों में कालान्तर

में नाना प्रकार के मनोविनोद के साधनों का आविष्कार हुआ। इनमें शारीरिक व्यायाममूलक आमोद-प्रमोद जैसे खेल-कूद, जल क्रीड़ा, सैर प्रभृति लोक-प्रियता के विचार से सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। सभी वय के स्त्री-पुरुष मनोविनोद के ऐसे साधनों में भाग लेने के लिये लालायित रहते हैं। किन्तु अन्यान्य तत्परताओं में सम्मिलित होने से वे प्रायः हाथ खींचते हैं।

पाश्चात्य देशों में नागरिकों की जीवन-शक्ति बनाये रखने, स्वास्थ्य को अटूट रखने और अवकाश के समय का सदुपयोग करने की शिक्षा देने के लिये विद्यालयों तथा समाज की ओर से सैकड़ों सभा, समिति, संघ प्रभृति खोले गये हैं जहाँ अपनी-अपनी रुचि और प्रवृत्ति के अनुसार सभी वय की नर-नारी उनकी कार्यवाही में सक्रिय भाग लेकर अपने अपने जीवन को सार्थक बना सकती हैं। वहाँ बूढ़े भी जवानी को बनाये रखने के लिये लालायित रहते हैं। इसके विपरीत हमारे देश में जवान भी बूढ़ों जैसे वर्त्ताव करके समाज में बुजुर्ग बनने की चेष्टा करने में रस लेते हैं। नीचे पाश्चात्य देशों के आधुनिक समाज में प्रचलित मनोरंजन के साधनों की छोटी-सी सूची दी जा रही है।

शरीर संबंधी-फुट बाल, वासकेट बाल, वॉलीबाल, वैडमिण्टन, तीरन्दाजी, साइकिल यात्रा, गॉल्फ, मछलियों का शिकार, शिकार, टेनिस, कुश्ती, मुक्का-मुक्की, ताश, चौसर, डोमिनो, बरफ पर चलना, हाकी, तैराकी, बाहरी और की यात्रा, बिलियार्ड, पहाड़ पर आरोहण इत्यादि।

सामाजिक—सामूहिक नृत्य, लोक नृत्य, छुट्टी के दिनों का समारोह, सम्मेलन, पंक्ति भोजन, वन-भोजन इत्यादि।

आमोद-प्रमोद सम्बन्धी—नाटक, विचित्र सज-धज, गीताभिनय, चल-चित्र, सामूहिक यंत्र संगीत, रेडियो इत्यादि।

चसके से संबंधित—संग्रह, निर्माण, उपजाना, चित्रांकन, नये स्थानों का आविष्कार प्रभृति।

संग्रह नाना प्रकार की वस्तुओं का किया जा सकता है। सामान्यतः लोग ढाक के टिकट, फूल-पत्ती, कीड़े-मकोड़े, सलाई-सिगरेट की डिब्बियाँ

प्रभृति का संग्रह करते हैं। सम्राट् अकबर ने घड़ियों का एक विचित्र संग्रहालय बनवाया था। तख्तौर के शासकों ने हस्त-लिखित पोथियों का एक विराट् ग्रन्थालय स्थापित किया था। उसी प्रकार राजपूताने के किसी शासक के यहाँ प्राचीन शस्त्रास्त्र का अनोखा संग्रह है। ईंट, पत्थर, लकड़ी, धातु, कागज प्रभृति कच्चे पदार्थ से सुन्दर-सुन्दर द्रव्यों की रचना करने का नाम निर्माण दिया गया है। बागवानी के प्रति जिनकी अनुरक्ति है वे अपने उद्यान में नाना प्रकार के फल-फूल उत्पन्न कर सकते हैं।

पाश्चात्य देशों में प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वास्थ्य, शरीर के संगठन, आजीविका तथा मन के स्वाभाविक झुकाव इत्यादि को ध्यान में रखते हुये अपने लिये मनोरंजन के साधनों का चुनाव करता है तथा उसके लिये समय भी नियत कर देता है।

कल-पुजों के आविष्कार के साथ-साथ पाश्चात्य समाज के सभी वर्ग के सदस्यों पर बलात् जो अवकाश के समय की प्रचुरता लद गयी है, उसके कारण वहाँ के शिक्षा-शास्त्रियों में बड़ी बेचैनी फैली हुई है। इस समस्या के समाधान के लिये उन्होंने “अवकाश के समय की शिक्षा” (Education for leisure) नाम का एक आन्दोलन खड़ा कर दिया है, जिससे उस समय का दुरुपयोग न हो और अन्ततः जाति का नैतिक अधःपतन न हो। मिल मालिकों ने कारखानों के तत्वावधान में श्रमिकों का मन बहलाव के लिये पुस्तकालय, खेल-कूद और नृत्य-गीत का प्रबंध करने के अतिरिक्त रचनात्मक काम सिखाने के विद्यालय प्रभृति खोले हैं, जिससे स्वास्थ्योन्नति के साथ-साथ काम-धंधे के बोझ से दबी और पिसी हुई श्रमिकों को आत्मा सर्जन रूपी क्रियाशीलता से उत्पन्न निर्मल आनन्द प्राप्त कर, आत्म-सम्मान ज्ञान को उभारते हुए धार्मिकता की ओर अग्रसर होवे। परन्तु मिल-मालिकों की इस कार्यवाही में कुछ व्यावसायिक गंध है। अन्ततोगत्वा उनका यही उद्देश्य होता है कि चाल-चलन के सुधार के साथ-साथ श्रमिकों की कार्य-कुशलता और तत्परता की अभिवृद्धि होगी जिससे उत्पादन की बढ़ोतरी हो। अतः इस प्रकार की कार्यवाही में कुछ स्वार्थ की महक है।

पाश्चात्य देश के विद्यालयों में विद्यार्थियों को पाठ्य-क्रम के अनुसार शिक्षा देने के अतिरिक्त प्रत्येक का स्वाभाविक रुचि पर विशेष ध्यान देते हुए उनको छोटे-छोटे दलों में विभक्त कर दिया जाता है। प्रत्येक टुकड़ी का नाम समिति या सभा रख दिया जाता है। एक-एक विद्यालय में इस प्रकार की पचासों सभा और समितियाँ होती हैं। अध-खिले साहित्य प्रेमियों के लिये साहित्य सभा, पुस्तकालय संबंधी सभा, पुस्तक प्रेमियों की समिति, पाठक संघ, पौराणिक सभा, छोटी कहानियों के रचने वालों की जमायत प्रभृति होती हैं। उसी प्रकार जिन नवयुवकों की प्रवृत्ति व्याख्यान देने अथवा वाद-विवाद करने की ओर होती है, उनकी टुकड़ी का नाम भाषण-दाताओं का संघ अथवा तार्किक गोष्ठी होता है। गवैये और नचवैयों की अलग सभा होती है, नाट्य कला प्रेमियों की अलग बैठक होती है। उसी प्रकार व्यापार, उद्योग-धंधे, विज्ञान, गृह-विज्ञान, ललित कला, पत्रिका प्रभृति का सम्पादन और प्रकाशन से संबंधित बहुत सी छोटी-छोटी समितियाँ होती हैं।

इन सभाओं के होने से, विद्यालय के पाठ्य-क्रम से संबद्ध न होते हुए भी नई-नई विद्या और कलाएँ, जिनमें विद्यार्थियों की स्वाभाविक रुचि हो, उन्हें सीखने का सुयोग मिलता है; सदस्यों के मनमें सामाजिकता की भावना उत्पन्न होती है तथा अवकाश के समय निर्दोष आमोद-प्रमोद में सक्रिय भाग लेकर उसे व्यतीत करने की शिक्षा मिलती है। बहुतों का अनुभव होगा कि बच्चों के हृदय में विद्यालय में पढ़ते समय जिन-जिन अनुरक्ति या विरक्ति, अच्छाई और बुराई, भली तथा ओछी आदतों की नींव पड़ती है आमरण वे उन्हें निभाते जाते हैं।

पाश्चात्य देशों में मध्यम श्रेणी के अधिकतर पुरुष आजकल प्रति-योगितामूलक खेल देख, या स्वयं गॉल्फ़ इत्यादि खेल कर, बगीचे में थोड़ा बहुत काम कर, समाचार पत्र पढ़कर और आवागरी करके अपने अवकाश का समय बिता देते हैं। उधर स्त्रियाँ प्रायः महिला मजलिसों में गप-शप कर, घासलेटी उपन्यासादि पढ़, चल-चित्र देख और ताश खेल कर अवकाश का

समय बिता देती हैं। ऐसी दशा में न पुरुष और न स्त्रियाँ ही अपने अवकाश के समय का सदुपयोग करती हैं। उनका न तो कोई लक्ष्य होता है, न करने योग्य कोई काम होता है, न आत्मोन्नति करने की कोई प्रेरणा होती है और न उच्चाशा की पूर्ति की कोई उत्कट अभिलाषा ही होती है। येन केन प्रकारेण वे अपने अवकाश का समय गँवा देते हैं। इससे स्त्री और पुरुष, किसी को विशेष लाभ नहीं पहुँचता। तथापि इस प्रकार से समय काटने की पद्धति को कदाचित् अवकाश के समय का सदुपयोग कहा जा सकता है—यद्यपि इसे सरासर दुरुपयोग कहना भी युक्ति संगत न होगा।

इस कमी के लिये उत्तरदायी मुख्यतः अधूरी स्कूली शिक्षा है, वयस्क व्यक्तियों के मनोविनोद के लिये समाज में साधनों की न्यूनता तथा चलचित्र प्रमुख व्यापारिक आमोद प्रमोदों की मनोहर प्रचार पद्धति।

फिर भी देखा जाता है कि कुछ वयस्क व्यक्ति नाना प्रकार के चसके का काम करके अवकाश के समय का सदुपयोग करते हैं। अपितु ऐसे व्यक्ति जिनकी प्रतिभा बहुमुखी है, वे अवकाश का समय सुष्ठु रीति से व्यतीत करने के लिये एक साथ ३-४ चसके के काम हाथ में लेते हैं। बहुतो का अनुभव होगा कि वयोवृद्धि के साथ-साथ खेल-कूद में सक्रिय भाग लेने की रुचि क्रमशः घट जाती है तथा जो काम बैठे-बैठे किया जा सकता है, उसमें अधिक अनुरक्ति होने लगती है। अधिकतर लोग अवकाश के समय लिखने पढ़ने में व्यतीत कर उसका सदुपयोग करते हैं। परन्तु जिसने जितना समय विद्यालयों में बिताया है, उसी पर यह रुचि निर्भर है। अपढ़ अथवा स्वल्प शिक्षित व्यक्तियों का पढ़ने लिखने से प्रेम नहीं हो सकता। उसी प्रकार विश्वविद्यालयों के संसर्ग में आये हुए व्यक्तियों का पठन-पाठन से स्वभावतः अधिक प्रेम होता है। ऐसे मनुष्य आवारगी करके समय नहीं बिताते।

सब कुछ विवेचन करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि अन्ततो-गत्वा अवकाश के समय बिताने का सर्वोत्तम साधन पढ़ने का अभ्यास है और आमरण यह अभ्यास जारी भी रखा जा सकता है। अतः भिन्न-भिन्न रुचि के पाठकों का मन बहलाने के लिये साहित्य की सर्वतोमुखी उन्नति करने

की आवश्यकता है। सरकार या समाज की ओर से जगह-जगह पर वाचनालय तथा ग्रंथागार प्रभृति खोलने की आवश्यकता है तथा बाल्यावस्था ही से बालकों में बाहरी पुस्तकों के पढ़ने के प्रति रुचि उत्पन्न करने की आवश्यकता है। प्रारंभिक दशा में यदि सुकुमार मति बालकों के हाथ में कठोपनिषद् सरीखी पुस्तकें ठूस दी जायें तो उनके मनमें पढ़ने से अनुरक्ति होने के स्थान में विरक्ति होने की ही संभावना है। इसलिए बालोपयोगी साहित्य को समृद्ध बनाने की भरपूर चेष्टा करने की आवश्यकता है। हमारे देश में इसकी बड़ी कमी है। बचपन में ही यदि बालकों के हृदय में बाहरी पुस्तक पढ़ने की रुचि का बीज बो दिया जाय तो जड़ जमने के बाद कालान्तर में वह बरगद के पेड़ के समान अपना स्नेह-सिंचित अंचल दूर-दूर तक पसार कर जीवन-यात्रा की संकट में फँसे हुए तृषित, तापित जीवों को निरंतर शांति देता रहेगा।

ऊपर अवकाश के समय का सदुपयोग और दुरुपयोग करने के विषय पर जो विशद विवेचन किया गया है, उससे यही निष्कर्ष निकलता है कि—

(अ) काम-धंधे और आमोद प्रमोद में मूलतः कोई अंतर नहीं है। एक ही डंठल में खिले हुए दो फूल जैसे वे मानव मात्र की क्रियाशीलता के भिन्न-भिन्न पहलू हैं,

(आ) लोक-तंत्रात्मक शासन के दिनों जीवन का उपभोग करने के लिये रुचि बहुमुखी बनानी चाहिये। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये हमारे शिक्षा-क्रम को उदार और प्रशस्त बनाने की आवश्यकता है जिससे शरीर और मन दोनों की पुष्टि हो;

(इ) काम-धंधे और आमोद-प्रमोद का ऐसा सामंजस्य होना चाहिए कि वे एक दूसरे के परिपूरक बनें;

(ई) विद्यार्थी जीवन में ही बच्चों को जीवन का उपभोग करने की शिक्षा देनी चाहिये, जिससे पाठ पढ़ते समय वे खेल कूद का मजा लूटें और खेलते समय उनकी शिक्षा की परिपाटी बिगड़ने न पावे। वयः प्राप्त होने पर ऐसे बालक ही दुर्लभ मानव जीवन का स्वाद चख सकते हैं।

पुस्तक समाप्त करने के पहले केवल इतना ही कहना है कि ऊपर जिन सिद्धान्तों और विचारों की चर्चा की गयी है वे बीसवीं शती के आविष्कार हैं, जब मानव समाज परिपूर्णता और अनब्रयता की ओर दिन दूना और रात चौगुना अग्रसर हो रहा है। प्राचीन काल में समग्र संसार में मनोविनोद का विशुद्ध अर्थ मौज लूटना था। आनंद को निर्बाध और स्वतः स्फूर्त बनने के लिए संभवतः जान बूझ कर उद्देश्य के रूप में उसके साथ कोई पुछला नहीं जोड़ा जाता था। किन्तु आधुनिक काल में हमारा जीवन-यात्रा-पद्धति जैसे-जैसे जटिल बनती जाती है, उसी अनुपात में हमारे आनंद मनाने के ढंग पर भी बड़ा लगना स्वाभाविक है। इसी का नाम आधुनिक काल की शिष्टता है, जो हमें दिल खोल कर हँसने से भी रोकती है। शिष्टा-प्रद विषयों की चर्चा कर अवकाश के समय का सदुपयोग करने का सुझाव भी इसी शिष्टता की देन है। इसका परिणाम भला होगा या बुरा, यह कहना बड़ा कठिन है। किन्तु प्रत्यक्ष फल जो कुछ भी दीख पड़ता है, वह है लोगों की जीवन-शक्ति का हास। शरीर के दुर्बल, मन की मरी रियाया की सेवा के लिये आधुनिक काल की सरकार खाने-कपड़े का प्रबन्ध न कर टी० बी० आरोग्यशालाएँ खोल कर अपने कर्तव्य का पालन कर रही है। उधर निर्बाध आमोद-प्रमोद का जो विषमय फल होता है, उसका कटु अनुभव भी हमें है। ऐसी विकट परिस्थिति में कौन दृढ़ता के साथ कह सकता है कि अमुक पथ हमारी नव-पीढ़ी की युवक-युवतियों के लिए हितकर होगा ! निश्चयपूर्वक कौन बतावे कि प्राचीन काल के मानव समाज की अबाध-जीवन-यात्रा-पद्धति अच्छी थी, अथवा आधुनिककाल की निष्प्राण, चेतना-शक्ति-हीन, श्वासोच्छ्वास करते हुए मात्र प्राण-धारण करने की क्रिया ही अच्छी है ? हमारे दाहिने तो धधकती हुई आग की ज्वाला है और बाएँ उमड़ते हुए महासिन्धु का अथाह सलिल ! ऐसी दशा में बुद्धिमान् व्यक्ति सामान्यतः ऐसी राह अपनाते हैं जिसमें विपत्ति का मात्र अपेक्षाकृत कम हो।

